योगिक-स्वास्थ्य-शास्त्र

तथा

अध्यात्मिक विकाश

शारीरिक रचना के २१, आसनों के ७७,

तथा प्राणायाम के ५ चित्रों सहित।

प्रकाशदेव

प्रथमावृत्ति ५००] १९३४ ई० [मूल्य ७॥)

मिलने का पताः—हिन्दू विद्यार्थी सभा, ४ लोअर माल, लाहौर

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

Surely body is the primary requisite of Dharma.

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धः स धर्मः

Dharma is that from which result all round development, peace and harmony.

आचारः परमोधर्मः

Character is the Highest Dharma.

جے ہند

جے ہند میرا قومی نعرہ

समर्पण

तथा

अध्यात्मिक उन्नति

के

आभिलाषी जनों की सेवा में

आवश्यक निवेदन

मैंने १९३० ई० में योग के विषय पर हिन्दी में पुस्तक छपवाने का सङ्कल्प करके, यथा-अवकाश अपने विचारों को लेखबद्ध करना आरम्भ किया, १९३१ ई० में मैंने १०० पृष्ठों के लगभग हस्तलेख लिख कर समाप्त किया, और विचार था, कि अधिक से अधिक २०० पृष्ठ में यह पुस्तक समाप्त हो जायेगी, इसके लिये आसनों के फ़ोटो तथा बुलाक बनने आरम्भ हुये, और साथ ही कुछ मित्रों के आग्रह पर मैंने एक छोटी सी पुस्तक इसी विषय पर अङ्गरेजी में लिखनी आरम्भ करदी, और यह पुस्तक "Yoga as the system of physical Culture" के नाम पर १९३२ के आरम्भ में छप कर तैय्यार हो गई, जिस ने कि विना मेरे विशेष प्रयत्न करने के जनता में अतीव प्रसिद्धि प्राप्त की, उस समय विचार था कि हिन्दी की पुस्तक भी १९३२ के अन्त तक छप जायगी, किन्तु इसके फ़ोटो तथा बुलाक बनने में ही एक वर्ष व्यतीत होगया, और जनवरी १९३३ में हिन्दी की पुस्तक छपनी आरम्भ हुई, इस समय जो हस्तलेख तैय्यार था वह छपने लगा, और साथ ही मैंने यथावकाश आगे लिखना आरम्भ किया, और पुस्तक धीरे २ छपती हुई, जनवरी १९३४ में ४०० पृष्ठ पर समाप्त हुई, इस पुस्तक की हिन्दी तथा अङ्गरेजी आवृत्ति के लिये हिन्दुस्थान तथा पश्चिमी देशों के बीसियों आर्डर गत वर्ष के आये हुये हैं, जिनकी पूर्त्ति उक्त कारणों से, अभी तक नहीं हो सकी, अब इस का अङ्गरेजी अनुवाद भी आशा है, कि थोड़े मास में तैय्यार हो जायगा।

इस पुस्तक को तैय्यार करने में मैंने कई पूर्वी तथा पश्चिमी विद्वानों की शारीरिक रचना तथा योग विषयक पुस्तकों की सहायता ली है, जिस के लिये मैं उनका अतीव कृतज्ञ हूँ। प्रकाशदेव

विषय-सूची

क्रियात्मिक योग

चित्र-सुचीपत्र

आवश्यक-सूचना

लाहौर में हिन्दू-विद्यार्थी सभा की ओर से "योग" की शिक्षा के लिये 'योगिक-आश्रम' प्रचलित है, जिस में प्रत्येक जाति तथा देश के लोग लाभ प्राप्त कर सकते हैं, जो इस में प्रवेश करना चाहें, वह इस के नियम निम्न-लिखित पते से प्राप्त कर सकते हैं, जो लोग केवल शारिरिक उन्नति के लिये "योगिक व्यायाम पद्धति" को सीखना चाहें, उनके लिये छे मास से एक वर्ष तक शिक्षा की आवश्यकता है, जो इस में निपुणता प्राप्त करके दूसरों को इस की साधारण शिक्षा देना चाहते हों, उन के लिये एक वर्ष की, जो "योग" विशेष ज्ञान प्राप्त करने के अभिलाषी हों उनके लिये पांच वर्ष की, और जिन की इच्छा साथ ही अध्यात्मिक पक्ष में भी सफलता प्राप्त करने की हो, उनके लिये कम से कम दस वर्ष की शिक्षा तथा क्रियात्मिक अभ्यास की आवश्यकता है।

रोगियों के लिये भी यथा-संभव 'योग' द्वारा इलाज करने का प्रबन्ध है।

इस के अतिरिक्त जो जन आश्रम को किसी प्रकार की धन इत्यादि के रूप में, अथवा जीवन द्वारा सहायता करना चाहें, वह भी सभा को कृतार्थ कर सकते हैं।

सरदारीलाल वोहरा बी. ए.

मन्त्री, योगिक-आश्रम

हिन्दू-विद्यार्थी सभा ४ लोअर माल, लाहौर।

विषय-प्रवेश

मनुष्य समाज में सब प्रकार के मानसिक विकास (Mental observations), साम्प्रदायक व जातीय संघर्षण (Religious and communal struggles) वा राजनैतिक तथा आर्थिक आन्दोलन(Political as well as Economical agitations) चाहे किसी भी रूप में हों और इन को किसी नाम, भाव व प्रकार से संसार में स्थान दिया जा रहा हो। यदि सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि यह सब प्रपञ्च शरीर यात्रा की सफलता के निमित्त ही हैं, परन्तु मनुष्य समाज जितना २ राष्ट्रीय तथा जातीय भावों में उन्नति करता हुआ और मानसिक शक्तियों के अद्भुत परिणाम से जगत् को चकित करता हुआ सभ्यता की मानो पराकाष्ठा पर पहुंच रहा प्रतीत होता है, उतना २ ही मनुष्य शरीर निर्बल तथा रोगग्रस्त होता हुआ धीरे २ मृत्यु द्वार में प्रवेश करने का साधन बन रहा है, जिस के लिये संसार के मनुष्यों की शारीरिक अवस्था स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण है। केवल अभागे और प्रतन्त्र भारत वर्ष की ही यह अवस्था नहीं, प्रत्युत संसार के बड़े २ स्वतन्त्र देशों की भी यही दशा है, किन्तु भारत वर्ष तो इस दौड़ में सब से अग्रगामी दिखाई पड़ता है।

यह बात भी स्वतः सिद्ध है कि कोई भी जन यह नहीं

चाहता कि उस का शरीर दुर्बल हो और व्याधियों का घर बने, या उस के परिवार के लोग रोगों से पीडित हों, साथ। ही रोगियों की सहायता के लिये डाक्टरों, वैद्यों और हकीमों की संख्या भी दिन प्रतिदिन अधिक से अधिक हो रही है और रोगों की रोक थाम के लिये राज्य प्रबन्ध भी प्राय: स्थान स्थान पर दृष्टिगोचर होते हैं, इसके अतिरिक्त भी मनुष्यों में व्याधि, अल्प आयु और अकाल मृत्यु की गति दिन प्रतिदिन बढ़ती चली जाती है। इस बढ़ते हुये प्रवाह को कैसे रोका जाय और शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा कैसे हो सके, जिस से मनुष्य निरोगी रहता हुआ हृष्टपुष्ट शरीर सहित पूर्ण आयु को आनन्द पूर्वक भोग सके। इस विषय पर अनेकों महत्वपूर्ण पुस्तकें पूर्वीय तथा पश्चमीय विद्वानों की संसार में विद्यमान हैं, जो संसार की वर्तमान सभ्यता में लीन और इसके मनोहर तथा मोहिनी रूप से मोहित हुए २ हृदयों को मुक्तकण्ठ से संदेश दे रही हैं कि "प्रकृति के मायायुक्त रूप से आकर्षित हुए २ भद्रजनों! सावधान हो जाओ, सोचो, विचारो और देखो कि तुम कहां हो? अशान्तमय और दुःखस्वरूप जगत में शान्ति, सुख तथा आनन्द की तलाश करने वालो! शारीरिक बल, शक्ति, स्वास्थ्य और आयु को धीरे २ नाश व पतित करनेवाले मनोरञ्जक विषयों में शारीरिक सुख की तलाश करनेवाले स्त्री पुरुषो! आओ हम बताएं कि असली सुख कहां है"। परन्तु संसार की दौड़ धूप में लगे हुए और जीवन यात्रा के संघर्षण में कटिबद्ध बुद्धि प्रधान (Rational) प्राणियों को इतना समय कहां कि वह उधर

कुछ ध्यान दे सकें, सामान्य आयु सौ वर्ष से घटते २ कितनी भी कम होती जाये और वह भी भिन्न २ प्रकार के रोगों तथा व्याधियों में ग्रस्त रहे, संतान दिन प्रतिदिन निर्बल से निर्बल होती जाये, सैंकड़ों और सहस्रों बालक अल्प से अल्प आयु में यमराज की गोद में भले ही चलते जायें, किन्तु इतना अवकाश कहां कि इस प्रकृति देवी के प्रलोभनों से समय निकाल कर इस ओर कुछ ध्यान दे सकें और रमणीय क्रीडाओं तथा शृङ्गाररस युक्त दृश्यों से प्रभावित चित्त को इस ओर लगा सकें।

इस उदासीनता का कारण क्या ? क्या लोग चाहते हैं कि वह रोगों और व्याधियों में ग्रस्त होकर दुःख भोगें ? नहीं कदापि नहीं। तो फिर क्यों स्त्री व पुरुष दुःख की इच्छा न करते हुए भी दुःखी हैं ? अनुभव से पता चलता है कि इस का कारण यह वर्तमान शिक्षा प्रणाली या वह संस्कार हैं जो जन्म से लेकर बालकों तथा युवकों के चित्त पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। अथवा वर्तमान सभ्यता जिसने कि शारीरिक सुखों के बाह्य साधनों को प्राप्त और संचय करने में ही केवल मनुष्यों को प्रेरित कर रखा है, तथा वह संघर्षण जो कि जीवन यात्रा के लिये लोगों को निरन्तर करना पड़ता है, जिस से इन को स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने के लिये समय मिलना ही कठिन प्रतीत हो रहा है। परन्तु इस सब शोचनीय अवस्था के उत्तरदायी वह लोग हैं, जिनके हाथ में राष्ट्रीय शिक्षा तथा राज्य प्रणाली की बाग डोर है, जो मनुष्य

समाज में श्रेष्ठ, नेता तथा पूज्य माने जाते हैं, और माता पिता जो भावि सन्तान के केवल जन्मदाता ही नहीं प्रत्युत उनकी आयु, स्वास्थ्य, बल और संस्कारों के निर्माता भी हैं, मनुष्य का आत्मा ही सन्तान के रूप में पैदा होता है, आज का बालक कल का युवक और आज का युवक कल का पिता है, वह उस आत्मा को संसार में लाने वाला है जिसके हाथ में भूत और भविष्य का बिगाड़ तथा सुधार है, जिसके आधीन है कि वह किस प्राणी को संसार में उपस्थित करने का कारण और साधन बनना पसन्द करता है। यदि वह युवक चाहता है कि उस का शरीर मरण पर्यन्त निरोगी तथा हृष्ट पुष्ट रहे, यदि उस की इच्छा है कि उसकी सन्तान भी वैसी ही स्वास्थ्य सम्पन्न हो, तो उसका क्या यह कर्तव्य नहीं है कि वह उन नियमों को जानता हुआ उन का पालन करे जो उसको सच्चे अर्थों में माता तथा पिता बनने के योग्य बना सकें ? और जो माता तथा पिता की श्रेणी में प्रवेश कर चुके हैं, क्या उन को इस बात की आवश्यकता नहीं कि वह इस बात की खोज करें कि कैसे उनकी सन्तान अधिक से अधिक निरोगी और चिरञ्जीवी हो ? यदि पशुओं की अच्छी नसल पैदा करने के लिये कुछ विशेष नियम हैं, यदि वृक्षों में उत्तम फल कैसे पैदा हों, इस ज्ञान की आवश्यकता है,और यदि धान्य इत्यादि पैदा करने के लिये कुछ प्रकृति के उपयोगी नियमों का अनुकरण करना पड़ता है, तो सन्तान पैदा करने से पहिले, सन्तान पैदा करने के नियमों को जानना और पालन करना क्यों इस से भी अधिक आवश्यक नहीं ?

जगत् की दौड़ धूप, नौकरी तथा व्यापार, पठन पाठन और जीवन संग्राम, जिस देह के विना असम्भव हैं, उसकी स्वास्थ्य रक्षा पर विचार करने के लिये मनुष्य को अवकाश नहीं मिलता। डाक्टरों की शरण में महीनों व्यर्थ खर्च करना और रोग शय्या पर प्रायः पड़े रहना तो हम स्वीकार करते हैं,परन्तु इन से मुक्त होने के लिये शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा के निमित्त नित्य कुछ समय लगाना दुष्कर और असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु जो स्वास्थ्य रक्षा के लिये नित्य समय नहीं निकाल सकते उन को कई गुणा समय व्याधि इत्यादि की भेंट करना पड़ता है, और वह यमराज की गोद में शीघ्र से शीघ्र जाने के लिये रोगों को नित्य स्वयं निमन्त्रण देते हैं, कभी उनको अजीर्ण है तो कभी जुकाम, आज सिर दर्द है तो कल ज्वर का आक्रमण, कबज़ी तो प्रायः कभी पीछा छोड़ती ही नहीं, इसप्रकार वह मृतवत् जीवन व्यतीत करते हैं,वह स्वास्थ्य को पैसों और रुपयों से ख़रीदना चाहते हैं,आज एक औषधि का सेवन करते हैं तो कल दूसरी का,परंतु स्वास्थ्य को कोई औषधि कहां स्थिर रख सकती है और व्याधि के मूल कारण को कैसे दूर कर सकती है ? स्वास्थ्य ऐसी वस्तु नहीं जो ख़रीदी जा सके। इसको केवल वही प्राप्त कर सकता है जो स्वास्थ्य रक्षा के नियमों को जीवन में धारण करके उनका ठीक ठीक प्रयोग करे, स्वास्थ्य का मूल्य यथायोग्य प्रयत्न और पुरुषार्थ है, इसकी स्थिरता देश काल तथा अवस्था [Environments and circumstances] की अनुकूलता पर निर्भर है। माता

पिता के जीवन, शिक्षा प्रणाली और संस्कारों का, इस पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

इस अवस्था में यदि यह पुस्तक पाठकों में शारीरिक रक्षा के लिये कुछ भी परिवर्तन करने में सहायक हो सके तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

इस पुस्तक के लिखने में मैंने यत्न किया है, कि शारीरिक रचना के विषय में कठिन २ पारिभाषिक (technical) शब्दों और विस्तृत व्याख्या को यथा सम्भव परित्याग करते हुए सरल शब्दों में संक्षेप से वर्णन किया जाय, ताकि अधिक से अधिक संख्या में जनता के लिए उपयोगी हो सके। इस विषय पर लेखनी उठाने से पहिले मैंने इस बात की खोज लगाने और स्वयं अनुभव करने में कि मनुष्य का शारीरिक स्वास्थ्य कैसे सुरक्षित रह सकता है, अपनी आयु का एक विशेष भाग अर्पित किया है, और जो बातें मुझे अपने अनुभव तथा स्वाध्याय से उपयोगी सिद्ध हुई हैं उनको ही इस पुस्तक में लिखने की चेष्टा की है।

मुझे १९१४ ईस्वी के लगभग पातञ्जल योग शास्त्र का स्वाध्याय करने का अवसर प्राप्त हुआ,जिसको मैंने मनुष्यों के लिए अत्यन्त उपयोगी समझा, किन्तु उस का जो महत्व मैं आज अनुभव कर रहा हूं, उस समय मुझे ज्ञात नहीं हुआ। यद्यपि मैं उसकी कई बातों से सहमत नहीं, तथापि उसका विशेष और अधिकांश मेरे लिए माननीय है। हठयोग जोकि पातञ्जल योग से पृथक समझा जाता है और जिसको मैंने हानिकारक

समझते हुए पढ़ने का कभी भी विचार नहीं किया था, जब १९२२ ईस्वी में मुझे अकस्मात् हठयोग प्रदीपिका पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो मेरे विचार में एक महान् परिवर्तन हुआ और इस विषय में अन्य पुस्तकें पढ़ने की रुचि हुई, मैंने योगसोपान तथा घेरण्ड संहिता इत्यादि का स्वाध्याय किया जिससे मुझे पता लगा कि पातञ्जल शास्त्र के आसन तथा प्राणायाम इत्यादि के विषय में हठयोग के आचार्यों का अनुभव बहुत सी नयी और महत्व पूर्ण बातों को बताता है, जो मनुष्य समाज के लिए अत्यन्त लाभकारी हैं, इनमें भी मुझे कुछ ऐसी बातें प्रतीत हुई जिनको मेरी बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकी, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आसन व प्राणायाम का जिस योग्यता तथा विस्तार से हठयोग में वर्णन है, वह हमें पातञ्जल शास्त्र में नहीं मिलता। आन्तरिक शुद्धि के साधन नेति, बस्ति, नौलि, धौति और उड्डियान बंध इत्यादि को तो पातञ्जल शास्त्र ने स्पर्श भी नहीं किया, यह कहां तक मनुष्यों के लिए लाभदायक या हानिकारक हो सकते हैं, इसका वर्णन अपने अनुभव अनुसार आगामी पृष्ठों में वर्णन करने का यत्न करूंगा।

योग व्याधि तथा वृद्धावस्था का नाशक

योगशास्त्र को विद्वानों ने कई शाखाओं में विभक्त किया है यथा पातञ्जल अथवा राजयोग, हठयोग, कर्मयोग, भक्ति योग इत्यादि। मेरा उद्देश्य इस पुस्तक में यथाशक्ति मनुष्य जीवन के लिए सामान्यतः योग की उपयोगिता को प्रकट करना है। परन्तु योग के विषय में इस समय प्रायः सर्वसाधारण तथा विद्वानों के मन में कई भ्रान्ति मूलक विचार उत्पन्न हो रहे हैं। जिसका अनुभव मुझे उस समय हुआ जब सन् १६२७ ईस्वीमें मैंने हिन्दू विद्यार्थी सभा लाहौर की ओर से उसकी शाखा के रूप में योगिक शारीरिक रक्षा विभाग स्थापन करके विद्यार्थियों में इसका विशेष प्रचार करना आरम्भ किया, और भिन्न २ स्थानों में पञ्जाब तथा इससे बाहिर भिन्न२ स्कूलों,कालिजों और जनता में मुझे इस विषय पर व्याख्यान देने का अवसर प्राप्त हुआ और उनकी सङ्गति में कई प्रकार के अनुकूल तथा प्रतिकूल विचारों को श्रवण करने का समय मिला, उन लोगों के विचार में "योग केवल उन विशेष व्यक्तियों के लिए है जिनका गृहस्थ से कोई सम्बन्ध न हो, योगी वह है जो जलपान इत्यादि का त्याग करके श्वास को रोककर मनुष्य समुदाय से पृथक किसी निर्जन स्थान में गुफा बनाकर वहां समाधि लगाकर बैठा रहे। योग मनुष्य को सन्तान उत्पन्न करने के असमर्थ बना देता है।

इसके अभ्यास से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं, प्रत्येक जन के लिए इसका ठीक २ अभ्यास करना असम्भव है, इस से मनुष्य पागल हो जाता है, अकाल मृत्यु शीघ्र ही उसको यमपुरी पहुंचा देती है, हठ-योग की क्रियायें प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल हैं, मनुष्य के अभ्यास में भूल हो जाने के कारण लाभ के स्थान में हानि हो जाती है इत्यादि।" परन्तु मेरे पांच वर्ष के क्रियात्मिक रूप अनुभव (practical experience) से मुझे सिद्ध हुआ है कि योग अत्यन्त लाभकारी, व्याधि और वृद्धावस्था को नाश करने वाला और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का एक मात्र साधन है, यह सब के लिए उपयोगी और लाभदायक है चाहे वह गृहस्थी हो वा गृहस्थ रहित, स्त्री हो व पुरुष, किसी भी अवस्था तथा आयु का हो, योग किसी के लिऐ भी हानिकारक नहीं, प्रत्युत संसार में जितना दुःख, कष्ट, रोग तथा अकाल मृत्यु है, वह सब योग का यथोचित ज्ञान न होने और उसके नियमों का अनुकरण न करने के ही कारण हैं, योग एक मात्र श्वास इत्यादि रोकने का नाम नहीं, योग तो प्रत्येक मनुष्य को उसकी आयु तथा अवस्था के अनुसार जीवन व्यतीत करने की यथार्थ शिक्षा देता है, उसका आचार व्यवहार किस प्रकार का होना उचित है, यह योगशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है, किन्तु परिणाम यदि इसके विरुद्ध हो तो समझना चाहिए कि यह योग नहीं योगाभास है, अथवा हमारी अपनी भूल का फल है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम भूल हो जाने के भय से योग का अभ्यास करना

ही व्यर्थ समझें । प्रायः सब जीवों को व्याधि तथा मृत्यु उनके खाने, पीने और श्वास इत्यादि में भूल के कारण होती है, किन्तु इससे वह इनका त्याग नहीं कर देते । योग तो इनसे भी आवश्यक है, क्योंकि यह हमको खाने, पीने तथा श्वास लेने इत्यादि की ठीक २ विधि बताता है, जिसके जाने बिना हम विविध प्रकार के कष्ट सहन करते हैं । निम्नलिखित प्रमाणों से पता चलता है कि योग के आचार्यों ने इसी उद्देश्य को लेकर योग शास्त्र की रचना की है:—

योगशास्त्र के पात्र तथा अधिकारी:—

ब्राह्मण क्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम् ।
शान्तये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥ योगसोपान ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, तथा पुरुषों को पवित्र करने तथा उनकी रक्षा करने, कर्मों से उत्पन्न होने वाले दुःखों को शान्त करने तथा उनसे मुक्त करने के लिए योग से बढ़कर दूसरा कोई शास्त्र नहीं ।

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वं योगेष्वतंद्रितः ॥

॥ हठ योग प्रदीपिका ॥

युवक, वृद्ध, अति वृद्ध, रोगी अथवा निर्बल, चाहे कोई भी हो, आलस्य को त्याग कर योग की क्रियाओं का अभ्यास करने वाला सिद्धि को प्राप्त करता है ।

योग की महिमा :—

नास्ति माया समः पाशो नास्ति योगात्परं बलम् ।
नास्ति ज्ञानात्परो बन्धु र्नाहङ्कारात् परो रिपुः ॥

॥ घेरेण्ड संहिता ॥

संसारिक प्रलोभनों से बढ़कर कोई बन्धन नहीं; योग से बढ़कर कोई बल नहीं, ज्ञान से बढ़ कर कोई बन्धु नहीं और अहंकार से बढ़कर कोई शत्रु नहीं।

अन्त में पाठकगणों से प्रार्थना है, कि वह आगामी पृष्ठों को सावधानता से पढ़ें और देखें कि वर्तमान शारीरिक रचना के विज्ञान के अनुसार आधुनिक पूर्वीय तथा पश्चिमीय लेखिकों के स्वास्थ्य शास्त्र के अन्वेषण के परिणाम और योग शास्त्र के नियम, अनुभव तथा तर्क द्वारा तुलना में किस कोटि के सिद्ध होते हैं, और योग हमारे शारीरिक बल की स्थिरता तथा उन्नति में कहां तक सहायक हो सकता है और इस के नियम का भलीभान्ति अनुकरण करने से हम व्याधि और वृद्धावस्था से कैसे मुक्त हो सकते हैं, जीवन पर्यन्त यौवन दशा का आनन्द लेते हुए कैसे मृत्यु को विजय कर सकते हैं, और किस प्रकार वृद्धावस्था का पुनः यौवन में परिवर्तन कर सकते हैं। इस समय यद्यपि यह बातें असंभव प्रतीत हों तो भी धैर्य्यपूर्वक एक बार इस पुस्तक को पढ़ जाएं और देखें कि योग के लक्षण जो कि हठ योग प्रदीपिका के निम्नलिखित श्लोक में दर्शाये गये हैं, कैसे

यथार्थ सिद्ध होते हैं, जिनका अनुभव शनैः २ मुझे अपने जीवन में हो रहा है :—

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने निर्मले ।
अरोगता विन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ।

देह की कृशता (Lightness), मुख पर प्रसन्नता, नाद (Internal voice)की प्रकटता,नेत्रोंकी निर्मलता(Clearness), रोग का अभाव, विन्दु का जय अर्थात् वीर्य की रक्षा करने की पूर्ण शक्ति उदर की अग्नि (Gestri fire) की उत्तेजना और नाड़ियों के मल का अभाव (Purification of the bodily piosons), यह हठयोग के लक्षण हैं । अर्थात् जिस मनुष्य में यह बातें धीरे २ दृष्टिगोचर होती जावें तो समझे कि योग सिद्ध हो रहा है, यदि फल इसके विरुद्ध हो अथवा इसका अभाव हो,नो समझना चाहिए कि या तो वह योग ही नहीं और या हमारी क्रिया में त्रुटि है ।

हमको स्मरण रखना चाहिए कि योगकी सिद्धि प्राप्त करने के लिए यदि हम धैर्य, उत्साह और पुरुषार्थ से योग के यम तथा नियम पालन करते हुए कम से कम एक वर्ष पर्यन्त आसन व प्राणयाम इत्यादि का दत्तचित होकर अभ्यास करें तो शरीर में इन को विधिपूर्वक, यथायोग्य और युक्तरीति से अभ्यास करने की शक्ति आती है, तत्पश्चात् कम से कम एक वर्ष तक इनका पूर्ण अनुकरण करते हुए उपरोक्त योग के लक्षण प्रत्यक्ष होने आरम्भ होते हैं । इस में संदेह नहीं कि जब से मनुष्य योग का अभ्यास आरम्भ करता है, उसी

समय से उस पर इसका सूक्ष्म प्रभाव पड़ने लगता है, परन्तु बढ़ते हुए बालक और पृथिवी में अरोपन किये हुए बीज के समान इसका प्रभाव समय व्यतीत होने पर दृष्टिगोचर होता है

हठयोग प्रदीपिका का कथन है :—

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योग परायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥

ब्रह्मचर्य को धारण करने वाला (गृहस्थी अथवा गृहस्थ रहित), अनुकूल तथा पथ्य आहार करने वाला, हानिकारक विषयों का त्याग करने वाला तथा योग के नियमों को पूर्ण रीति से पालन करने वाला मनुष्य वर्ष पीछे सिद्धि को प्राप्त करता है, इसमें लेश मात्र भी शङ्का नहीं करनी चाहिये । यहां एक बात स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि योग की दृष्टि से ब्रह्मचारी वह नहीं जो विवाह ही न करे, अथवा विवाहित हो तो सन्तान ही न उत्पन्न करे प्रत्युत विवाह करके विधिपूर्वक सन्तान पैदा करके भी स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कर सकते हैं और अविवाहित होते हुए भी ब्रह्मचर्य भ्रष्ट हो सकते हैं, इनका स्पष्ट वर्णन आगे अपने स्थान पर आयेगा ।

जो जन दो चार दिन, सप्ताह अथवा मास आसन करने पर उसका लाभ प्रतीत न करते हुए कहने लगते हैं कि "आसन करने ही निरर्थक हैं," चाहे उनकी विधि ही ठीक न हो और उनका आहार और व्यवहार योग के नियमों के विरुद्ध ही हो । उनको उचित है कि वह इतनी जल्दी अपनी निश्चयात्मक

सम्मति प्रकट करने से संकोच करें, स्थिरता से कुछ समय अर्पण करके क्रियात्मिकरूप से अपनी आयु का कुछ भाग निरन्तर इसमें लगायें और इस विषय में दूसरों के अनुभव को सामने रखते हुए यथाशक्ति पूरी २ छान बीन करके अपने अनुभव को जनता की परीक्षा के लिए उन के सन्मुख उपस्थित करें, चाहे उनके विचार प्रचलित विचारों से कितने ही भिन्न क्यों न हों। इसी प्रकार संसार में ज्ञान की उन्नति तथा भावों में संशोधन और वास्तविक लाभ हो सकता है, न कि अन्धाधुन्ध किसी की बात को ठीक मान लेने से, इसी विचार से मैं यह पुस्तक पाठकों की सेवा में भेंट कर रहा हूं ताकि वह इसके गुण दोषों की परीक्षा करके इसके विषय में अपनी सम्मति दें। मैंने अपने अनुभव से जो सत्य समझा वह इस पुस्तक में लेखबद्ध कर दिया, वास्तव में उस में कहां तक सत्य है इसका निर्णय आगामी समय प्रकाशित करेगा।

स्वास्थ्य और योगशास्त्र

१. स्थिर-यौवन और अस्थिकङ्काल

Enduring youth & bony structure

स्वास्थ्य प्रकृति देवी का अमूल्य प्रसाद है. इस की प्राप्ति का अधिकारी वही है, जो इसका पूर्ण उपयोग करना जानता है, यह बिना वेतन उसकी दास है, जो इन के नियमों का परिपालन करता है, यह उसकी रक्षक है, जो इस की रक्षा करता है, उसकी घातक है, जो इसका निरादर करता है, केवल अभिलाषा मनोकामना को सफल नहीं कर सकती, मनुष्य इच्छा तो करते हैं, कि वह निरन्तर स्वस्थ और बलवान् बने रहें, किन्तु इस के योग्य भेंट समर्पण करने के लिये उद्यत नहीं, वह स्वास्थ्य की देवी को लक्ष्मी की बलि का उपहार प्रदान करने से वशीभूत करना चाहते हैं। स्वास्थ्य धन से ख़रीदा नहीं जा सकता, इसका मूल्य रुपये अथवा मोहरें नहीं, परन्तु विधिवत् यथायोग्य पुरुषार्थ है, जो कि हमारी शारीरिक रचना (Physiology of the body) के नियम के अनुकूल और हमारे शारीरिक व्यवच्छेद (Anatomical structure) के अनुसार कार्यरूप में लाया जाए, जिस का पूर्ण उपयोगी ज्ञान योग-शास्त्र के द्वारा ही हो सकता है।

योगशास्त्र स्वास्थ्य रक्षा (Physical-cultur) के विषय में मनुष्य शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग की सब प्रकार से अतिमात्र उन्नति के साधनों का प्रतिपादन करता है, इस प्रकार की उन्नति करने के लिए शरीर के सब विभागों (All the systems of the body) में अपने २ स्वाभाविक कर्तव्य (Natural function) के पालन करने की पूर्ण योग्यता का होना परमावश्यक है, जिस के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है, कि मनुष्य का स्वास्थ्य उच्च कोटि का हो, जिस का यह तात्पर्य है, कि मनुष्य के शरीर के पृथक २ विभाग अपने २ स्वाभाविक कर्तव्य का पालन पूर्ण रीति से कर सकें, और शरीर के सब अवयवों में अपने उचित कर्तव्य को अति सुगमता से पालन करने का यथायोग्य बल तथा शक्ति हो, इस बल तथा शक्ति की स्थिरता व उन्नति तभी हो सकती है, जब शरीर के अवयव अपनी २ क्रिया कुशलता पूर्वक करते रहें, और यदि कोई विकार देह में उत्पन्न हो जाये तो उस को शीघ्र से शीघ्र दूर करने की आन्तरिक शक्ति भी हमारे शरीर में हो, जिससे व्याधि तथा वृद्धावस्था को पैदा करने वाले कारणों का प्रादुर्भाव न हो सके, जिसके लिये योग शास्त्र का ज्ञान अत्यावश्यक है, और योग-शास्त्र को भली भांति समझने और ठीक रीति से क्रिया रूप में लाने के लिये शारीरिक रचना के, कम से कम, सामान्य ज्ञान (Elementary knowledge) की आवश्यकता है ।

इस लिये मैं योग की क्रियाओं का निरूपण करने से पहिले शरीर के सब विभागों का संक्षेप से वर्णन करता हुआ व्याधि, वृद्धावस्था तथा मृत्यु के कारणों को पूज्य पाठकों के सन्मुख रखने की चेष्टा करूंगा, ताकि उनको योगशास्त्र का महत्व ज्ञात हो सके और उसके अनुष्ठान करने की विधि को समझ कर, उस को पूर्ण रीति से आचरण में ला सकें। यह कोई नवीन बात नहीं,प्राचीन योगाचार्य भी अपने शरीर की रचना से पूर्ण परिचित होते थे।

हमारे शरीररूपी मन्दिर की आधार शिला (Foundation stone) हमारा अस्थिकङ्काल (Skeleton) है, जिस के विना हमारा शरीर एक क्षण के लिये भी स्थिर नहीं रह सकता, हमारे यौवन को स्थिर रखने तथा वृद्धावस्था को लाने में हमारी अस्थियां एक बड़ा भारी भाग लेती हैं, इस बात को समझने के लिये अस्थियों की बनावट तथा क्रिया का बोध होना आवश्यक है।

इस पृष्ठ के सन्मुख जो नर कङ्काल का चित्र है इस से प्रतीत होता है कि कई अस्थियां गोल हैं, कई चपटी हैं, कोई लम्बी हैं, तो कोई छोटी हैं, इन सब की संख्या अर्वाचीन विद्वानों के अनुसार २०६ और प्राचीन लेखकों के मतानुकूल ३०० और ३६० कही जाती हैं, यह मतभेद इस कारण है कि प्राचीन विद्वानों ने कई ऐसी कठिन चीज़ों, यथा नख, दांत इत्यादि को भी अस्थि माना है, परन्तु आधुनिक विद्वानों ने इन को अस्थि कोटि में सम्मिलित नहीं किया। यह सब भिन्न भिन्न अस्थियां एक दूसरे से भिन्न २ भागों में परस्पर जुड़ी

हुई हैं, जिनको संन्धि कहते हैं। यह अस्थियां सब की सब अति दृढ़ तथा कठिन प्रतीत होती हैं, किन्तु भीतर से यह ऐसी ठोस नहीं जैसी कि ऊपर से दिखाई देती हैं, यदि हम एक जीवित लम्बी अस्थि को ले कर उसकी परीक्षा करें तो पता लगेगा कि इसको ऊपर से एक सुकुमार (Delicate) तथा अतिदृढ़ पदार्थने ढका हुआ है, जिसको अस्थ्यावरक(Periosteum) कहते हैं। इसके भीतर एक नाली मिलता है जो अस्थिगात्र (Medullary canal) कहलाती है, और ऊपर की अस्थि के समान कठिन नहीं होती,किन्तु कोमल व दृढ़ अवश्य होती है। इस गात्र के भीतर एक और चिकना लचकदार गुलाबी सा पीले वर्ण का पदार्थ भरा रहता है जिसे मज्जा (Marrow) कहा जाता है, और इस गात्रके साथ २ चारों ओर अस्थि का भीतर का भाग बाहर के समान बहुत ठोस और दृढ़ नहीं होता, इस का आकार कुछ कुछ स्पञ्ज (Sponge) के सदृश होता है, मानो महीन तारों का एक जाल सा बना है, जिसके सूक्ष्म छिद्रों में मज्जा भरी रहती है। इसको सौत्रिक तन्तु (Cancellous or Fibrous Tissue) कहते हैं। इस से प्रतीत होता है कि अस्थि का ऊपर का आकार कठिन और भीतर का दृढ़, कोमल तथा लचकदार होता है। लम्बी अस्थियों के सिरे भीतर से खोखले नहीं होते, इन के भीतर सौत्रिक तन्तु होते हैं, जिन में मज्जा भरी रहती है, इसी प्रकार चपटी अस्थियों के दो पटलों (Thin plates) के मध्य और छोटी २ अस्थियों के बीच में भी केवल सौत्रिक तन्तु होते हैं, जिनके छिद्रों में मज्जा भरी हुई होती है, यह अस्थियां बीच से खोखली नहीं होतीं।

मज्जा दो प्रकार की होती है, (१) पीली, (२) लाल। लम्बी अस्थियों के खोखले गात्रों में पीली और शेष में लाल मज्जा होती है। पीली मज्जा में १०० में ९६ भाग वसा (fat) और शेष सेलें (cells) और सौत्रिक तन्तु इत्यादि होते हैं। लाल मज्जा में १०० में ७५ भाग जल और शेष २५ भाग सेलें और सौत्रिक तन्तु इत्यादि होते हैं, इस में वसा बहुत कम होती है।

अस्थि का बाहर का कठिन भाग चूने और लवण के अधिकांश में मिलने से बनता है, और उन्हीं के कारण उस में कठिनाई प्रतीत होती है; इसको खनिज वा निर्जीव पदार्थ (Mineral matter) कहते हैं, इसका भीतर का दृढ़ कोमल व लचकदार भाग सौत्रिक तन्तु, सेलों और वसा इत्यादि से मिल कर बना है, इन्हें सजीव पदार्थ (Animal matter) कहा जाता है, इसके कारण अस्थि में लचक प्रतीत होती है।

अस्थि को इसकी प्रथम अवस्था में उपास्थि अथवा तरुणास्थि (Cartilage) कहते हैं, इसका वर्ण श्वेत या पीला होता है, यह चमकीली तथा लचकदार होती है, पांच छः सप्ताह के गर्भ में कठिन अस्थि का सर्वथा अभाव होता है, इस के स्थान में यही वस्तु मिलती है, ज्यों ज्यों गर्भ की वृद्धि होती है, त्यों त्यों उपास्थि से अस्थि का विकाश होता जाता है, अर्थात् खनिज पदार्थ में वृद्धि और सजीव पदार्थ में कमी होती जाती है। पुरुष की २५ वर्ष की आयु में सब अस्थियों की बनावट पूर्ण हो जाती है, उस समय अस्थि में

दो तिहाई खनिज पदार्थ और एक तिहाई के लगभग सजीव पदार्थ होता है, जिस में अधिकतर सौत्रिक तन्तुओं का भाग होता है, बाल्यावस्था में अस्थि में खनिज पदार्थ बहुत ही कम होता है, इसी कारण बालक की अस्थियां इतनी लचकदार होती हैं कि वह सुगमता से टूट नहीं सकतीं। बाल्यावस्था में यौवनावस्था की अपेक्षा अस्थियों की संख्या भी अधिक होती है, क्योंकि बाल्यावस्था में कुछ अस्थियां जो भिन्न २ होती हैं यौवनकाल में परस्पर जुड़ जाती हैं।

ज्यों ज्यों मनुष्य की आयु बढ़ती जाती है, सजीव पदार्थ खनिज पदार्थ के रूपमें परिवर्तित होता जाता है, अस्थियां दिन प्रतिदिन ठोस तथा सख्त होती जाती हैं, फलतः उनमें शनैः २ लचक का अभाव होता जाता है, जिस से अन्त में वृद्धावस्था का आगमन होता है, और अस्थियों में सजीव पदार्थ प्रायः लुप्त हो जाता है, उन के स्थान में खनिज पदार्थ के प्रादुर्भाव से अस्थियां अत्यन्त भुरभुरी (Brittle) हो जाती हैं; बाल्यावस्था में उपयोगी भोजन न मिलने से अस्थियां निर्बल रह जाती हैं, यह इतना भोजन कम मिलने का परिणाम नहीं, जितना कि इस अविद्या का, कि वह भोजन किस प्रकार का हो और बालक का जीवन किस प्रकार से व्यतीत हो,इन बातों का वर्णन अपने २ स्थान पर आएगा।

मनुष्य के शरीर में उपास्थि के समान एक चिकना, चमकदार और लचकदार पदार्थ और भी होता है, परन्तु वह अस्थि के रूप में कभी भी परिवर्तित नहीं होता, जैसे कि

पृष्ठवंश—Spinal Cord.



७ ग्रीवा की अस्थियां

7 Cervical Vertebræ. — From 1 to 7

१२ पीठ की अस्थियां

12 Dors-al Vertebræ. — From 8 to 19

५ कटि की अस्थियां

5 Lumber Vertebræ. — From 20 to 24

त्रिक—Sacrum.

पुच्छास्थि—Coccyx.

हम स्वर-यन्त्र (Larynx), टेंटवा (Trachea), कान और नासिका को अवस्था में देखते हैं, अंग्रेज़ी में इस लचकदार पदार्थ को कारटिलेज (Cartilage) का नाम दिया गया है, यह दो प्रकार का होता है; (१) सूत्रमय (२) सूत्रविहीन, सूत्रमय कारटिलेज दो प्रकार का है, एक वह जिस में श्वेत सूत्र (Fibers) होते हैं. दूसरे में पीले सूत्र होते हैं, पीला श्वेत की अपेक्षा अधिकतर लचकदार होता है, जिसे अंग्रेज़ी में जेलाटीन (Gelatine) कहते हैं, यह भिन्न २ प्रकार के कारटिलेज भिन्न २ स्थानों में पाये जाते हैं।

मैंने यहां अस्थियों के भिन्न २ नाम इत्यादि वर्णन न करते हुए, उनकी बनावट इत्यादि का ही वर्णन किया है, क्योंकि मैं पाठकों को उन के नामों के झंझट में डालना नहीं चाहता, किन्तु इस अध्याय को समाप्त करने से पहिले पृष्ठवंश (Spinal Column) के महत्त्व को वर्णन करने के लिये उस के संक्षिप्त उल्लेख की आवश्यकता है।

सन्मुख पृष्ट के चित्र से प्रतीत होता है, कि पृष्ठवंश (मेरु दण्ड या कशेरु) अस्थियों के भिन्न २ टुकड़ों से मिल कर बना है, जिनकी संख्या २४ है, प्रत्येक अस्थि को कशेरु अथवा मोहरा (Vertebra) कहते हैं, जो परस्पर एक दूसरे के ऊपर टिका हुआ है, प्रत्येक मोहरे के मध्य में सूत्रमय कारटिलेज की एक मोटी चक्की (Cushion) रहती है, जो इन अस्थियों को परस्पर रगड़ से बचाती, इन को आपस में जोड़ती, और इनमें लचक स्थित रखती है, इन सब मोहरों के परस्पर मेल से एक नली सी बन गई है, जिसको काशेरुका-नली

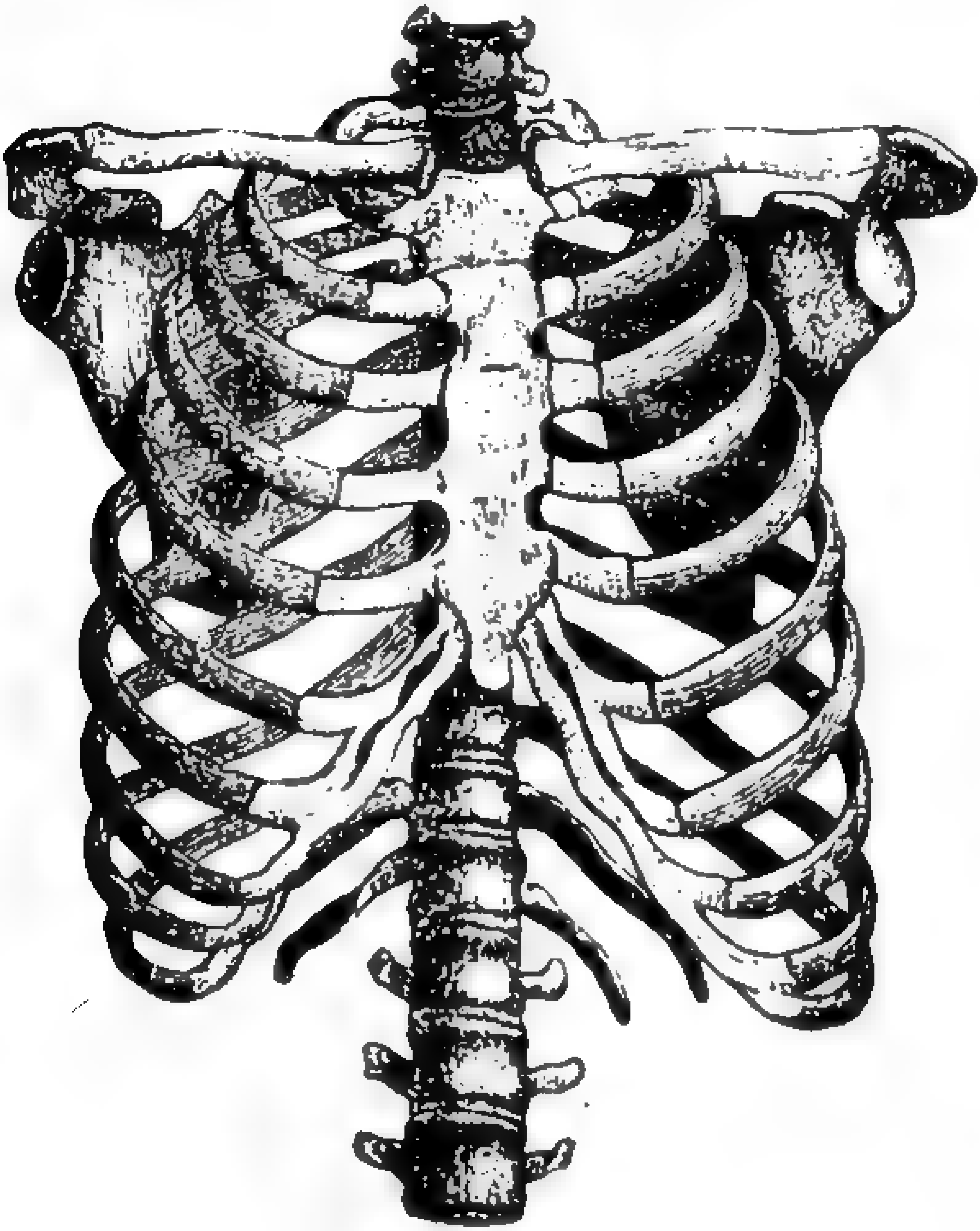
(Vertebral canal) कहते हैं, इस नली में सुषुम्ना-नाडी (Spinal cord) रहती है।

पृष्ठवंश की २५ अस्थियों में से ७ ग्रीवा की अस्थियां (Cervical Vertebræ), इस के नीचे १२ पीठ की अस्थियां (Dorsal Vertebræ), ५ कटी की अस्थियां (Lumber) Vertebræ), इसके अतिरिक्त ६ अस्थियां वस्तिगह्वर (Pelvis) में स्थित हैं. ऊपर की बड़ी अस्थि को त्रिकास्थि (sacral bone), और नीचे की छोटी अस्थि को पुच्छास्थि (Coccyx) कहा जाता है, त्रिक (Three sided bone) पांच अस्थियों के परस्पर जुड़ जाने से और पुच्छास्थि चार अस्थियों के मिल जाने से बनी है, पुच्छास्थि को गुदास्थि अथवा चंचु भी कहते हैं, कहा जाता है, कि किसी समय में अन्य पशुओं के समान मनुष्य की पुच्छ इस अस्थि में से निकली हुई थी, जो विकास (Evolution) के क्रमानुसार लुप्त हो गई।

इस पृष्ठवंश में मनुष्य की शक्ति का भेद छिपा हुआ है, मनुष्य की अद्भुत दिव्यशक्ति का यह एक केन्द्र स्थान है, इस का वर्णन अगले पृष्ठों में यथा स्थान आयेगा।

यहां पर वक्षोऽस्थि (Sternum or breast bone) का कुछ थोडा सा वर्णन भी आवश्यक प्रतीत होता है, यह अस्थि वक्षःस्थल की पर्शुकायों अर्थात् पसलियों (Ribs) को सहारा देने में एक अत्युपयोगी कार्य करती है, यह अस्थि ग्रीवा के बीच के भाग से आरम्भ होकर उदर के कौड़ी-प्रदेश (Epigastrium)

वक्षोऽस्थि व पसलियां—Sternum and ribs.



तक चली गई है, इस के दोनों ओर बारह २ पसलियां हैं, जिन में से ऊपर की पहली सात पसलियों के दोनों सिरे वक्षोऽस्थि से जुड़े हुए हैं, और इन से नीचे की तीन के बाहिर के सिरे वक्षोऽस्थि से अलग रहते हैं, केवल अपने से ऊपर की पर्शुका (Rib) के द्वारा इन का मेल वक्षोऽस्थि से होता है, शेष दो के बाहिर के सिरे किसी प्रकार से भी वक्षोऽस्थि से स्पर्श नहीं करते, उपर के पर्शुकायों से भी अलग रहते हैं, पसलियों के सिरों और वक्षोऽस्थि में उपपर्शुका (Cartilage) की पट्टियां (Cushions) होती हैं, जिस से वक्षःस्थल दृढ़ होने पर भी अतीव लचकदार होता है।

पहली दस पर्शुकायों के भीतर के सिरे पृष्ठवंश के कशेरुकायों के गात्रों (मोहरे का अगला मोटा अंश) और पार्श्व प्रवर्द्धनों (उभार, Projection) से जुड़े रहते हैं, और शेष दो केवल मोहरों के गात्रों से बंधे हुये होते हैं।

पृष्ठवंश तथा वक्षःस्थल की अस्थियों का सजीव विभाग (Cartilagious portion) अन्य अस्थियों के समान मनुष्य की आयु के बढ़ने के साथ २ अस्थिजरूप में परिवर्तित होता जाता है, इन में कठिनाई आती जाती है, अन्त में इनसे लचक सर्वथा लुप्त हो जाती है। वक्षःस्थल की अस्थियों के धीरे २ परस्पर मेल हो जाने के कारण इन की संख्या भी कम होती जाती है, यहां तक कि वृद्धावस्था में सब की सब मिल कर एक अस्थि बन जाती है।

उपरोक्त वर्णन से पता लगता है, कि यौवन,अस्थि मण्डल में

लचक के होने पर निर्भर है, और इस के शनैः शनैः लोप होते जाने से वृद्धदशा आती जाती है, जो अन्त में मनुष्य की मृत्यु का एक हेतु बन जाती है।

यदि कोई उपाय हम को इस प्रकार का ज्ञात हो जाये जिस से कि अस्थि संस्थान की दशा यौवनावस्था के समान बनी रहे, अथवा कठिन अस्थियों में पुनः सजीव पदार्थ उत्पन्न करते हुये उनमें लचक का पुनः प्रादुर्भाव किया जा सके, तो इस में कुछ सन्देह नहीं कि हम यौवन को स्थायी रुपमें रख सकते हैं, और वृद्धत्व को भी यौवन में बदल सकते हैं।

यह विधि योग शास्त्र हमें बताता है, जिसका कुछ अनुभव मैंने गत पांच वर्षों में स्वयम भी किया है, जिसको इस पुस्तक के आगामी पृष्ठों में यथास्थान पाठकों की भेंट करूंगा। यद्यपि यह बात हमें असम्भव प्रतीत होती है, तथापि कुछ धैर्य से काम लेकर इस पुस्तक का पाठ कीजिये और देखिये, कि प्राचीन समय के भारतवर्ष के योगाचार्यों ने कैसे २ गौरव और महत्त्व के अनुभव हमारे लिये छोड़े हैं, जिन का तत्त्व उन को यथार्थ रीति से जीवन में घटाने से ही प्रत्यक्ष हो सकता है।

चित्र ४.

पेशी मण्डल—Muscular System.



पेशी मण्डल और मृत्यु
(Muscular system and death)

मनुष्य शरीर की त्वचा (Skin) के नीचे जो मांस की तै सी सारे शरीर में छाई हुई प्रतीत होती है, यह मांस के छोटे छोटे टुकड़ों से मिलकर बनी है, इन टुकड़ों को पेशियां कहते हैं, जोकि मांस तन्तुओं (Muscular tissues) के परस्पर मिलने से बनते हैं, और आपस में सौत्रिक तन्तुओं (Fibrous tissues) द्वारा जुड़े रहते हैं। मांस तन्तुओं का वर्ण रक्त (Red) और सौत्रिक तन्तुओं का श्वेत (White) होता है। सौत्रिक तन्तु, मांस तन्तुओं की अपेक्षा अधिक दृढ़ (मज़बूत) होते हैं, और यह प्रायः पेशियों के सिरों पर पाये जाते हैं, जिनको कण्डरा (Tendon) कहते हैं, जो अस्थियों, कारटिलेजों और कहीं २ झिल्ली वा त्वचा से भी मिली रहती हैं। यह एक स्थान से आरंभ करके एक वा एक से अधिक सन्धियों से होती हुई दूसरे स्थान में जा लगती हैं।

हमारे शरीर में जितनी भी गतियां होती हैं वह इस पेशी मण्डल के ही कारण से हैं, इस में सन्देह नहीं कि यह गतिएं हमारी अस्थियों के व्यवछेद (Anotomy) के अनुसार ही होती हैं, परन्तु यदि हमारे शरीर में पेशियां न होतीं तो हम किसी प्रकार की भी चेष्टा (Movement) न कर सकते।

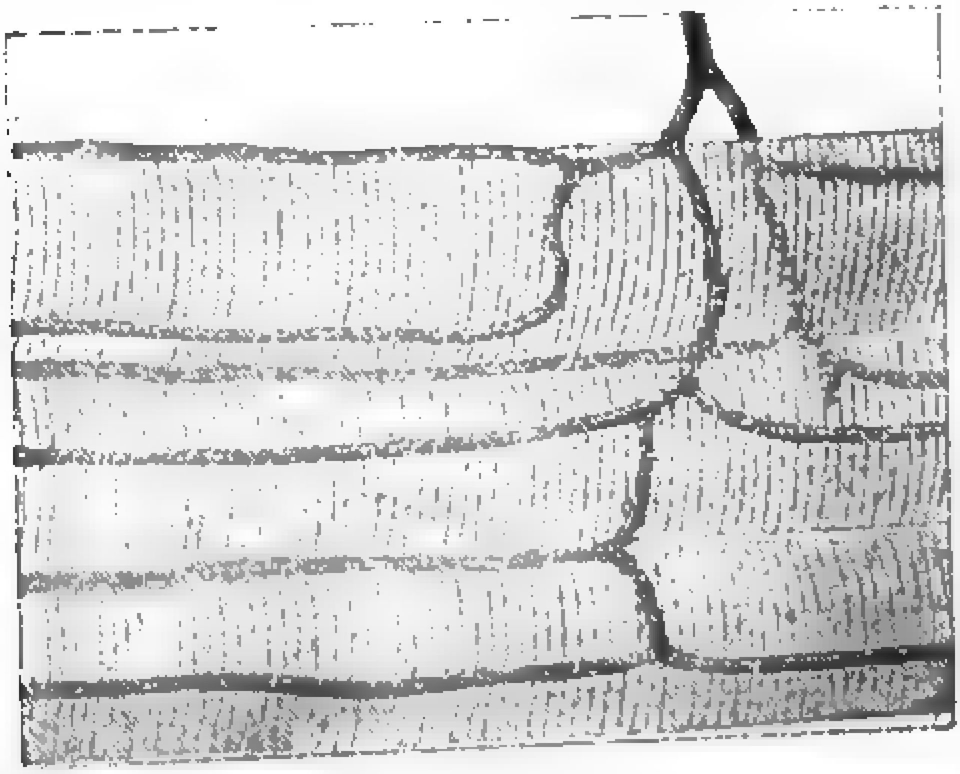
पेशियों में दो प्रकार की चेष्टायें प्रतीत होती हैं, यह सुकड़ती हैं और फिर फैलकर अपने स्थान पर आजाती हैं, पहिली क्रिया को संकुचन (Contraction) और दूसरी को प्रसारण (Expension) कहते हैं, इसी कारण पहिली अवस्था में पेशी संकोचक (Inflexor), और दूसरी दशा में प्रसारक (Extensor) कहलाती है, और यह दोनों क्रियायें इस में स्थितिस्थापकता (Elasticity) होने के कारण होती हैं।

जिन पेशियों को हम अपनी इच्छानुकूल गति दे सकते हैं, उनको ऐच्छिक पेशियां (Voluntary muscles) कहते हैं, और जिन की चेष्टा हमारी इच्छा के आधीन नहीं वह अनैच्छिक पेशियां (Involuntary muscles) कहलाती हैं।

हाथ, पैर, बाहु, टांग, इत्यादि को गति देना हमारे आधीन है, परन्तु हृदय (Heart), आमाशय (Stomach), यकृत (Liver), आंत (Intestines), फुफुस (Lungs) इत्यादि की चेष्टा हमारे आधीन नहीं है। हमारे शरीर में सब पेशियां ५१९ कही जाती हैं, जिन में से ४५१ ऐच्छिक और ६८ अनैच्छिक हैं,परन्तु सुश्रुत में यह सब ५०० बताई गई हैं;ऐच्छिक पेशियां, अस्थियों तथा उन के बन्धनों से लगी रहती हैं, इस लिये हमारे शरीर की गतियें हमारी इच्छा से अस्थियों और इन पेशियों के परस्पर सम्बन्ध के कारण होती हैं, अनैच्छिक पेशियों का गति व्यापार बिना हमारी इच्छा के स्वतन्त्र और स्वाभाविक होता रहता है, क्योंकि इनका सम्बन्ध अस्थियों से नहीं होता।

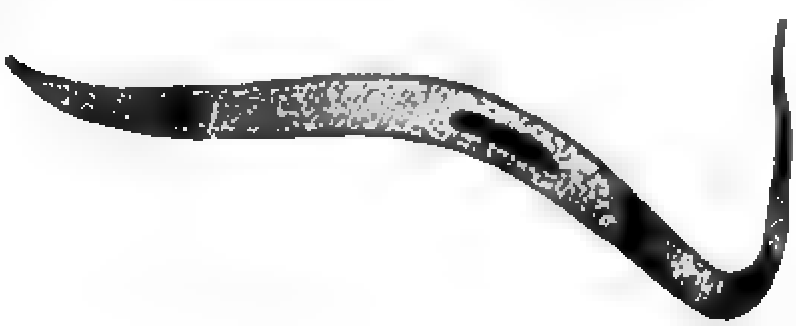
चित्र ५.

ऐच्छिकपेशी—Voluntary Muscle.



चित्र ६.

अनैच्छिक पेशी—Involuntary muscle,



दोनों प्रकार की पेशियां छोटे २ सेलों (Cells) से मिल कर बनी हैं, ऐच्छिक पेशियों की सेलें लम्बी तथा धारीदार होती हैं, यह धारियां श्वेत व काली होती हैं, जो एक दूसरे के पास २ रहती हैं, श्वेत धारी स्वच्छ और काली धारी अस्वच्छ होती है, इन धारियों के कारण ऐच्छिक पेशियों की बनावट धारी दार होती है; अनैच्छिक पेशियों की सेलें कम लम्बी होती हैं, इनके सौत्रिक तन्तुओं के द्वारा परस्पर जुड़े रहने से मांस की तहें बन जाती हैं, इन पेशियों में धारियां नहीं होतीं, और न ही इन की कण्डरायें होती हैं। प्रत्येक पेशी जिस स्थान से आरम्भ करती है उसको इसका आरम्भक स्थान (Point of origin), और जहां उसका अन्त होता है उसको अन्तिक स्थान (Point of insertion) कहते हैं, प्रत्येक पेशी के संकोच के समय अन्तिक स्थान, आरम्भक स्थान के समीप और प्रसार के समय अपने असली स्थान पर आजाता है।

पेशियां अपने २ स्थान, बनावट तथा क्रिया के भेद से कई प्रकार की हैं:- सरल (Recti straight), त्रिकोण (Deltoid or triangular), चतुरस्र या चतुर्भुज (Quadratus),क्रमिवत् (Having worm-like movement), द्विशिरस्का (Biceps or two headed), त्रिशिरस्का (Triceps or three headed) इत्यादि, पेशियों के विषय में पृथक २ नाम इत्यादि न बताते हुए प्रस्तुत विषय का समर्थन करने के लिये इतना ही पर्याप्त होगा।

उपरोक्त कथनानुसार दोनों प्रकार की पेशियों में प्रायः कुछ न कुछ गति निरन्तर होते रहने के कारण, इनमें संकोच तथा प्रसार क्रिया भी नित्य कुछ न कुछ होती रहती है, जिस से ऐच्छिक पेशियों के मांस तन्तु और अनैच्छिक पेशियों की सेलें कार्य करते २ शिथिल हो जाती हैं, और जो इस प्रकार शिथिल होकर कर्म करने के असमर्थ हो जाती हैं, वह मर जाती हैं, और इन मरे हुए तन्तुओं और सेलों को, पेशियां अपनी संकोच क्रिया द्वारा निकाल कर बाहिर फैंक देती हैं, उनके प्रसार के समय रक्त का प्रवाह उनके भीतर जा कर नई रचना करने के काम में लग जाता है, और उसी रक्त का कुछ भाग मुरदा पदार्थ (Dead matter) को साथ लेकर पेशियों के संकोच के समय बाहिर आ जाता है, जिस से यह रक्त विषमय हो जाता है जब पेशियों में गति अधिक होती है, तो उनमें यह विषमय पदार्थ (Poisoned matter) पेशियों में मृत्यु की मात्रा के बढ़ जाने से अधिक पैदा होता है, इसका शोधन करने के लिये पेशियों की संकोच व प्रसार क्रिया अधिक शीघ्रता से होने लगती है, और रक्त का प्रवाह भी अधिक वेग से आने जाने लगता है, ताकि मृत पदार्थ का शोधन करके नष्ट हुए भागों के स्थान में नई रचना करके उस कमी को पूरा कर सके; यदि हमारे शरीर में गतियां इतने वेग से पैदा होती हैं, कि उनसे पैदा होने वाले मृत पदार्थ को रक्त का प्रवाह पूर्ण रीति से अपने में समेटने और नई रचना करने के असमर्थ होता है, तो मनुष्य को श्रान्ति (Fatigue)

प्रतीत होने लगती है,और यदि यह मृत पदार्थ पेशियों में अति मात्रा में एकत्र हो जाता है, तो शरीर थकावट से चूर चूर हो जाता है, यदि नित्य ही ऐसा होता रहे, तो मृत्यु नियत समय से पहिले आ जाती है, परन्तु साधारण अवस्था में जो शरीर में स्वभाविक चेष्टा होने से मृत पदार्थ पैदा होता है उसका भी पूर्ण रीति से शोधन नहीं होता यदि रक्त के प्रवाह को व्यायाम इत्यादि द्वारा वेग के साथ न चलाया जाये, इसी कारण शारीरिक व्यायाम तथा उद्योग के जीवन की अत्यन्त आवश्यकता है, इससे प्रतीत होता है कि यदि हमारे शरीर में निरन्तर होने वाली मृत्यु की अपेक्षा रचना की मात्रा बढ़ी हुई होती है, तो हमारा शरीर धीरे २ वृद्धि करता है, अन्यथा शनैः २ अवनति को प्राप्त होता है।

यदि हमको कोई ऐसा साधन ज्ञात हो जाये जिससे कि हमारे पेशी मण्डल में निरन्तर नाश कम से कम और रचना अधिक से अधिक होती जाये, तो हम मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं।

योग इस विषय में हमको कहां तक सहायता कर सकता है और, व्यायाम इत्यादि के पश्चिमी तथा पूर्वी विद्यमान् ढंग कैसे हानिप्रद हो रहे हैं, इसका वर्णन इस पुस्तक में अपने उचित स्थान पर आएगा।

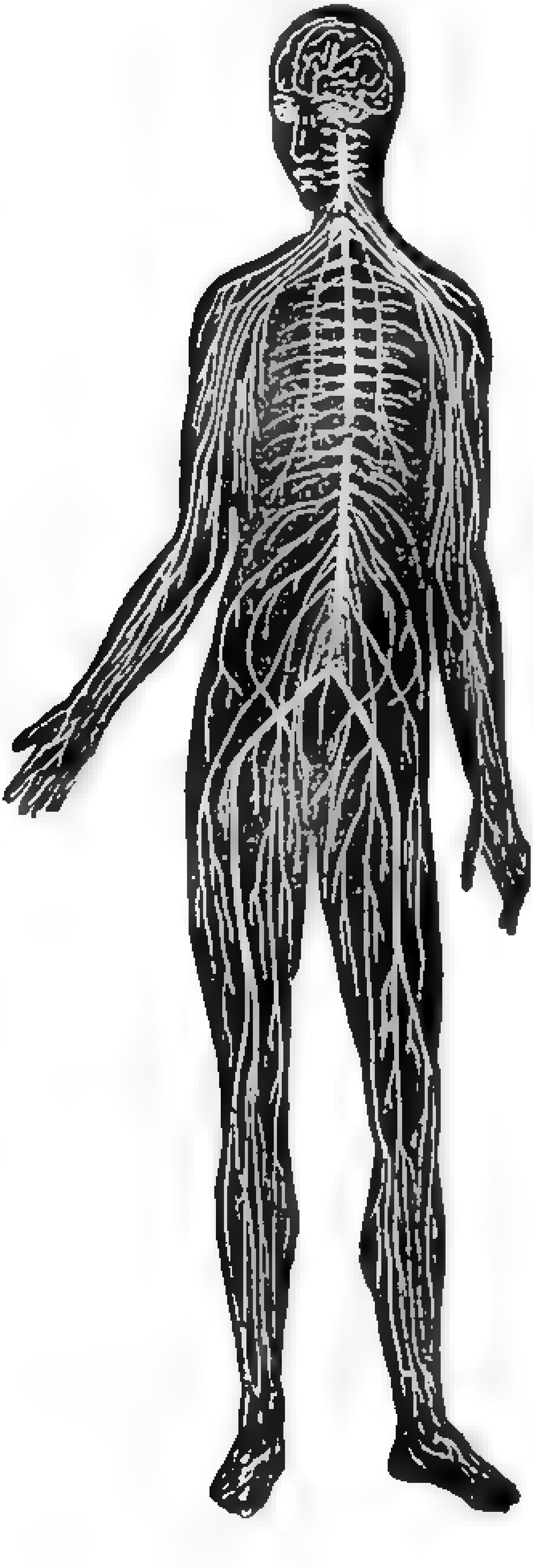
वसा (Fat)

—:o:—

हमारी त्वचा (Skin) के नीचे एक चिकना और पीला सा पदार्थ है, जिसको वसा (चरबी) कहा जाता है, नेत्रों के पलक, अण्डकोष और शिश्न में वसा नहीं पाई जाती, उदर में, मांस पेशियों के मध्य में और लम्बी अस्थियों के गात्रों की मज्जा में भी वसा रहती है, सामान्यतः शरीर में कुल भाग का १/२० वसा होती है, यदि इससे अधिक वसा मनुष्य के शरीर में एकत्र हो जाय तो यह मोटेपन (Obesity) के रोगों को उत्पन्न करती है, यह हमारे शरीर में इन्धन का काम देती है,जब मनुष्य परिश्रम करता है, तो उसके शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है, और वसा को भस्मीभूत करती है। जो जन परिश्रम नहीं करते और अधिक भोजन करते हैं, या वह जन जो मल्ल इत्यादि के समान व्यायाम करके अत्यन्त परिश्रम करते और अधिक से अधिक खाते हैं, उन में भी वसा अधिक पैदा हो जाती है, यथोचित परिश्रम के न करने, और अधिक आहार करने से वसा अधिक पैदा होती है। वृक्क (गुर्दा) इत्यादि कई कोमल अंगों में उनकी रक्षा के लिये इसकी गद्दियां रहती हैं।

चित्र ७.

नाडी मण्डल—Nervous System.



शक्ति और विज्ञान का मूल स्रोत चेतना नाड़ीचक्र

(Nervious system, the source of vital force and knowledge)

इस में संदेह नहीं कि हमारे शरीर की गतियां हमारे अस्थिमण्डल और ऐच्छिक पेशीमण्डल के परस्पर संयोग द्वारा, अथवा अनैच्छिक पेशीमण्डल द्वारा होती हैं, इनके विना शरीर में किसी भी चेष्टा का होना असम्भव है, परन्तु इन में भी किसी प्रकार की गति का होना अशक्य था, यदि इन पर शासन करने वाला एक और शक्तिकेन्द्र मनुष्य शरीर में न होता, इस के बिना सारी की सारी देह चेष्टाहीन, और सब प्रकार के संकल्प विकल्प और ज्ञान से शून्य होती, मनुष्य की सब प्रकार की शक्ति और बल का भेद इसी केन्द्र में छिपा हुआ है. जिस संस्थान (system) के द्वारा इस शक्ति का विकास होता है. उस को चेतना नाडी मण्डल (nervious system) कहते हैं।

सन्मुख के चित्र से प्रतीत होता है, कि नाडीमण्डल मानो एक सूक्ष्म तारों का जाल है, जो कि सारे शरीर में फैला हुआ है, इन तारों अथवा नाड़ी सूत्रों (Nerve fibres) में विद्युत (विजली) के समान नाड़ी शक्ति (Nerve force) भरी हुई है, जिस के केन्द्रस्थान (Centres) मनुष्य के मस्तिष्क (Brain) और मेरुदण्ड (Spinal column) में विद्यमान हैं, जिस प्रकार

हम बिजली के द्वारा किसी वस्तु में गति उत्पन्न करने, एक स्थान से दूसरे स्थान में संदेश पहुंचाने इत्यादि का काम लेते हैं, इसी प्रकार यह नाड़ी सूत्र हमारे शरीर में भिन्न २ कार्य करते हैं।

एक प्रकार के तार वह हैं, जो मस्तिष्क और मेरुदण्ड के केन्द्र स्थानों से संदेश इत्यादि सारे शरीर में ले जाने का काम करते हैं, यह केन्द्र त्यागी सूत्र (Afferent nerve-fibres) कहलाते हैं।

दूसरी भान्ति के वह तार हैं, जो शरीर के सब भागों से मेरुदण्ड और मस्तिष्क के केन्द्रों में समाचार ले जाने इत्यादि का कार्य करते हैं, इनको केन्द्रगामी सूत्र (Efferent nerve-fibres) कहते हैं।

तीसरी प्रकार के तार ऐसे हैं जो मस्तिष्क और मेरुदण्ड के भिन्न २ केन्द्रों को परस्पर सूचित करते रहते हैं, यह केन्द्र संयोजक सूत्र (Inter-central nerve-fibres) कहे जाते हैं।

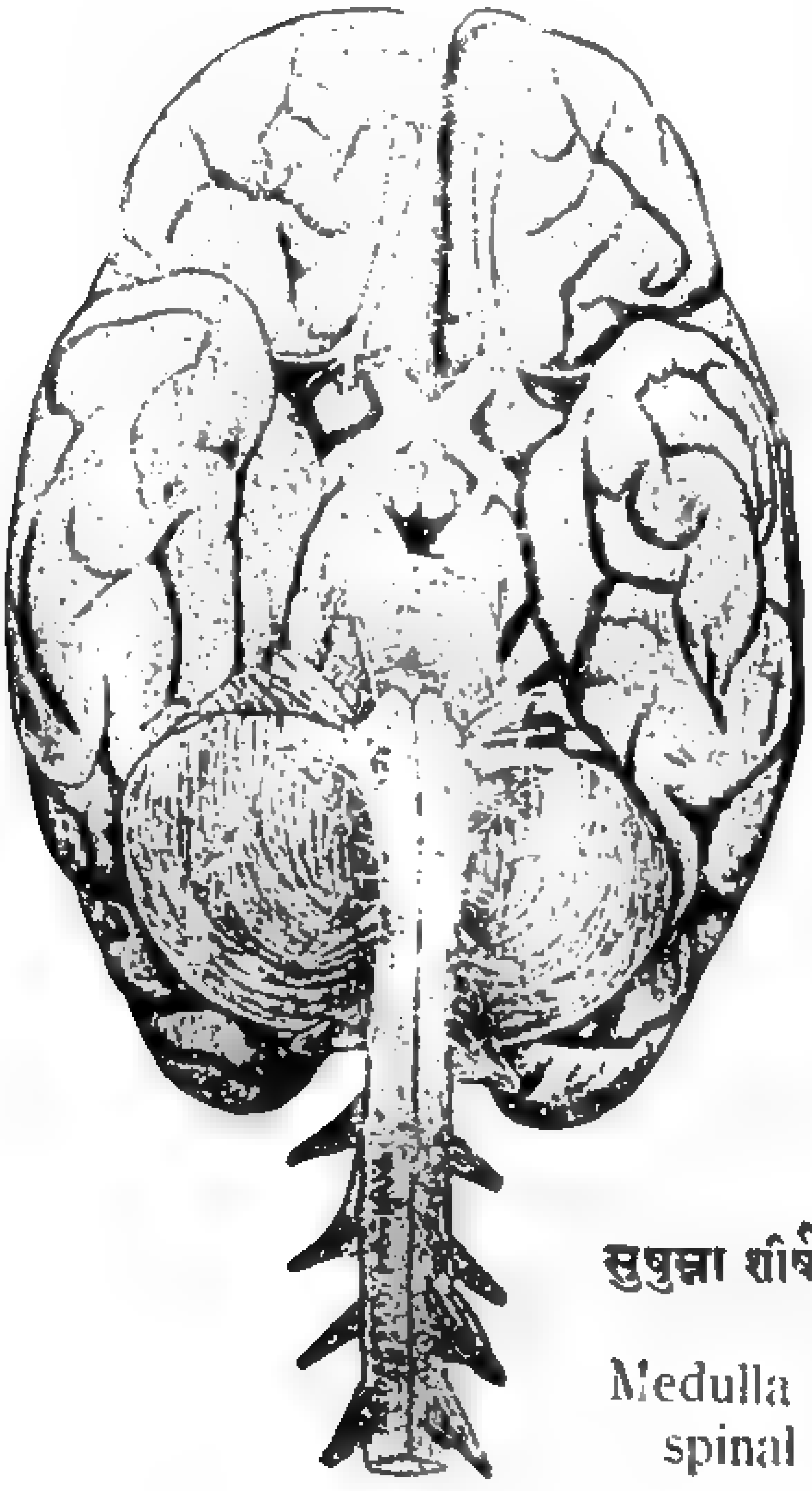
इन नाड़ी सूत्रों का सबसे प्रथम केन्द्र मनुष्य का मस्तिष्क है, जो कपाल (Skull) के भीतर सुरक्षित और आकार में कुछ अण्डे के तुल्य प्रतीत होता है, इस के दो भाग हैं, एक को वृहत मस्तिष्क (Fore-brain or Cerebrum) और दूसरे को लघु मस्तिष्क (Hind-brain or cerebellum) कहते हैं।

सन्मुख के चित्र से ज्ञात होता है,कि वृहत मस्तिष्क मनुष्य के कपाल के भीतर ललाट (Forhead) से आरम्भ होकर

चित्र ८.

मस्तिष्क का भीतरी भाग

The under surface of the brain.



कर्ण के पश्चात् भाग (rear of the ear) तक फैला हुआ है, इसके दो समान अर्धाकार गोल टुकड़े हैं, एक दक्षिण ओर दूसरा वाम ओर, यह गोलार्ध (Hemisphere) कहलाते हैं, इन दोनों के मध्य में एक अन्तर है, जो दक्षिण और वाम गोलार्ध को एक दूसरे से विभक्त करता है, इस अन्तर के भीतर श्वेत नाडी सूत्रों के तार दोनों गोलार्धों के आर पार जाते हुए इन को परस्पर मिलाए रखते हैं और महासंयोजक (Corpus callosum or hard body) कहलाते हैं।

वृहत् मस्तिष्क के ऊपर के भाग में एक धूसर पदार्थ (Grey matter) है, जिसकी पृष्ठ (Surface) पर पर्वत की ऊंची नीची शिखर के समान उभार और घाइयां पड़ी हुई हैं, यह उभार चक्राङ्क (Cyrus or Convolution) और घाइयां सीता (Sulcus) कही जाती हैं, जिस मनुष्य के मस्तिष्क में जितनी गहरी सीतायें होंगी, उतना ही वह जन बुद्धिमान् होगा, मस्तिष्क के भार का बुद्धि के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं।

वृहत् मस्तिष्क के धूसर भाग (वल्क) के नीचे के भाग में श्वेत पदार्थ (White matter) प्रतीत होता है, धूसर पदार्थ वात सेलों (Nerve cells) और श्वेत पदार्थ वात सूत्रों (Nerve fibres) से बना है, धूसर भाग श्वेत भाग के ऊपर फैला हुआ है और यह सामान्यतः $\frac{1}{8}$ इंच के लगभग मोटा होता है, परन्तु इसका अगला भाग (ललाट के पास का भाग) पिछले भाग से अधिक चौड़ा और मोटा होता है, बुद्धिमान् मनुष्य की अपेक्षा मूर्ख में इसकी मोटाई कम होती है।

बृहत् मस्तिष्क के प्रत्येक गोलार्धं में, जो बीच से खोखला होता है, एक टेढ़ा सा कोष्ठ (Irregular ventricle) होता है, प्रत्येक कोष्ठ में कुछ थोड़ा तरल पदार्थ (Cerebro-spinal fluid) रहता है, यह तरल मस्तिष्क की, बाहिर के अकस्मात् पड़ने वाले हानिकारक प्रभाव या आघात से रक्षा करता है, और यदि यह तरल पदार्थ मर्यादा से अधिक बनने लगे, तो इस से कोष्ठों के फैल कर बढ़ जाने से मस्तिष्क का आकार भी बढ़ जाता है, जिस के कारण मनुष्य पागल हो जाता है, या उसमें मूर्खता आ जाती है।

लघु मस्तिष्क बृहत् मस्तिष्क के पिछले अर्धभाग के नीचे छिपा रहता है, और आकार में उससे बहुत छोटा होता है। इस के भी दो गोलार्ध होते हैं, जिन के मध्य में इसका ऊपर को उभरा हुआ भाग होता है, इस के भी ऊपर के भाग में धूसर पदार्थ और भीतर के भाग में श्वेत पदार्थ रहता है। धूसर भाग वात सेलों और श्वेत भाग वातसूत्रों से बना है, इसके धूसर भाग में चक्राङ्क और सीतायें दृष्टिगोचर होती हैं, यह सीतायें बृहत् मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक गहरी और पास २ रहने वाली होती हैं, इन में परस्पर अन्तर एक समान होता है।

लघु मस्तिष्क के सन्मुख महराब के समान अधिकतर वात-सूत्रों से बना हुआ श्वेत वर्णका एक भाग है, जिसको सेतु कहते हैं, इस सेतु की पिछली ओर कपाल के भीतर मस्तिष्क का एक भाग जो लघु मस्तिष्क के अन्तिम भाग और मेरुदण्ड के आरम्भिक भाग से जुड़ा हुआ है, वह सुषुम्ना शीर्षक

(Medulla spinalis or medulla oblongata) कहलाता है, प्रायः इसको तीसरा मस्तिष्क कहा जाता है, सुषुम्ना, रज्जु के समान गोल और लम्बी नाडी मेरुदण्ड के भीतर रहती है, इस का आरम्भ सुषुम्ना शीर्षक के अन्तिम भाग से हुआ है, और मेरुदण्ड के इक्कीसवें कशेरु तक चली गई है,तत्पश्चात् एक श्वेत सूत्र का आरम्भ होता है. जो गुदास्थि से जाकर मिल जाता है, इसका ज़रा सा आरम्भिक भाग वात तन्तुओं से और शेष भाग वात सूत्रों से बनता है, सुषुम्ना का आकार ऊपर से नीचे तक एक जैसा नहीं होता, ग्रीवा प्रदेश में यह सब से मोटी, इस से कम मोटी वक्षःस्थल के निचले भाग में और मध्य भाग में सब से पतली होती है, इसमें श्वेत पदार्थ ऊपर और धूसर पदार्थ नीचे होता है. श्वेत भाग सूत्रों से और धूसर भाग सेलों से बनता है, मस्तिष्क के समान सुषुम्ना के भीतर में भी ज़रा सा तरल पदार्थ रहता है, इस नाली का मेल मस्तिष्क के चौथे कोष्ठ से होता है, और इसके मध्य में इसका मुख एक छिद्र के रूप में दृष्टिगोचर होता है, मस्तिष्क के समान इसके भी बाह्य, मध्य और अंतिम तीन आवरण (Sheaats) होते हैं, इन आवरणों के बीच में अन्तर भी होता है, जिस में तरल पदार्थ रहता है, मस्तिष्क का अन्तिमावरण उस की सीताओं में भी घुसा रहता है।

मनुष्य के पृष्ठ वंश के दोनों ओर दो सरल (सीधी) नाडियां विद्यमान हैं, प्रत्येक नाडी में थोड़े २ अवकाश पर ग्रन्थियां पड़ी हुई हैं, जिन को नाडी गण्ड (Ganglia)

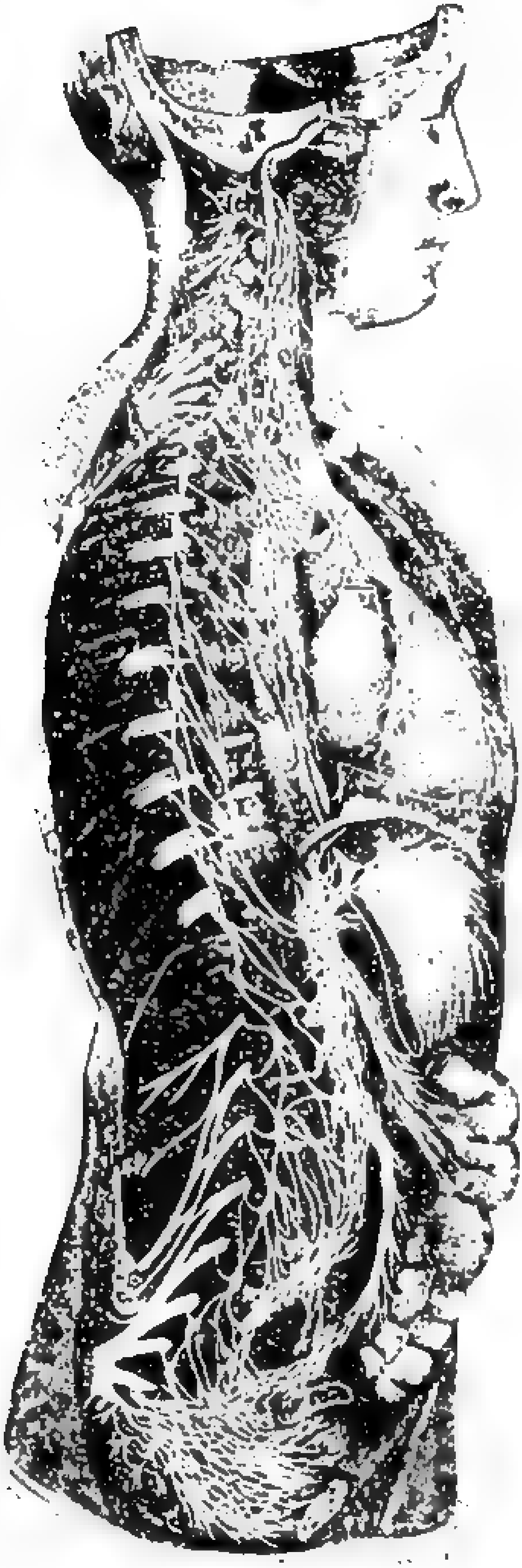
कहते हैं, और प्रत्येक नाडी गण्ड श्रृङ्खला कहलाती है, इस के गण्ड कुछ पिङ्गल वर्ण होने के कारण, यह नाडी भाग पिङ्गल नाड़ी मण्डल (Sympathetic nervous system) कहलाता है और इस मण्डल से निकली हुई नाडियों को पिङ्गला नाडियां कहते हैं,किन्तु जो पिङ्गला नाडियां पाचक विभाग(Digestive System) से सम्बन्ध रखती हैं, वह इडा नाडियां (Splanchnic nerves) कही जाती हैं।

इन गण्ड श्रृङ्खलाओं से भिन्न कुछ नाडी गण्ड मस्तिष्क, वक्षःस्थल और उदर प्रदेश में रहने वाले इसी मण्डल के अन्तर्गत समझे जाते हैं।

यह नाडी गण्ड मस्तिष्क में चार २ दोनों ओर और एक इसके सामने, ग्रीवा में दोनों ओर तीन २, वक्षस्थल में बारह २, कटिप्रदेश में चार २, वस्तिगह्वर (Pelvis) में पांच २ हैं और एक गुदास्थि (Coccyx) के सन्मुख है।

यह दोनों श्रृङ्खलायें, मस्तिष्क और गुदास्थि के सामने वाले दोनों गण्ड, एक दूसरे की सीध में विद्यमान हैं, और दायें और बायें भाग की श्रृङ्खलाओं को परस्पर मिलाकर इनका आकार माला के समान बना देते हैं।

यह नाडी गण्ड बहु क्षुद्र सेलों तथा वात सूत्रों का समूह है, इनका सम्बन्ध सौषुम्न अथवा श्वेत मस्तिष्क नाड़ियों से और धूसर वात सूत्रों से होता है, यह सूत्र सम्बन्धक (Rami communicates) कहे जाते हैं, और शृंखला के



पिङ्गल नाडी मण्डल

Sympathetic nervous system.

भीतर व बाहिर रहने वाले गण्डों को भी परस्पर मिलाते हैं, इस प्रकार सारे शरीर में इन गण्डों और सूत्रों का एक जाल बिछा रहता है, मस्तिष्क और सौषुम्न नाड़ियों के सूत्र ऐच्छिक पेशि मण्डल में सीधे ही जाते हैं, परन्तु इनको अनैच्छिक पेशि मण्डल में इन गण्डों में होकर जाना पड़ता है, ऐच्छिक पेशियों की गति श्वेत सूत्रों द्वारा और अनैच्छिक पेशियों की धूसर सूत्रों द्वारा होती है।

सूक्ष्म २ सूत्रों (तारों) के परस्पर मेल से नाडी बनती है, यह सूत्र श्वेत और धूसर दो प्रकार के होते हैं, इनकी उत्पत्ति वात सेलों से होती है, सेल से निकलने वाले तार को सूत्राक्ष (axis cylinder) कहते हैं, यह कई सूक्ष्म तारों के मिलने से बनता है, इसके ऊपर एक प्रकार के स्नेह पदार्थ का चढा हुआ गिलाफ़, मैदस पिधान (Myelin sheath) कहलाता है, जिस के ऊपर रहने वाली पतली सी झिल्ली को कला (sheath) कहा जाता है।

धूसर सूत्र में मैदस पिधान नहीं होता, यह श्वेत सूत्र की अपेक्षा आधा मोटा और अधिक स्वच्छ होता है।

मैदस पिधान सूत्रों के प्रत्येक समूह को परस्पर मिलाए रखता है, और कला के द्वारा भिन्न २ समूह आपस में मिले रहते है, धूसर तार केवल कला से ही आपस में जुड़े रहते हैं।

जो नाडियां पेशीमण्डल में गति उत्पन्न करती हैं, वह चालक नाडियां (Motory nerves) कही जाती हैं। जिनके द्वारा किसी प्रकार का बोध या ज्ञान होता है, उनको सांवेदनिक नाडियां (Sensory nerves) कहते हैं।

जो नाडियां मस्तिष्क और सुषुम्ना से निकली हैं, उन में से हर एक का एक २ जोड़ा होता है, और हर एक जोड़े की प्रत्येक नाडी शरीर के एक २ ओर जाती है।

मस्तिष्क से नाड़ियों के ऐसे १२ जोड़े निकलते हैं, जो इसके पूर्व भाग से पीछे की ओर जाते हैं, इनको मस्तिष्क नाडियां (Cranial nerves) कहते हैं।

प्रथम जोड़ा—घ्राण नाडियां (Olfactory nerves)—यह धूसर सूत्र युक्त सांवेदनिक नाड़ियां घ्राणेन्द्रिय (Nose) के द्वारा गंध का बोध कराती हैं।

दूसरा जोड़ा—दृष्टि नाडियां (Optic nerves)—रूपेन्द्रिय (Eyes) के द्वारा सांवेदनिक नाडियां मनुष्य को वस्तु के रूप और आकार का ज्ञान कराती हैं।

तीसरा, चौथा और छठा जोड़ा—चालक नाडियां, यह नाड़ियां नेत्रों की पेशियों की गति से सम्बन्ध रखती हैं।

पांचवां जोड़ा—इस नाड़ी के प्रत्येक जोड़े की तीन शाखायें हैं, पहली शाखा सांवेदनिक है, और नेत्र तारा (Eye-ball) पर इसके द्वारा प्रकाश का प्रभाव पड़ता है, दूसरी शाखा भी सांवेदनिक है, और इसका असर नासिका (Nose), मसूडों (Gums) और कपोलों (Cheeks) पर होता है।

तीसरी शाखा कुछ चालक और कुछ सांवेदनिक है, इसका प्रभाव जिह्वा के अग्र भाग (Tip of the tongue), कपोलों के भीतरी भाग, दन्त और कर्णों के बाहिर के पर्दे (scalp) पर होता है, यह नाडी मस्तिष्क नाडियों में सब से बड़ी है।

सातवां जोड़ा—मौखिकी नाडियां (Facial nerves), इनका सम्बन्ध मुख का गतियों से है।

आठवां जोड़ा—श्रावणी नाडियां (Auditory nerves) यह कर्णों द्वारा श्रुति (Sound) का ज्ञान कराती है।

नवमां जोड़ा—जिह्वा कण्ठ नाडियां—इसकी दो शाखायें हैं, एक जिह्वा के मूल भाग (Back part of the tongue) को रस (taste) का बोध कराती है और दूसरी ग्रास को कण्ठ से भीतर ले जाने वाली पेशियों को गति देती हैं।

दसवां जोड़ा—सांवेदनिक और चालक—इनका सम्बन्ध स्वरयन्त्र (Larynx), कण्ठ (Throat), आमाशय (Stomach); यकृत (Liver) हृदय (Heart), और फुफस (Lungs) से है।

ग्यारहवां जोड़ा—यह ग्रीवा और पृष्ठ की पेशियों को गति देती हैं।

नवमां, दसवां और ग्यारहवां, इन सब जोड़ों का उत्पत्ति स्थान सुषुम्ना शीर्षक (Medulla oblongata) हैं।

बारहवां जोड़ा—जिह्वाधोवर्ती नाडियां (The hypoglossal nerves)—जिह्वा की उन पेशियों को गति देती हैं, जिन का सम्बन्ध वार्तालाप (Speech) से है।

यह नाडियां कशेरुकाओं के बीच में सूक्ष्म छिद्रों द्वारा बाहिर जाती हैं, प्रत्येक नाडी सुषुम्ना से इस के पूर्वमूल (अगले भाग) और पाश्चात्य मूल (पिछले भाग) द्वारा जुड़ी रहती है, पूर्व मूल से निकली हुई तारें पेशियों की गति

से सम्बन्ध रखती हैं और चालक नाडियां हैं, पाश्चात्य मूल से निकलने वाली नाडियां सांवेदनिक हैं।

यह सब नाडियां शाखा प्रति शाखा में विभक्त होती हुई सारे शरीर में नाडियों का जाल फैलाती हुई सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों में घुस जाती हैं।

नाडियों की गणना इन के देश (Place) भेद से निम्न लिखित प्रकार से होती है:—

८ ग्रीवा नाडियां (Cervical nerves)
१२ वक्षस्थ नाडियां (Dorsal nerves)
५ कटिस्थ नाडियां (Lumber region nerves)
५ त्रिकस्थ नाडियां (Sacral nerves)
१ चंचुदेशीय नाडी (Coccygeal neraves)

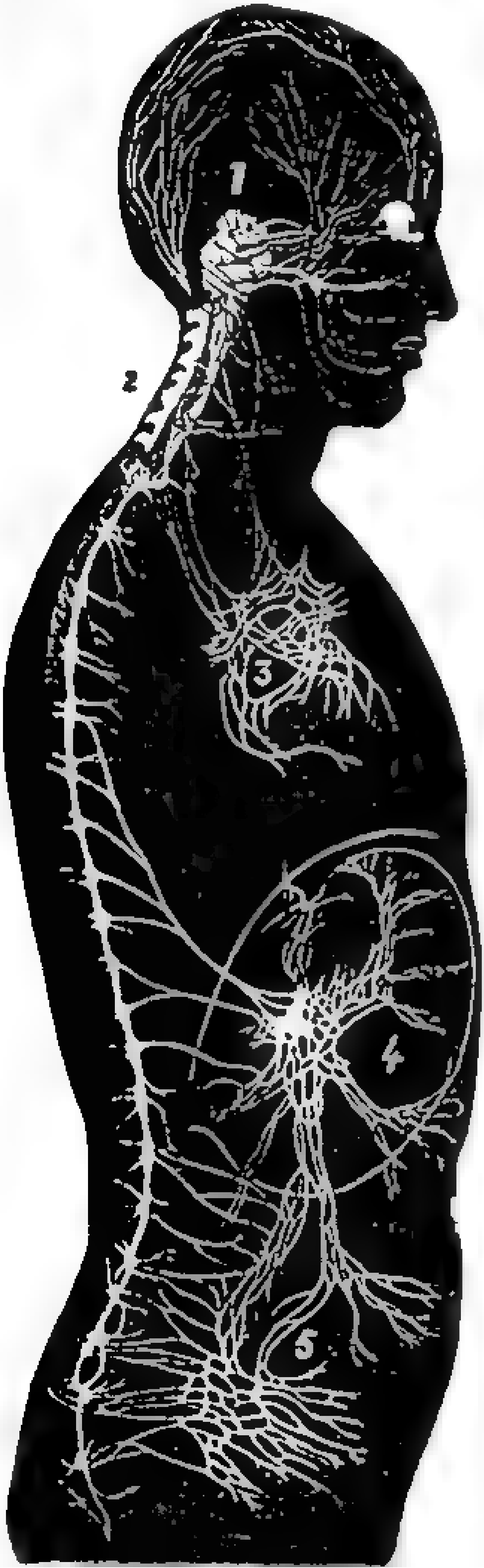
सुषुम्ना नाडी की पूर्वमूल शाखाओं में परस्पर मेल हो जाता है, और एक में से कुछ नाडी सूत्र निकल कर दूसरी शाखा में चले जाते हैं, अथवा दो या अधिक शाखायें मिलकर एक नाडी समूह बना देती हैं, इस समूह से फिर और नई शाखायें निकलती हैं, इस प्रकार के नाडियों के मेल को नाडी जाल (Plexus) कहते हैं, ऐसे पांच मुख्य जाल हमारे शरीर में विद्यमान हैं।

पहिला ग्रैवेयी नाडी जाल (Cervical plexus), इस की रचना ग्रीवा की पूर्वमूल नाडियों की पहिली चार शाखाओं से होती है, इस जाल में कुछ चालक नाडियां निकल कर ग्रीवा और आस पास की पेशियों को गति देती हैं, और कुछ

चित्र १०.

मस्तिष्क नाड़ियां तथा नाड़ी जाल

Cranial nerves and nerve plexuses.



१. ग्रैवेयी नाड़ी जाल

1. Cervical plexus.

२. भुजा नाड़ी जाल

2. Brachial plexus.

३. हृदय नाड़ियां

3. Cardiac nerves.

४. कटि नाड़ी जाल

4. Lumber plexus.

५. त्रिक नाड़ी जाल

5. Sacral plexus.

६. जननेन्द्रिय संबन्धि चक्र नाड़ी जाल

6. Pudendal plexus.

सांवेदनिक नाडियां ग्रीवा और इस के आस पास की त्वचा को स्पर्श (Touch) का बोध कराती हैं।

इस जाल की एक वक्ष-उदर-मध्यस्थ नाडी (Phrenic nerve) हृदय की ओर (Pericardium) से वक्ष-उदर-मध्यस्था पेशी (Diaphragma muscle) को गति देती है।

ग्रीवा की शेष चार नाडियों की पूर्व शाखाओं और वक्षःस्थल की पहिली नाडी की पूर्व शाखा से दूसरा भुजा जाल (Brachial plexus) बनता है. इस से निकली हुई शाखायें भुजा के कई भगों से सम्बन्ध रखती हैं।

तीसरा कटिजाल (Lumber plexus)—इस के बनाने के लिये वक्षःस्थल की १२ वीं और कटि की पहिली चार नाडियों से निकली हुई शाखाएं भाग लेती हैं, इन का सम्बन्ध कटि तथा उरु से होता है।

चौथा त्रिक या स्कथि जाल (Sacral plexus)—इस जाल की रचना में कटि की अन्तिम दो और पहिली तीन त्रिक नाडियों की शाखायें संयुक्त होती हैं। इस जाल की शाखायें कटि प्रदेश से निचले अङ्गों को जाती हैं।

पांचवां जननेन्द्रिय सम्बन्धी जाल (Pudendal plexus)-यह जाल अन्तिम दो त्रिक नाडियों और चचुं नाडी की शाखाओं के मेल से बनता है, और गुदा, मूत्राशय (Bladder), शिशन और जननेन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है।

पहिली के बिना शेष वक्षःस्थल की ग्यारह नाडियों की पूर्व शाखायें पसलियों के भीतर रहती हैं, इसी से इन को पर्शुकान्तरिक नाडियां (Inter costal nerves) कहते हैं, इन का सम्बन्ध पिङ्गला नाडी मण्डल से भी है, इनकी शाखायें

वक्ष की त्वचा तथा पसलियों की पेशियों, उदर की दीवार तथा सामने के भाग की त्वचा और पेशियों को जाती हैं ।

इस समय तक नाड़ी मण्डल की रचना का अत्यन्त सूक्ष्म रीति से वर्णन किया गया है, अब इन के कार्य की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है ।

पूर्वोक्त केन्द्र त्यागी तार, जिन का उत्पत्ति स्थान मस्तिष्क अथवा शुषुम्ना नाडी का भीतरी भाग है, दो प्रकार के हैं, एक वह जिन का सम्बन्ध ऐच्छिक पेशियों से है, और दूसरे वह जो अनैच्छिक पेशियों को गति देते हैं, हर एक नाडी सूत्र का उत्पत्तिस्थान उस का केन्द्र कहलाता है, और जहां उस ने पहुंचना है, वह उस का इष्ट प्रदेश कहा जाता है, जब कोई केन्द्र बड़ा हो अथवा दूर तक फैला हो, तो उस को क्षेत्र कहते हैं ।

अनैच्छिक पेशियों को गति देनेवाले तार को अपने उत्पत्ति स्थान से इष्ट प्रदेश की ओर जाते हुए पिङ्गला नाडी मण्डल के किसी न किसी गण्ड में से अवश्य हो कर जाना पड़ता है, किन्तु ऐच्छिक पेशियों को गति देने के लिए यह तार उत्पत्ति स्थान से सीधा अपने इष्ट प्रदेश पर जा पहुंचता है ।

केन्द्र गामी तार शरीर के भिन्न २ अङ्गों से रूप, रस, गंध सुख, दुःख, शीत उष्णता इत्यादि की सूचना सीधा या सुषुम्ना द्वारा मस्तिष्क के विशेष २ केन्द्रों में ले जाते हैं ।

बृहत् मस्तिष्क के वाम ओर (Left side)

से निकलने वाली नाडियां शरीर के दक्षिण भाग (Right side) पर राज्य करती हैं, और दक्षिण ओर से निकलने वाली नाडियां शरीर के वाम भाग पर शासन करती हैं।

इन भिन्न २ केन्द्रों को आपस में एक दूसरे के कार्य से सूचित करने के लिए संयोजक नाड़ी सूत्र हैं, जिस से यह केन्द्र स्वतन्त्र अपना २ कार्य करते हुए भी, समय २ पर एक दूसरे से मिल कर काम कर सकते हैं।

नाडी सूत्र जिस मार्ग से सूचना एक स्थान से दूसरे में ले जाते हैं, उस मार्ग को गति पथ (Motor path) कहते हैं, और जहां से गति उत्पन्न होती है, वह स्थान गति केन्द्र (Motor area) कहलाता है।

हमारे शरीर में किसी गति के उत्पन्न होने पर उस स्थान की एक ओर की पेशियां संकोच करती हैं और दूसरी ओर की फैलती हैं, इन की संकोच तथा प्रसार की क्रिया को ठीक ठीक मर्यादा में रखना लघुमस्तिष्क का काम है, इस कार्य को करने के लिए लघुमस्तिष्क की वाम ओर की सेलों से निकल कर कुच्छ सूत्र वृहत् मस्तिष्क के दक्षिण गति क्षेत्र में पहुंचते हैं, जिससे शरीर के वाम पक्ष में गति उत्पन्न होती है, और कुछ दक्षिण भाग से वृहत् मस्तिष्क के वाम गति क्षेत्र में जाते हैं, जिस से गति शरीर के दक्षिण भाग में उत्पन्न होती है, इस से स्पष्ट हुआ कि लघुमस्तिष्क के दायें भाग का वहत् मस्तिष्क के बायें भाग के गति क्षेत्र और शरीर के दायें भाग के पेशी-मंण्डल की गतियों से सम्बन्ध है, और इस के बायें भाग का

वृहत् मस्तिष्क के दायें भाग और शरीर के बायें भाग की गतियों पर अधिकार है. यदि लघुमस्तिष्क में कुछ विगाड़ पैदा हो जाए, तो शरीर की गतियां बेढंगी होने लगती हैं।

कुछ सांवेदनिक तन्तु कर्ण की अर्धचक्राकार नालियों, पेशियों, संधियों, त्वचा तथा नेत्र द्वारा वृहत् मस्तिष्क को जाते हुए लघु मस्तिष्क में समाचार देने के लिये पहुंचते हैं. और वह उनकी सूचना के अनुसार अभीष्ट पेशियों में गति उत्पन्न करने के लिये गति क्षेत्र को आज्ञा देता है. जिस से शरीर की गतियों में साम्यस्थिति (Equilibrium) स्थिर रहती है।

ऊपरोक्त वर्णन से पता लगता है, कि शरीर में जितनी गतियां हमारे ऐच्छिक पेशी मण्डल में होती हैं, वह सब लघु मस्तिष्क से आज्ञा प्राप्त करने पर होती हैं, किन्तु कई बार शरीर में कोई २ गति मस्तिष्क को बोध होने और उसकी आज्ञा पहुंचने से पहले ही सुषुम्ना नाड़ी की आज्ञा द्वारा ही हो जाती है, इस लिये बिना हमारी इच्छा के स्वयमेव पेशियां चेष्टा करने लगती हैं, इस क्रिया को प्रत्यावर्तन अथवा प्रत्या· वर्तित क्रिया (Reflex action) कहते हैं।

इस अवस्था में क्रिया पहिले हो जाती है, और मस्तिष्क को इस का ज्ञान पीछे होता है। जैसे कि मनुष्य के चलते २ नङ्गे पांव में अकस्मात् कण्टक चुभ गया, पांव बिना मस्तिष्क की आज्ञा प्राप्ति के झट पीछे हटा, फिर हाथों ने मस्तिष्क की

आज्ञा से उस कण्टक को पैर से निकालना आरम्भ किया; पैर में काण्टा चुभते ही वहां की सांवेदनिक तारें मस्तिष्क को इस की सूचना देने के लिये जाते हुये जब सुषुम्ना में पहुंचीं, तो सुषुम्ना के सेलों ने कुछ सांवेदनिक तन्तु तो मस्तिष्क को समाचार देने के लिये भेज दिये और साथ ही कुछ चालक सूत्र पैर में यथावश्यक गति उत्पन्न करने के लिये भेज दिये, सुषुम्ना की चालक तारों ने पैर की पेशियों को गति की आज्ञा दी जिस से पैर तुरन्त ही पीछे हटा, इतने में मस्तिष्क को पैर में कण्टक चुभने और सुषुम्ना के सांवेदनिकतारों के वहां पहुंचने की सूचना मिल गई, तब वहां से चालक तन्तुओं ने हाथों में पहुंच कर पेशियों को विशेष प्रकार की क्रिया करने की आज्ञा दी और हाथों ने पैर से काण्टा निकाला, हाथों की क्रिया से पहिले जो पैरों में गति हुई, यह प्रत्यावर्तित क्रिया के कारण हुई।

ऊपरोक्त वर्णन से पता लगता है कि नाड़ी मण्डल की उपयोगता और महत्ता मनुष्य शरीर में कितनी है, और इस की शक्ति से ही शरीररूपी यन्त्र का कार्य चलता है, मानों शरीर रूपी गाड़ी में यह एक इञ्जन है, जो बिजली से काम करता है, या कहो कि बिजली का तार घर है. जिस के मुख्यस्थान मस्तिष्क और सुषुम्ना के केन्द्र हैं, जहां से संदेश सारे शरीर में आते जाते हैं, योग की दृष्टि से यह नाडी-केन्द्र और शरीर में फैली हुई सूक्ष्म नाड़ियां, चित्त और इस की वृत्तियां हैं, जिन का निरोध पातञ्जल दर्शन का ध्येय है, इनकी शक्ति, आत्मिक

शक्ति है, जो अनन्त और अगम्य है, यही शक्ति सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक होकर विश्व शरीर को गति देती है, और यही अण्डकोश (मनुष्य शरीर) में व्यापक होकर इस को चलाती है, इसी की उन्नति का नाम वास्तव में आत्मिक उन्नति है, इस की उन्नति से शरीर के सब विभाग उन्नत होते हैं,और इसकी अवनति से अवनत होते हैं. हमारे अस्थिमण्डल और पेशी-मण्डल को ठीक अवस्था में रखने वाली और पाचकविभाग तथा रक्तवाही विभाग इत्यादि को मर्यादा में रखने वाली यही नाड़ी शक्ति है, इस को उन्नत करने से मनुष्य संसार का यथायोग्य व्यवहार करता हुआ भी कैसे शरीर को व्याधि और वृद्धावस्था से मुक्त करके मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है. कैसे कम से कम चार सौ वर्ष पर्यन्त युवावस्था को स्थिर रख सकता और वृद्धावस्था को कैसे पुनः तरुणावस्था में बदल सकता है और इस नाड़ी मण्डल की चेतना शक्ति के अद्भुत बल का स्थान कहां है, इस के विषय में जो मेरा अनुभव है, उस को पाठकों के सन्मुख उपस्थित करना मेरा मुख्य उद्देश्य है; जिस का वर्णन इस पुस्तक के आगामी पृष्ठों में होगा ।

ग्रन्थि (Gland)

सेलों के एक समूह को जिस का काम किसी प्रकार का रस बनाने का हो उस को ग्रन्थि कहते हैं, आवश्यकतानुसार यह रस शरीर में रहता है, या शरीर से बाहर निकल जाता है, जिन ग्रन्थियों का रस किसी प्रणाली द्वारा दूसरे स्थान में पहुंचता है उन को प्रणाली सहित ग्रन्थियां कहते हैं, और जिन का रस उसी स्थान में लसीका नाड़ी (Lymphatic vessel) द्वारा रक्त में मिल कर संपूर्ण शरीर के लिये उपयोगी होता है, वह प्रणाली विहीन ग्रन्थियां (Ductless or endocrine glands) कहलाती हैं, कई ग्रन्थियां ऐसी भी हैं जो दोनों प्रकार का काम करती हैं।

मुख्य ग्रन्थियां निम्न लिखित हैं:-

(१) लाला ग्रन्थियां (Slivary glands)-मनुष्य के मुख में वाम और दक्षिण ओर, और जिह्वा के नीचे ६ ग्रन्थियां हैं, जो लार या थूक बनाती हैं, जो नलियों द्वारा मुख में आता है, और भोजन में मिल कर उसके कुच्छ अंश को पचाता है।

(२) आम रस ग्रन्थियां (gastric glands)—यह ग्रन्थियां आमाशय (Stomach) में हैं, जिन से आम रस (gastric juice) निकल कर भोजन करने के समय उस में मिल जाता है, और पचन क्रिया में सहायता करता है।

(३) यकृत (liver) यह ग्रन्थि वक्षस्थल में दायें फुफ्स (lung) और हृदय के नीचे, उदर (abdamen) के ऊपर और

आमाशय के सन्मुख, पसलियों के भीतर विद्यमान है, और शेष सब ग्रन्थियों से बड़ी है। इस के ऊपर, नीचे, सामने, पीछे और दाईं ओर पांच पृष्ठ (lobs or parts) होते हैं. नीचे का पृष्ठ सब से चौड़ा, बड़ा और कुछ सपाट होता है, इस में पांच गढ़हे होते हैं, एक में पित्ताशय (gall bladder) रहता है, जिस में यकृत का पित्त (bile) नामक रस एकत्र रहता है, इसमें से एक पिताशयायिक नली (Cystic duct) निकलती है।

यकृत के दायें और बांयें भाग में दो नलियां निकलती हैं, जिनको पित्त स्रोत (Pepatice duct) कहते हैं. यकृतद्वार (वह स्थान जहां से पित्त पित्ताशय में जाता है) में दोनों पित्त स्रोत परस्पर मिल जाते हैं, जिसका नाम संयुक्त पित्तस्रोत हो जाता है, इसके और पित्ताशयिक नली के मेल से पित्तप्रणाली (bile duct) बनती है, इसके द्वारा पित्त पक्वाशय (duodenum) में उस समय पहुंचता है, जब भोजन आमाशय (stomach) से इस स्थान में पहुंचने लगता है, अन्यथा यह पित्ताशय में एकत्र रहता है।

दूसरा काम यकृत यह करता है, कि क्षुद्र आंत से आये हुये, पचे हुये भोजन के कुछ अंशों (शक्कर इत्यादि) में परिवर्तन करके शरीर के उपयोगी बना कर एकत्र रखता है, जो आवश्यकता पर भिन्न २ अङ्गों के काम आते हैं।

एक और काम भी यकृत करता है, कि जब रक्त सारे शरीर से, मरे हुये मांस सूत्रों (tissues) को यकृत में ले जाता है, तो वह इन को यूरिया (urea) में बदल कर गुर्दों (kid-

neys) के पास भेज देता है, और गुरदे रक्त में से यूरिया को पृथक करके मूत्र के रूप में शरीर से बाहिर निकलने के लिये मूत्राशय (bladder) में भेज देते हैं।

यदि यकृत अपना कार्य पूर्णरीति से न करे तो कई प्रकार के मूत्र के रोग और जोड़ों की दर्द इत्यादि पैदा हो जाते हैं, ठीक भोजन न सेवन करने या अधिक आहार करने से भी यकृत में दोष आजाता है।

(४) क्लोम ग्रन्थि (pancreatic gland)—यह ग्रन्थि पृष्ठवंश के सन्मुख आमाशय और वृहत् अन्त्र (colon) के ऊपर के भाग के पीछे है, इस का रस भी पक्वाशय में प्रणाली के द्वारा उसी स्थान में गिरता है, जहां कि यकृत का पित्त, और भोजन के पचाने में सहायकारी होता है, क्लोम प्रणाली (Pancreatic duct) क्लोम स्रोतों (Pancreatic small ducts) के परस्पर मेल से बनती है, और स्रोत पतली २ नालियों के रूप में क्लोम के विविध भागों से निकलते हैं, क्लोम रस (Pancreatic juice) की शक्ति पित्त व अन्त्रीय रस (intestinal juice) के मेल से बहुत अधिक हो जाती है।

(५) वृक्क या गुर्दे (Kindneys) यह दो ग्रन्थियां पृष्ठवंश के वाम तथा दक्षिण भाग में उदर की पिछली ओर रहती हैं, इन का काम मूत्र बनाना है, यह अनेक, लम्बी, पतली और थोड़ी सी चौड़ी नलियों का समूह रूप हैं, प्रत्येक नली का आरम्भिक भाग मोटा, गेन्द के समान फूला हुआ और भीतर को दबा हुआ होता है, कई नलियां मोड़ खाती हुई एक स्थान

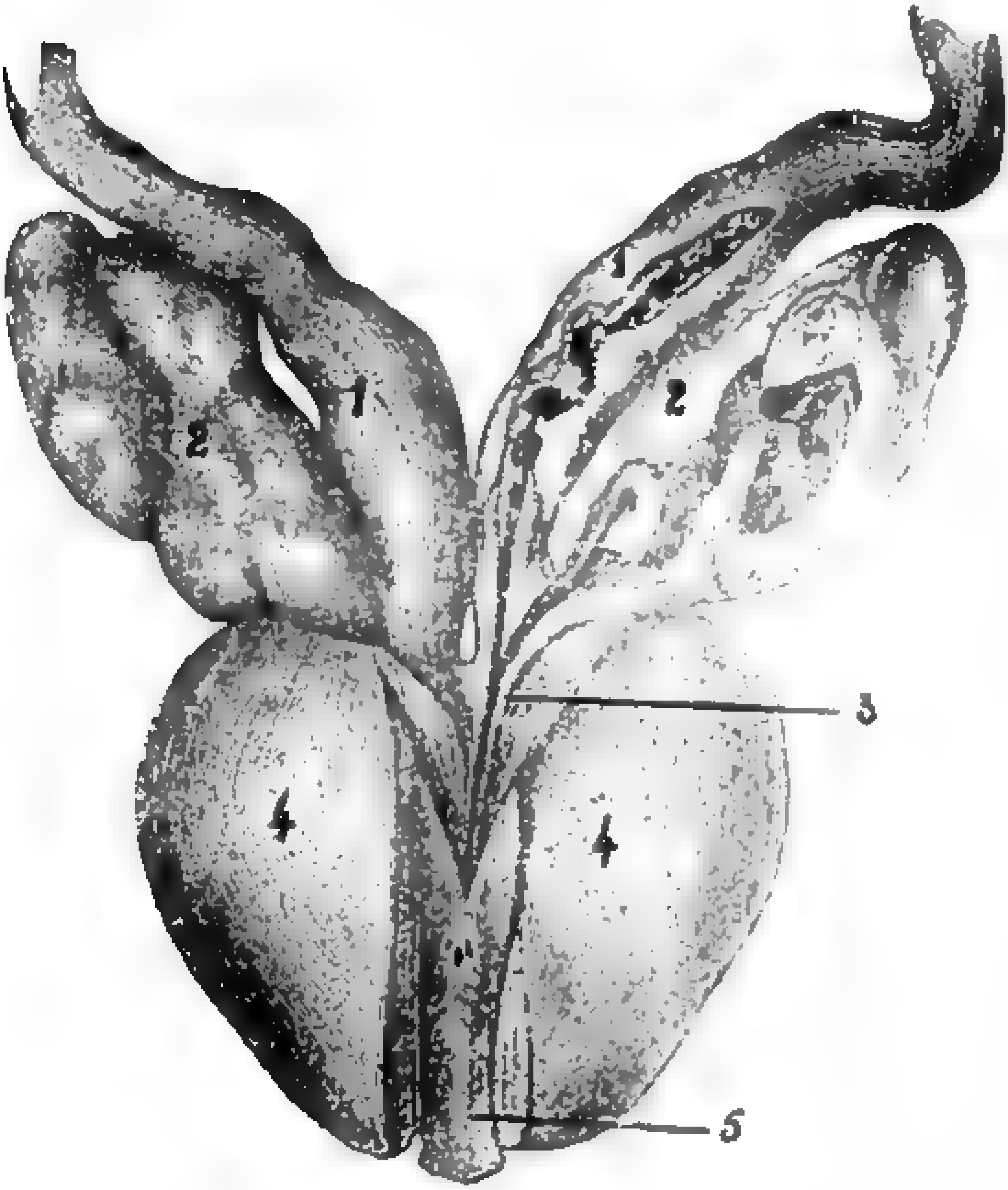
में मिलकर एक बड़ी नली बन जाती हैं, फिर इन कई बड़ी नलियों के मेल से अन्य बड़ी नलियां बनती हैं, इन बड़ी नलियों के समूह वृक्क के मीनार कहे जाते हैं, और मीनारों के केन्द्र नलियों के मुख हैं, जहां से मूत्र निकल कर क्रमशः मूत्रप्रणाली (ureter) द्वारा मूत्राशय (urinary bladder) में पहुंचता है।

वृहत् धमनी (Aorta)की दो शाखाएं रक्त को दोनों गुर्दों में ले जाती हैं, जहां पहुंच कर इन दोनों की अनेक २ शाखायें होकर प्रत्येक शाखा गुर्दे की प्रत्येक नली के फूले हुए और भीतर को दबे हुये भाग में चली जाती है, जहां प्रत्येक रक्त नली केशिका (capillary) का झुण्ड बन जाती है, इन की दीवारों में से रक्त में से जल का अंश चूकर गुर्दे की नली के फूले हुये भाग की दीवार के द्वारा भीतर चला जाता है। और शनैः २ छोटी २ व बड़ी २ नलियों में से होता हुआ मार्ग में यूरिया इत्यादि पदार्थ साथ लेकर गुर्दे की दीवारों में पहुंचता है, और वहां से दोनों गुर्दों की दोनों मूत्रप्रणालियों के द्वारा बिन्दुशः (drop by drop) मूत्राशय मे टपकता रहता है, और जब मूत्राशय मूत्र से भर कर फूल जाता है, तो मनुष्य को मूत्र बाहिर निकालने की आवश्यकता होती है।

मूत्राशय वस्तिगह्वर (pelvis) में विटप सन्धि (Pubic symphysis) या भग सन्धि (symphysis Pubic) के पीछे के स्थान में स्थित है, पुरुषों में इस के पीछे बिलकुल इस के साथ मिले हुये दो शुक्राशय (Seminal vesicle) हैं, और इनके पीछे मलाशय (Rectum) स्थित है, और स्त्रियों में

चित्र १८.

II. नर जननेन्द्रियां—Male generative organs,



1. शुक्रप्रणाली का अन्तिम मोटा भाग—Ampulla of the Seminal duct.
2. शुक्राशय—Seminal vesicle.
3. शुक्र स्रोत—Ejaculatory duct.
4. प्रोस्टेट ग्रन्थि—Prostate gland.
5. मूत्र मार्ग—Urethra.

मूत्राशय के पीछे गर्भाशय (uterus) और इस के पीछे मलाशय रहता है, इन का विशेष वर्णन ब्रह्मचर्य के विषय पर लिखते हुए किया जायेगा।

यदि मनुष्य के वृक्क तथा उपवृक्क ठीक २ काम न कर सकें तो मधुमेह (Diabetes) इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(६) शुक्र-ग्रन्थि या अण्ड (Testicle)–मनुष्य के शिश्न (Penis) के नीचे एक थैली सी है, जिस को अण्डकोष या वृषण (Scrotum) कहा जाता है, यह एक परदे के द्वारा दो भागों में विभक्त है. दोनों भागों में एक २ अण्ड (Testicle) रहता है, जिस का आकार कुछ कुक्कुटी के अण्डे के समान है।

अण्ड के पिछले किनारे से एक पिण्ड मिला हुआ है, जो उपाण्ड (Epididymis) कहलाता है,इसके ऊपर के मोटे सिरे को शिर नीचे के पतले सिरे को पुच्छ और मध्य के भाग को गात्र (body) कहते हैं।

शुक्र-ग्रन्थी के तीन सौ के लगभग कोष्ठों की पृथक् २ सौत्रिक तन्तुओं से निर्मित दीवारों के भीतर केश जैसी सूक्ष्म ९०० के लगभग परस्पर मिली हुई नलियां विद्यमान हैं. यह शुक्र-ग्रन्थि के अग्रभाग से पिछले सिरे तक मुड़ तुड़ कर जाती हैं, जो पिछले किनारे की ओर जाती हुई,एक दूसरे से मिलती हुई, अन्त में एक जाल सा बना देती हैं. यहां से २५ के लगभग मुड़ी हुई नलियां शुक्र-ग्रन्थि से बाहिर निकल कर समूह रूप में उपाण्ड के शिर में मिल कर एक बड़ी नली बना देती हैं, जो शुक्र-प्रणाली (Seminal duct) कहलाती है, यह प्रणाली मोड़ खाती हुई पहिले ऊपर की ओर जाकर फिर नीचे आकर अण्ड के पीछे की ओर निचले भाग तक चली गई है, इस नली

का मुड़ा हुआ भाग उपाण्ड का गात्र और पुच्छ हैं, यह शुक्रप्रणाली २० फुट के लग भग लम्बी है, शुक्रग्रन्थि की नलियां नलाकर छोटी २ ग्रन्थियां हैं, जिन में शुक्र या वीर्य निरन्तर बनता रहता है।

मूत्राशय और मलाशय के मध्य में वस्तिगह्वर में स्थित दो थैलियां हैं, जिनको शुक्राशय (Seminal vesicle) कहते हैं, जिनका ऊपर का सिर स्थूल और नीचे का नोकदार पतला है, शुक्रप्रणाली का मेल शुक्राशय के ऊपर के सिरे के साथ होता है, और इनका अन्त निचले नोकीले सिरे में होता है, शुक्र-प्रणाली के शुक्राशय के साथ मेल के स्थान पर एक शुक्र-स्रोत (Ejaculatory duct) नामक पतली नली है, जो प्रोस्टेट (Porstate) के द्वारा मूत्रमार्ग में मिलती है, जिस के द्वारा वीर्य (शुक्र) मूत्र मार्ग में पहुंचता है।

शुक्रग्रन्थियां आभ्यन्तर तथा वाह्य,दो प्रकार का रस बनाती हैं, आभ्यन्तर रस (Internal secretion) निरन्तर बनता रहता है, और रक्त में मिलकर सारे शरीर में शक्ति प्रदान करता, तथा नाड़ीमण्डल (Nervous system) की शक्ति के रूप में मनुष्य के लिये अत्यन्त उपयोगी होता है, वाह्यरस को शुक्र(Semen) कहते हैं, यह मनुष्य की कामात्मिक वृत्ति के अनुसार समय २ पर बनकर शुक्रप्रणाली के द्वारा शुक्राशय में पहुंचता है, और काम-वासना के अत्यन्त उत्तेजित होने पर शुक्रस्रोत द्वारा शिश्न में प्रवेश करके मूत्र-मार्ग से बाहिर निकल जाता है।

इस शुक्र की रक्षा करने का नाम ही ब्रह्मचर्य है, गृहस्था-वस्था में विधिपूर्वक सन्तान उत्पन्न करते हुए भी स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं, और बलवान्, हृष्ट-पुष्ट, निरोगी

दीर्घायु उत्तम तथा श्रेष्ठ सन्तान को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं।

(७) चुल्लिका ग्रन्थी (Thyriod)-यह ग्रन्थी ग्रीवा के अग्रभाग मे नीचे की ओर होती है, इस के दो पार्श्विक खण्ड (Sides) ऊपर से पतले और नोकीले, नीचे से मोटे और चौड़े, प्रायः परस्पर जुड़े रहते हैं।

इस ग्रन्थि का हमारे शरीर के सामान्य स्वास्थ्य से घना सम्बन्ध है, मनुष्य की युवावस्था और बुद्धिमत्ता बहुत कुछ इस पर निर्भर है, शरीर के अङ्गों की वृद्धि का भी इसके साथ विशेष सम्बन्ध है। शुक्र ग्रन्थ और इस का परस्पर गहरा प्रभाव पड़ता है, एक में कुछ दोष उत्पन्न हो जाने से दूसरे में निर्बलता आजाती है, इस के कार्य ठीक न करने से नाना प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं, शरीर मोटा और दुर्बल होने लगता है, शिर के केश श्वेत होने लगते हैं, मनुष्य पर वृद्धावस्था का आक्रमण होने लगता है, जिन बालकों के जन्म से ही यह ग्रन्थि कमज़ोर होती है, उन की शारीरिक अवस्था आरंभ से ही निर्बल होती है, और उन के अङ्ग न ही ठीक प्रकार से काम कर सकते हैं, और न ही यथायोग्य वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

इस ग्रन्थि की निर्बलता का प्रभाव स्त्रियों पर पुरुषों की अपेक्षा अधिक होता है।

इस ग्रन्थि के निर्बलता के कारण अधूरा काम करने से तो स्वास्थ्य बिगड़ता ही है, साथ ही इस के मर्यादा से अधिक

कार्य करने से भी कई भांति के रोग पैदा हो जाते हैं, हृदय और धमनी की गति बहुत बढ़ जाती है।

यह ग्रन्थि वसा को भी मर्यादा से अधिक बनने से रोकती है, यदि यह निर्बल हो जाय, तो वसा के अधिक बनने से मनुष्य कुछ मोटा होने लगेगा, इस से पूर्ण रीति से कार्य न करने से खटिक (Calcium) और मग्न स्फुरित (Magnacium sulphate) के भली भान्ति न बनने से अस्थियों की वृद्धि भी यथोचित नहीं हो सकती।

इस ग्रन्थि को बाहिर निकाल देने से भी शरीर पर वही प्रभाव पड़ता है, जो इस के निर्बल हो जाने के कारण होता है।

पश्चिमी डाक्टर इन दिनों प्रयोग द्वारा इस ग्रन्थि में परिवर्तन करने से वृद्धों को नवयुवक बना रहे हैं।

डाक्टरों ने पहिले परीक्षा करने के लिये बानरों को अपना लक्ष्य बनाया, बूढ़े तथा निर्बल और निरुत्साही बन्दर की यह ग्रन्थि निकाल कर उस के स्थान में नवयुवक और बलवान् बन्दर की ग्रन्थि स्थापन कर दी, जिससे उस की निर्बलता जाती रही, और वह नवयुवक के समान प्रतीत होने लगा। तत्पश्चात् प्रौढ़ बन्दरों की ग्रन्थियों द्वारा मनुष्यों के पुनः युवावस्था में लाने (Rejuvination) का मार्ग खुल गया, परन्तु यह उधार मांगी हुई जवानी क्या सदा के लिये मनुष्य को युवकावस्था में रख सकती है? स्वास्थ्य रक्षा के नियमों का उल्लंघन करने वाले मनुष्य इस से कहां तक यौवन दशा का आनन्द ले सकते हैं? अन्य वैद्यक उपायों के समान मैं

इस को भी मनुष्य के लिये स्थायी स्वास्थ्य और बल प्राप्त कराने का साधन नहीं समझता, प्रत्युत हानि कारक समझता हूं, क्योंकि यह उपाये मनुष्य जाति को दिन प्रतिदिन शारीरिक अवनति की ओर ले जारहे हैं; इस में सन्देह नहीं कि औषधि इत्यादि का प्रयोग व्याधि ग्रस्त मनुष्य को रोग से बचाने में कई अवस्थाओं में बहुत कुछ सहायकारी हो सकता है। किन्तु उसको स्थायी स्वास्थ्य प्रदान करने में असमर्थ है, ऐसे ही यह चुल्लिका ग्रन्थि का नवीन प्रयोग भी मनुष्य को कुछ समय के लिये ही भ्रान्तिमूलक यौवन प्रदान कर सकता है, जो मनुष्य अपनी चुल्लिका ग्रन्थि को ठीक अवस्था में नहीं रख सका, वह बन्दर की ग्रन्थि से कहां तक लाभ उठा सकता है।

योग की विधि के अनुसार कैसे मनुष्य इस ग्रन्थि को जीवन पर्यन्त बलसम्पन्न रख सकता है, और कैसे इस की निर्बल अवस्था को दूर किया जा सकता है, अर्थात् मनुष्य योग के साधनों के प्रयोग से कैसे अपने बल और शक्ति को स्थिर रख सकता है, और किस प्रकार नष्ट हुये २ बल को पुनः प्राप्त करके अक्षय यौवन को लाभ कर सकता है, इस का उल्लेख इसी पुस्तक में अपने उचित स्थान पर आयेगा।

(८) उपचुल्लिका ग्रन्थि (Para Thyriod) चुल्लिका ग्रन्थि के पार्श्व खण्डों के पिछले दोनों किनारों से मिली हुई छोटी २ दो ग्रन्थियों को उपचुल्लिका कहते हैं, कहीं २ प्रत्येक ओर दो २ ग्रन्थियां भी पाई जाती हैं।

इन ग्रन्थियों के खटिक मिश्रित पदार्थों (Calcium com-

pounds) के संवर्तन से विशेष सम्बन्ध रखने के कारण अस्थियों की वृद्धि पर इन का प्रभाव पड़ता है, इन का कार्य वसा को अधिक एकत्र करना है,जिससे यह चुल्लिका के विरुद्ध काम करती हैं, यकृत को अधिक शर्करा (Glucose) बनाने से रोकती हैं और क्लोम के कार्य में सहायता करती हैं।

जब इन में दोष आजाने से यह अपना कार्य ठीक न कर सकें, तो मनुष्य की अस्थियां पतली और बलहीन हो जाती हैं, वसा शरीर में आवश्यकता से कम बनने लगती है। इन का रस मांस तन्तुओं में एकत्र होने वाले विषात्मिक पदार्थ को भी नष्ट करता है, इन में विकार आजाने से पेशियों में विष की अधिकता के हो जाने से शरीरमें समय २ पर कम्पणियां आने लगती हैं, खटिक की कमी के कारण अस्थियों की निर्बलता से भी मनुष्य की यह अवस्था होने लगती है, और इस रोग को टिटेनी (Tetany) कहते हैं।

९. उपवृक्क (Adrenals)—यह छोटी सी ग्रन्थि प्रत्येक वृक्क के ऊपर एक २ रहती है, इस के भीतर के भाग को अंतःस्थ और बाहिर के भाग को वल्क कहते हैं।

इस का शरीर की वृद्धि तथा स्वास्थ्य से बड़ा संबंध है, इस के रस की अधिकता से शरीर में वसा अधिक एकत्र होने के कारण शरीर स्थूल होने लगता है, मनुष्य का रक्त भार (blood pressure) अधिक, हृदय की गति तेज़, और मुख रक्तवर्ण होजाता है, सिरदर्द इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। यदि इसका रस कम हो जाये तो रक्त भार कम, निर्बलता,

तथा शक्ति हीनता हो जाती है, जिससे मनुष्य थोड़े से परिश्रम से अधिक थकावट अनुभव करता है, दिल मतलाने लगता है, निद्रा कम आती है, शरीर में वेदना सी प्रतीत होने लगती है, इत्यादि ।

इस ग्रन्थि के यथोचित काम करने से मांस सूत्रों में प्राण वायु (Oxidation) स्थिर रहने में सहायता मिलती है, चेतना चक्र (Nervous system), विशेषतः पिङ्गल नाड़ी मण्डल में उत्तेजना आती है, जिस से पेशी मण्डल अपना कार्य ठीक करता है, विशेष करके अनैच्छिक पेशियों के काम में सहायता होती है, खटिक सम्मेलनों के आत्मीकरण से अस्थियों को दृढ़ता होती है ।

१०. थायमस (Thymus)—यह ग्रन्थि वक्षोऽस्थि के ऊपर के भाग में होती है, बाल्यावस्था में बड़ी होती है, आयु के बढ़ने के साथ २ यह छोटी होती जाती है, बाल्यावस्था में बालक की वृद्धि में अत्यन्त सहायता देती है, विषय कामना की उत्तेजना को रोकती है, इस के निकाल देने से मनुष्य छोटा तथा पतला हो जाता है, इस के बढ़ जाने से अकस्मात् मृत्यु भी हो जाती है, इस का विशेष कार्य अभी तक ठीक २ पूर्ण रीति से ज्ञात नहीं हुआ ।

११. प्रोस्टेट (Prostate)—यह ग्रन्थि पुरुषों में मूत्राशय के नीचे होती है, इस का रस मूत्र मार्ग में शुक्र से मिल जाता है, अथवा विषय कामना की उत्तेजना से बिना शुक्र के भी वहां पहुंच जाता है, इस के ठीक २ काम करने से इस का रस रक्त में मिल कर मनुष्य की शक्ति को बढ़ाता है ।

१२. डिम्ब ग्रन्थियां (Ovaries) बस्तिगह्वर में गर्भाशय की दायीं और बायीं ओर यह दो ग्रन्थियां केवल स्त्रियों में ही होती हैं. इन का कार्य पुरुष की शुक्र ग्रन्थियों के समान होता है, इनका रस ओज के रूप में सामान्यतः (पुरुष के शुक्र के समान) रक्त में मिल कर स्त्रियों को शक्ति प्रदान करता है, इस का नाश बलहीन कर देता है, शुक्र में जैसे शुक्र कीट होते हैं, इस रस में डिम्ब या अण्डे होते हैं, शुक्र कीट व डिम्ब के परस्पर संयोग से ही मनुष्य की सृष्टि रचना होती है, इस की रक्षा से स्त्री के स्वास्थ्य की रक्षा होती है, इस के पतन से स्वास्थ्य का अधःपतन हो जाता है, स्त्रियां गृहस्थ का पालन करती हुई भी इस की रक्षा कर सकती हैं।

१३. प्लीहा (Spleen) यह ग्रन्थि उदर की बाईं ओर है, इसके कार्य का भी विद्वानों को अभी ठीक २ पूर्ण रीति से कुछ पता नहीं लगा, अनुमान किया जाता है, कि शरीर के उन रक्त कणों को जिनका कार्य शरीर में कुछ नहीं रहा, और जिनका भीतर रहना शरीर के लिये हानिकारक है, यह उन को नष्ट कर देती है, रक्त के श्वेत कणों में वृद्धि करती है, पाचक विभाग पर भोजन के पचाने में भी इस का कुछ प्रभाव पड़ता है। म्लेरिया इत्यादि व्याधियों में उन के विरुद्ध युद्ध करने के कारण बढ़ जाती है, मनुष्य व्याधि के कारण अति दुर्बल हो जाये, तो यह अधिक बढ़ जाती है, और अपना कार्य पूरा नहीं कर सकती, जिस से रक्त और पाचक विभाग में दोष आजाते हैं।

१४. दुग्ध ग्रन्थि या स्तन (Breasts)—पुरुष के स्तनों में से दूध नहीं निकलता, स्त्री के स्तन विशेष समय पर दुग्ध निकालते हैं, जिन का काम प्रायः यही समझा जाता है, कि बालक का पालन पोषण किया जाये, आधुनिक अन्वेषण से पता लगा है, कि इन का एक भीतर का रस भी होता है, जो स्त्रियों की डिम्ब ग्रन्थियों तथा (Uterus) पर प्रभाव रखता है, यह स्त्रियों के मासिक धर्म को ठीक रखने में भी सहायता करता है।

१५. पीनीअल (Pineal)—यह छोटी सी ग्रन्थि कपाट के भीतर है, इस का प्रभाव शुक्र ग्रन्थि तथा डिम्ब पर पड़ता है, जिस से उन का निरोध होता है, वसा की अधिकता को भी रोकती है, शरीर की उन्नति व अवनति भी इस पर निर्भर है।

पिटचुट्री (Pituitary gland) यह ग्रन्थि कपाल देश में स्थित है, इस के, अगला व पिछला, दो खण्ड हैं, अस्थियों की यथायोग्य वृद्धि पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है, अगले खण्ड की निर्बलता के कारण गर्भावस्था में अस्थियों के छोटा रहने से मनुष्य बौना उत्पन्न होता है, जन्म के पश्चात् वसा अधिक बनने से शरीर मोटा होने लगता है, जननेन्द्रियों की यथायोग्य वृद्धि नहीं होती, पुरुष के वीर्य में शुक्रकीट नहीं होते, कभी अण्ड अण्डकोश तक नहीं उतरते, स्त्री में रजोदर्शन (First appearance of menstrual discharge) नहीं होता, मासिकस्राव (menstruation) होता ही नहीं या कम होता है, डिम्ब ग्रन्थि अपना कार्य नहीं करती, स्त्री बांझ हो जाती है, यौवनावस्था में शरीर सुस्त, नींद अधिक, थोड़े से परिश्रम से

थकावट इत्यादि दोष उत्पन्न होते हैं।

इस खण्ड के अधिक काम करने से अस्थियों की अतिवृद्धि से शरीर बहुत लम्बा हो जाता है, हाथ, पैर, निचला जबड़ा और मुख की अस्थियां बड़ी हो जाती हैं, स्त्रियों में मासिक स्राव और पुरुषों में वीर्यपतन अधिक होने लगता है।

पिछले खण्ड के रस में अनैच्छिक पेशियों को सिकोड़ने की शक्ति है।

इस ग्रन्थि का जननेन्द्रियों पर विशेष प्रभाव पड़ता है, इसका कार्य चुल्लिका ग्रन्थि तथा उपवृक्क ग्रन्थि के समान है, इसमें दोष आजाने से मिरगी व पागलपन इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

उपरोक्त वर्णन से पता लगता है कि यह ग्रन्थियां मनुष्य के लिये कितनी उपयोगी हैं, इनकी शक्ति को स्थिर रखने और नष्ट हुई २ शक्ति को पुनः प्राप्त करने में योग की उपयोगिता योगासन व प्राणायाम के अभ्यास से प्रकट होगी, जिसका वर्णन आगे आयेगा।

५ पाचक विभाग और स्वास्थ्य

Digestive system and Health.

हमारे स्वास्थ्य का मूलस्रोत हमारा पाचक विभाग है, जिस पर मुख्यतः मनुष्य शरीर का सुधार तथा बिगाड़ निर्भर है, यदि हम चाहते हैं. कि हमारा स्वास्थ्य ठीक बना रहे. तो हमें इस की ओर से निरन्तर सावधान रहना चाहिये, हमारे शरीर का प्रत्येक विकार यह सूचित करता है,कि हमारे पाचक विभाग में अवश्य कोई दोष है, जिस को भली भांति समझने के लिये इस विभाग की रचना का ज्ञान अत्यन्तावश्यक है।

पाचक विभाग में मनुष्य के मुख्य यन्त्र, हमारा मुख आमाशय (Stomach), क्षुद्रान्त्र और बृहदन्त्र (Intestines and colon) हैं, जो अपनी लार ग्रन्थियों (Salivary glands), क्लोम (Pancreas) और यकृत अथवा जिगर (Liver) की सहायता से हमारे खाये हुये अन्न को पचाते हैं, उस पचे हुये अन्न में से पोषक रस (Nourishing juice), मल (Waste matter) से पृथक् हो कर हृदयवर्ती रक्त से मिलकर जीवन को स्थिर रखता है, और मल जुदा होकर बड़ी अन्त्र (Colon) के द्वारा गुदा (Anus) के मार्ग से बाहर निकल जाता है, कुछ मल जिगर और गुरदों के द्वारा मूत्र के रूप में और देह के रोमों के द्वारा पसीने इत्यादि के रूप में निरन्तर बाहिर निकलता रहता है, जिस से हमारे स्वास्थ्य की रक्षा होती है।

जो खाद्य पदार्थ हम मुख में डाल कर दांतों से चबाते हैं, उसको हमारी लार ग्रन्थियों में से रस (थूक-Sliva) निकल कर पचाता है. और यहीं से सब से पहिले भोजन को पचाने का कार्य आरम्भ होता है। भोजन में से नशास्ते (Starch) को पचाने का काम मुख्यतः लार रस का है, यदि दान्तों से पूरी रीति से काम न लिया जाय तो इस रस की कमी से भोजन का पूरी रीति से पचना कठिन हो जाता है, और यहीं से अजीर्ण (Indigestion) तथा कब्ज़ (Constipation) इत्यादि रोगों की नींव पड़ती है, किन्तु पूर्ण रीति से भोजन को चबा कर मुख के रस को अधिक अंश में मिलाकर ग्रास को इतना नरम कर देने से कि मुख से कण्ठ में निगलते समय कुछ यत्न न करना पड़े, हम भोजन को अमृत बना लेते हैं, अन्यथा यह मनुष्य जीवन के लिये पूर्ण उपयोगी नहीं होता, जितना लार रस ग्रास के सा मिलता है उतना ही उस में मीठापन आजाने से स्वादु भी प्रतीत होता है, और हमारे आमाशय (Stomach) को भी कष्ट सहन करना नहीं पड़ता।

मुख से ग्रास कण्ठ (Pharynx) और १० इञ्च लम्बी अन्नप्रणाली (Oesophagus or food pipe) से होता हुआ हृदयद्वार (Cardiac opening) के द्वारा आमाशय (Stomach) में प्रवेश करता है, और पक्वाशयिकद्वार (Pyloric opening) के द्वारा पक्वाशय (Duodenum) में पहुंच जाता है।

आमाशय, क्षुद्रान्त्र (Intestines) और स्थूलान्त्र



(Colon) के चार आवर्ण हैं:—(१) वाह्य का रक्तांबुस्रावी-आवर्ण अथवा उदरक कला (Seraus or peritoneum coat), (२) मध्य का पैशिक-आवर्ण (Muscular coat) (३) उपश्लैष्मिक-आवर्ण (Submucous coat) और (४) भीतर का श्लैष्मिक आवर्ण (Mucous coat), तीसरा आवर्ण दूसरे और चौथे आवर्ण को परस्पर बांधे रखता है, और पहिला आवर्ण शेष तीनों को अपने भीतर सुरक्षित रखता है।

जब आमाशय में भोजन अथवा जल प्रवेश करता है तो श्लैष्मिक-आवर्ण, जो सुकड़ा होता है, फैल जाता है और इस के असंख्यात सूक्ष्म रक्त-स्रोतों (Blood-vessels) में से रक्त झिरने के कारण इस का वर्ण गुलाब के समान प्रतीत होता है, साथ ही इस का भीतरी पाचक रस (Gastric juice) स्रावण करता हुआ रक्त में मिलकर भोजन की पचन क्रिया में सहायता देता है, इस समय आमाशय के दोनों द्वार बन्द रहते हैं।

इसी समय रक्त प्रवाह के प्रभाव से पैशिक आवर्ण की अनैच्छिक पेशियां बार २ सुकड़ती और फैलती हुई मन्थन क्रिया करती हुई पाचक रस को पूर्ण रीति से भोजन के अनु परमानु में मिला देती हैं, जिस का भोजन की प्रोटीनों, कर्बोज (Corbohydrate), दुग्ध और घृतादि स्निग्ध पदार्थों पर विशेष प्रभाव पड़ता है, किन्तु नशास्ते पर कुछ नहीं पड़ता, इसलिये यदि दान्तों से खूब चबा कर मुखमें अन्न को पूर्ण रीति से चबाने के बिना ही आमाशय में भेज दिया जाय तो कुछ काल पश्चात् मनुष्य को प्रायः अजीर्ण होने के कारण

क्षुधा कम प्रतीत होने लगती है, और यहीं से सामान्यतः सब रोगों का प्रारम्भ होता है।

रक्त-स्रोत भोजन में से कई प्रकार के लवण (Salts) और शरकरादि (Sugars) अपने में ग्रहण कर लेते है और फैल कर अपने प्रबल रक्त-प्रवाह से पेशियों को गति देकर मन्थन क्रिया को बढ़ा कर पचन क्रिया की शक्ति को अधिक कर देते हैं, इस से यह नहीं समझना चाहिये कि हम अधिक लवण और मीठा सेवन करें, साधारण मात्रा में ही इनका प्रयोग लाभदायक हो सकता है, कइयों का यह भी विचार है कि हम को भोजन में बाहर से लवण कुछ भी नहीं मिलाना चाहिये क्योंकि शाकादि में इस की आवश्यक मात्रा मौजूद होती है, और यही बात मीठे के विषय में भी कही जा सकती है, कइयों की मति में इस को जितना अधिक मात्रा में सेवन किया जाय उतना ही लाभदायक है, मेरी सम्मति में मीठा हो या लवण दोनों अवस्थाओं में अति का त्याग उचित है।

जो लोग दाल शाकादि में मिर्च और मसालों को मिलाते हैं, वह पाचक रस के प्रवाह को कम करने का हेतु बनते हैं, इसमें सन्देह नहीं कि इनके सेवन से पहिले यह रस अधिक मात्रा में भोजन में झिरने लगता है, परन्तु जैसे कोई किसी बैल या घोड़े को मारपीट कर तेज चलाना रहता है, जिससे अन्त में निर्बल होकर उसमें चलने की शक्ति पहिले से भी कम होजाती है, वैसे मिर्चादि तीखे पदार्थों से ग्रन्थियों की शक्ति कम होने से धीरे धीरे रस कम झिरने लगता है, जिससे जठिर की पाचन शक्ति भी कम हो जाती है, इसके अतिरिक्त जो जन भोजन

के साथ अचार, चटनी इत्यादि खट्टे पदार्थों का सेवन करते हैं, वह भी पाचक शक्ति को कम कर लेते हैं, इससे आमाशय को अन्न पचाने के काम में कम भाग लेने से उस में निर्बलता आ जाती है, और वह आलसी हो जाता है क्योंकि यह खट्टे पदार्थ पाचन क्रिया में बहुत सा जठर का काम सुगम कर देते हैं, और इस प्रकार उसके बल को घटा देते हैं, यह प्रकृति का नियम है, कि जिस शारीरिक अंग से उसकी शक्ति से बढ़कर या कम काम लिया जाय, दोनों अवस्थाओं में उसकी काम करने की शक्ति घट जायगी, जिन को पान खाने या सोडा इत्यादि पीने और चाय, बर्फ़ तथा मादक पदार्थ सेवन करने का स्वभाव हो जाता है, वह भी इसी प्रकार जठराग्नि को शनैः २ कम कर लेते हैं, पान दान्तों के लिये भी अत्यन्त हानिकारक है।

आमाशय (Stomach) में गया हुआ भोजन थोड़ी २ मात्रा में भूरे से गुलाबी रंग की गाढ़ी लई के समान आमरस (Chyme) में बदल कर एक घण्टा पीछे आमाशय में से निकल कर धीरे २ पक्वाशय (duodenum) में प्रवेश करने लगता है, और लगभग चार घण्टे में सब भोजन पक्वाशय में पहुंच जाता है।

जब आमरस पक्वाशय में पहुंचता है, तो यकृत अर्थात जिगर (Liver) में से पित्त (Bile), उदर के नीचे क्लोम की ग्रन्थियों से क्लोम रस (Pancreatic juice), और छोटी अन्तड़ी का भीतरी रस निकल कर इस में प्रवेश करने लगते हैं, पित्त जिगर की थैली में एकत्र रहता है,

और आमाशय से अन्तड़ी में जाते हुए आम रस से आवश्यकतानुसार मिल जाता है, यह तीनों रस मिल कर उस को और भी अधिक प्रमाणु रुप बना देते हैं, पित्त अम्ल प्रतिक्रिया वाले आमरस को क्षारीय बनाने, उस के स्निग्धांश (Fatty portion) को प्रमाणु रुप करने और उस में कृमिवत् आकुञ्चन गति (Peristaltic motion) उत्पन्न करने में उपयोगी होता है, इसके प्रभाव से क्लोम रस की वसा विश्लेषक शक्ति बहुत अधिक हो जाती है, और अन्त्र में सड़ाव नहीं होता, क्लोम रस नशासते की सूक्ष्म प्रमाणुओं को शरकरा (Sugar) के रुप में बदल देता है, और स्निग्ध पदार्थ (तैल,घृत इत्यादि) तथा प्रोटीनों का विश्लेषण कर देता है, और अन्त्रीय रस क्लोम ग्रन्थी को शीघ्र रस बनाने के लिये उत्तेजित करता है, इसकी प्रोटीन विश्लेषक शक्ति को बढ़ाता है, प्रोटीनों के विश्लेषण से बने हुये पदार्थों का विश्लेषण करता है,और भिन्न २ प्रकार के शकरों (sugars) को द्राक्षोज (अंगूरी शकर) में बदल देता है, यहां से रस क्षुद्रान्त्र के दूसरे भाग में प्रवेश करता है।

आमाशय के समान अन्तड़ी के भी चार आवर्ण हैं, इस के श्लैश्मिक आर्वण के नीचे रोयें के समान (hair like) रस चूसने वाली सूक्ष्म नलयां निकली हुई हैं, जो रस को चूस लेती हैं।

इन में सूक्ष्म लसिका नलियां (Lacteals) हैं, जो पाक रस (Chyle) में से हुए पोषक रस और परमाणु रूप वसा (fat) विभाग को चूस कर अन्त्र के पृष्ठदेशीय लसीका

ग्रन्थियों के द्वारा शुद्ध (filter) होने पर ग्रीवा के वामदेशीय भाग के नीचे महालसीका नली (Thoracic duct) में पहुंचा देती हैं, और यहां से यह रस हृदय में जाने वाले शैरिक रक्त (Venous blood) के साथ मिल कर हृदय के दक्षिण भाग (right side of the heart) में प्रवेश करता है।

भोजन समूह में से आमाशय के द्वारा त्यागा हुआ जल व अन्य रस संयुक्ता शिरा (Portal vein) के रक्त के द्वारा यकृत (जिगर) में चला जाता है, जो इस में से व्यर्थ भाग को यूरिया(urea)में बदल कर गुरदों के सुपुर्द कर देता है,और गुरदे रक्त से यूरिया को पृथक कर के मूत्र के रूप में शरीर से बाहिर भेज देते हैं।

भोजन में से द्राक्षौज (absorbed sugars or dextrose) भी संयुक्त शिरा के द्वारा जिगर में आकर एक प्रकार के नशासते (glycogen) के रूप में बदल कर वहां एकत्र रहता है, और आवश्यकता पर फिर शरकरा (glucose) के रूप में बदल जाता है।

शेष भाग मल के रूप में कटिदेशान्त्र (Ilium) के द्वारा अन्धान्त्र (Cecum) में पहुंच कर बड़े नल (Colon) में से होता हुआ गुदा (anus) द्वारा बाहिर निकल जाता है।

उपरोक्त उल्लेख का यदि संक्षेप किया जाय तो इस प्रकार होगा, कि भोजन मुख की चर्वण (mastication) व लाला मिश्रण क्रिया से गीला और पतला हो जाता है, और

श्वेतसार (नशासता), यवौज शरकरा (maltose) रूपी मिठास में परिवर्तित होने लगता है।

आमाशय में भोजन की प्रोटीनों का विश्लेषण (analysis) होना आरम्भ होता है, घृत, तैल इत्यादि स्निग्ध पदार्थ पिघल जाते हैं, दुग्ध जम जाता है, इक्षोज (sugar-cane) द्राक्षौज (grape sugar) अथवा फलौज (fruit sugar) में बदल जाता है, और भोजन अम्ल प्रतिक्रिया वाला होजाता है, इस को अहार रस अथवा आम रस (chyme) कहते हैं।

क्षुद्रान्त्र में पहुंच कर आमरस क्षारीय हो जाता है, प्रोटीनें पूर्ण रीति से विश्लिष्ट (analysed) हो जाती हैं, श्वेतसार से द्राक्षौज बन जाता है, और भिन्न २ शकरें (sugars) भी द्राक्षौज में बदल जाती हैं, स्निग्ध पदार्थ गिलीसरीन व साबुन के रूप में आजाते हैं, इस अवस्था में भोजन पकरस (chyle) कहलाता है, और इस योग्य हो जाता है, कि क्षुद्रान्त्र की श्लेष्मिक कला इस में से पौष्टिक रस को यथावश्यकता चूस सके, इस क्रिया को पक्वीकरण (Digestion of food) कहते हैं।

पक्वीकरण होने पर पौष्टिक रस श्लेष्मिक कला द्वारा रक्त और लसीका में पहुंचकर शरीर रूप हो जाते हैं। यह क्रिया आत्मीकरण (assimilation) कहलाती है।

क्षुद्रान्त्र से बचा हुआ रस बृहदन्त्र (colon) में जाकर श्लेष्मिक कला द्वारा जल के शोषण से गाढ़ा होजाता है, और नियत समय पर विष्ठा के रूप में मलद्वार (anus) में से बाहिर निकल जाता है, यह वह पदार्थ है, जिसकी शरीर को आवश्य-

कता नहीं, और जिसका शरीर के भीतर रहना हानिकारक है, इसी प्रकार और अनावश्यक पदार्थ भी मूत्र इत्यादि के द्वारा शरीर से बाहिर निकलते रहते हैं, इसी क्रिया को बाह्यकरण (elimination) कहते हैं।

सब शारीरिक रोगों की उत्पत्ति आत्मीकरण और बाह्यकरण क्रियाओं में दोष आ जाने के कारण है, योग की विधि से हम इन क्रियाओं को इस प्रकार की पूर्ण दशा में ले जा सकते हैं, कि न केवल व्याधियों से ही मुक्त हो सकते हैं, प्रत्युत वृद्धावस्था तथा मृत्यु को भी अधिकार में कर सकते हैं, इस विषय में जो मेरा अनुभव है, उसको पाठकगण आगामी पृष्ठों में दी हुई यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करके स्वयं अनुभव कर सकेंगे।

६. रक्तवाही विभाग और मनुष्य जीवन

(Circulatory system and human life)

गत अध्याय में मैं ने संक्षेप से यह वर्णन करने का यत्न किया है, कि जो भोजन हम सेवन करते हैं, वह कैसे क्रमशः परिवर्तन होते २ पोषक रस बन कर हृदयगामी रक्त में मिलता और उसका व्यर्थ भाग कैसे मलके रूप में बाहर निकल जाता है, पचन क्रिया के दोष से कैसे रोग उत्पन्न होते हैं, और इस के यथा योग्य अनुष्ठान से कैसे हम अपनी स्वास्थ्य रक्षा कर सकते हैं, अब इस अध्याय में मैं यह बताने का यत्न करूंगा, कि वह पोषक रस रक्त में मिल कर शरीर के पालन पोषण करने और हमारे जीवन प्रवाह को यथासंभव निरन्तर स्थिर रखने के लिए कितना परमावश्यक है, और इस रक्त में दोश आने के कारण शरीर में कैसे भिन्न २ प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, तथा हमारा रक्त दूषित क्यों होता है।

हमारे रक्तवाही मण्डल में हमारा हृदय (Heart), धमनीयें (arteries), शिराएं (Veins), केशिकायें (capillaries) और रक्तांबुवाहिनी नाड़ियां (blood-vessels) तथा फुफुस (Lungs), मुख्य यन्त्र हैं।

हमारे वक्षस्स्थल में आमाशय से ऊपर कुच्छ वाम ओर (left side) हमारा हृदय स्थित है, इस के वाम तथा दक्षिण (right and left) दो भाग हैं, यह प्रत्येक भाग फिर दो २ भागों में विभक्त है, दक्षिण-ग्राहक-कोष्ठ (right auricle) और

दक्षिणक्षेपक-कोष्ठ (right ventricle), वैसे ही वाम-ग्राहक-कोष्ठ (left auricle) और वाम-क्षेपक-कोष्ठ (left ventricle), हमारे हृदय के दक्षिण पक्ष में अशुद्ध रक्त और वाम पक्ष में शुद्ध रक्त भरा रहता है, दोनों पक्षों के मध्य की दीवार रक्त को एक भाग से दूसरे भाग में प्रविष्ट होने से रोकती है, किन्तु प्रत्येक भाग में रक्त ऊपर से नीचे एक रन्ध्र (aperture) द्वारा प्रवेश कर सकता है, परन्तु नीचे से ऊपर की ओर नहीं जा सकता।

वाम ग्राहक कोष्ठ का शुद्ध रक्त कपाट (valve) द्वारा वाम क्षेपक कोष्ठ में प्रवेश करता है, और वहां से वृहत् धमनी (aorta) के द्वारा रक्त चारों ओर फैली हुई धमनी नाड़ियों (arteries) से शरीर के प्रत्येक भाग में संचरण करता हुआ सेलों और तंतुओं (cells and tissues) के अनु अनु में व्याप्त हो जाता है, वृहद्धमनी (aorta) के मोटे नल से निकली हुई धमनियां ज्यूं २ शरीर में फैलती जाती हैं, आकार में छोटी से छोटी होती जाती हैं, यहां तक अन्त में बाल से भी सूक्ष्म हो जाती हैं, इन को धमनीय केशिका (arterial Capillaries) कहते हैं, यह केशिका नाड़ियां शरीर के सब भागों में धमनियों के अंत में सूक्ष्म केशों के समान फैली हुई हैं।

हमारे शरीर के निरंतर कर्म करने से प्रत्येक अङ्ग की सेलें (cells) तथा तन्तु (tissues) निर्बल होते २ मर जाते हैं, जिस से हमारे सारे शरीर मण्डल में विषात्मक मल उत्पन्न होता रहता है, हमारा जीवन तब तक ही स्थिर रह सकता है, जब तक यह मल शरीर से बाहिर निकलता

रहे, और इन सेलों और तन्तुओं के स्थान में नए २ निर्माण होते रहें ।

यह काम रक्त प्रवाह के द्वारा होता है, इसी को शारीरिक पोषण कहते हैं, जिस का मुख्य साधन मनुष्य का हृदय है, जो निरन्तर फैलता और सुकड़ता रहता है, यह क्रिया हृदय स्पन्द (beating) कहलाती है, सामान्य अवस्था में यह स्पन्द क्रिया एक मिनट में सत्तर वार होती है, प्रत्येक स्पन्दन में हृदय के वाम क्षेपक कोष्ठ से बृहद्धमनी के द्वारा दो तोले के लग भग रक्त बाहिर फैंका जाता है, प्रायः तीन मिनट में शरीर का सब रक्त एक वार हृदय में से होकर बाहिर निकल जाता है, हृदय के एक स्पन्दन में रक्त धमनी नाड़ियों और इन की शाखाओं और प्रशाखाओं में वहता हुआ शरीर के सब ओर से मरे हुये तन्तुओं और सेलों को साथ लेकर, और इन के स्थान में नई सृष्टि रचना कर के, सारे शरीर की केशिकाओं में पहुंच जाता है, यहां से अब रक्त वापस लौटना आरम्भ करता है, परन्तु इस के लौटने का मार्ग भिन्न है, रक्त को वापस लाने वाली नाड़ियां जो पहिले केश (बाल) के समान सूक्ष्म होती हैं, शाखाओं और प्रशाखाओं में फैली हुई ज्यूं ज्यूं हृदय की ओर जाती हैं, मोटी से मोटी होती जाती हैं, इन को शिरा (veins) कहते हैं, शिरासम्बन्धि अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ीयां शैरिक केशिकायें (venous capillaries) कहलाती हैं, यह धमनीय केशिकाओं के साथ साथ शरीर के सेलों तथा तन्तुओं में घुसी रहती हैं, धमनी नाड़ियों की केशिकाओं से रक्त सारे शरीर में फैली हुई शिरा

नाड़ियों की केशिकाओं में प्रवेश करता है, और शेरिक नाड़ियों (veins) की उप शाखाओं और शाखाओं में होता हुआ, शरीर के चारों ओर से वापस लौटता हुआ, अधोगा महाशिरा (Infcrior vena cava) और ऊर्ध्वगा महाशिरा (superior vena cava) के द्वारा हृदय के दक्षिण ग्राहक कोष्ठ (right auricle) में और वहां से दक्षिण क्षेपक कोष्ठ (right ventricle) में प्रवेश करता है यहां से शुद्ध होने के लिये दक्षिण क्षेपक कोष्ठ की फुफुसोया धमनी (Pulmonary vein) की फुफुसों (Lungs) में जाने वाली दो शाखाओं के द्वारा दक्षिण तथा वाम फुफुस के सूक्ष्म रक्त स्रोतों (Miunte blood vessels) में वहता हुआ, सब ओर फैल जाता है, और हमारे प्रत्येक श्वास से फुफुस के भीतर जाने वाले प्राण वायु (Oxygen) के द्वारा शुद्ध होकर फिर चार फुफुसीय शिराओं (Pulmonary arteries) द्वारा हृदय के वाम ग्रहक कोष्ठ में आजाता है, और यहां से यथापूर्व यात्रा का आरम्भ हो जाता है,इस सारे पूर्वोक्त क्रम को रक्त प्रवाह (Blood circulation) कहते हैं, इस से पता लगता है, कि मनुष्य शरीर में रक्त ही एक सारभूत तत्त्व है, जिस पर मुख्यतः मानव जीवन निर्भर है।

हमारे शरीर में रक्त के समान एक और तरल पदार्थ है, जिस को लसीका (lymph) कहते हैं, यह तरल केशिकाओं में बहने वाले शुद्ध रक्त से इन की दीवारों के द्वारा चूता रहता है, और शरीर के सारे अङ्गों की सेलों में मिल कर उन

को पोषक रस (शर्करा, वसा, लवण और प्रोटीन आदि के रूप में) देता है, सेलें इस रस में भीगी रहती हैं, जिस से इन का पोषण होता है।

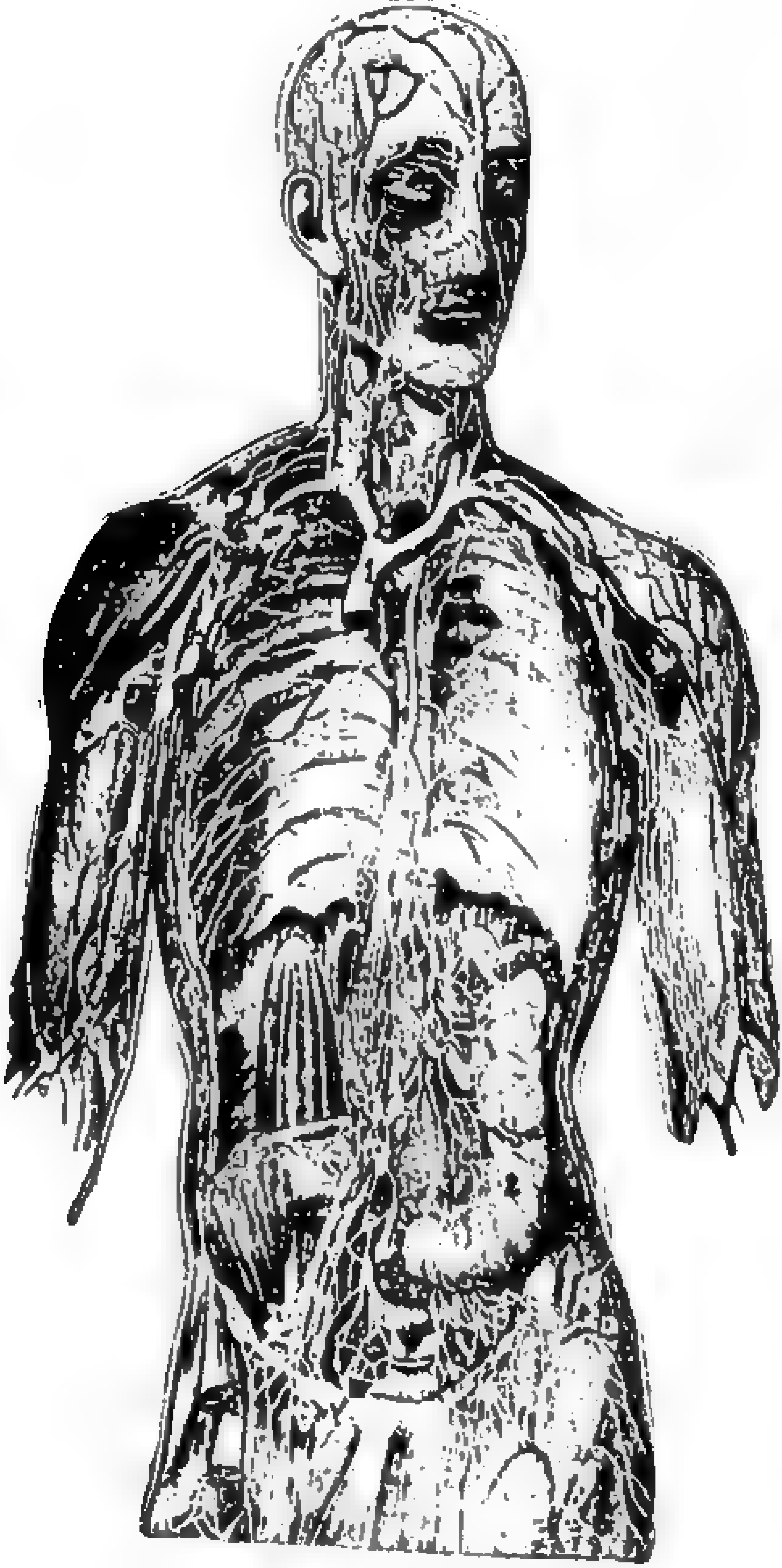
सेलों के परिश्रम करने से जो निकम्मी होकर मर जाती हैं, उनके विषयुक्त पदार्थ इस तरल में मिल जाते हैं, जिनको लेकर यह तरल लसीका केशिकाओं (lymph capillaries) के द्वारा,जो रक्त केशिकाओं से भिन्न होती हैं,पतली २ लसीका वाहिनियों (lymph vessels) में चला जाता है, जहां से महालसीकावाहिनी की बड़ी व छोटी, दो शाखाओं द्वारा ग्रीवा की बाईं व दाईं ओर से शिराओं के रक्त में मिलकर शुद्ध होने के लिये हृदय के द्वारा फुफसों में चला जाता है।

हमारे क्षुद्र अन्त्र की रक्त केशिकाओं की दीवारों से जो तरल लसीका नलियों(lacteals)में आता है, उसमें बहुत अधिक अंश वसा का होता है, क्योंकि भोजन से निकले हुए वसा के भाग को यह लसीका केशिकायें ही सारे शरीर में विभक्त करती हैं, वसा के अधिक होने के कारण यहां लसीका का वर्ण दूध का सा होता है, अन्यथा रक्त वारि (plassma) के समान होता है।

लसीका में श्वेत व रक्त (लाल) वर्ण के कण होते हैं, लालकण से श्वेतकण अधिक बड़े होते हैं, श्वेत कण लसीका ग्रन्थियों (lymph glands) द्वारा इस में सम्मिलित होते हैं, यह ग्रन्थियां शरीर के भिन्न २ अङ्गों, कक्षतल, जंघा और ग्रीवा इत्यादि में होती हैं, फोड़े इत्यादि के हो जाने से यह

चित्र १८.

लसीका वाहक संस्थान—Lymphatic System.



1. महालसीका नली--Thoracic duct.
2. लसीका नलियां—Lacteals.

ग्रन्थियां मोटी हो कर प्रत्यक्ष हो जाती हैं, प्लेग इत्यादि जैसी व्याधि में भी यही ग्रन्थियां बढ़ कर दाह उत्पन्न करती हैं, साधारण अवस्था में टटोलने से इन का पता नहीं चलता, लसीका वाहिनी नाड़ियां इन ग्रन्थियों के भीतर से हो कर जाती हैं, यह ग्रन्थियां श्वेतकण और विषनाशक पदार्थ बनाने का काम करती हैं, लसीका इनके भीतर से जाता हुआ कणों को अपने में सम्मिलित कर लेता है, इनको लसीकाणु, (lymphocyte) कहते हैं।

हमारे रक्त के कण (लाल व श्वेत) और सेलें एक हलके से पीत वर्ण के तरल में तैरते रहते हैं, इस तरल को रक्त वारि (plasma) कहते हैं।

———:०:———

७. रोग तथा मृत्यु और उन का मूल कारण

मनुष्य शरीर में दो प्रकार के पदार्थ निरन्तर विद्यमान रहते हैं एक घातक और दूसरा पोषक, हमारा शारीरिक यन्त्र सर्वदा घातक पदार्थ को बाहिर निकालने और पोषक रस को उपयोगी बनाने में लगा रहता है, इस क्रम को वहिष्करण (elimination) and आत्मीकरण (assimilation) कहते हैं, यदि यह दोनों कार्य यथायोग्य पूर्णरीति से होते रहें, तो मनुष्य स्वस्थ अन्यथा रोगग्रस्त हो जाता है, यह घातक पदार्थ शरीर के जिस विभाग में जितनी अधिक मात्रा में जितने दीर्घ समय तक एकत्र होता रहता है, उतना ही अधिक, परस्पर मेल से रक्त को विषमय करता रहता है, और जब इस रक्त को शुद्ध करना हृदय और फुफस इत्यादि की शक्ति से बाहिर हो जाता है, और उस घातक पदार्थ (Poisonous or foreign matter) को शरीर से पूर्णरूप में बाहिर निकालने की शक्ति वहिष्कारी अवयवों (excretory organs) में शिथिल पड़ जाती है, तो भिन्न २ प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होती है, जिस का ज्ञान मनुष्य को उस समय होता है, जब उस के शरीर में व्याधि के वाह्य चिह्नों (external symptoms) का प्रादुर्भाव होता है, रोगों की भिन्नता का कारण घातक पदार्थ के देश (place of location), काल (duration), अवस्था (condition) और प्रकृति (condition) की भिन्नता पर निर्भर है, जिन को प्रायः लोग रोग समझते हैं, वह वास्तव

में व्याधि के वाह्य चिह्न हैं, यथा ज्वर (fever), कब्ज़ (constipation), क्षयरोग (consumption) नामक व्याधियों में जो कष्ट हम प्रतीत करते हैं, वह केवल अभ्यन्तर शारीरिक विकार की चेतावनी देकर मनुष्य को सावधान करने के लिये प्रकृति देवी का महाप्रसाद है, ताकि वह कष्ट के मूल कारण रोग को जान कर उसे निवृत्त करने के लिये उद्यत होसके, यदि हम कब्ज़ को ही लें, तो इस में जो उदर के मल के गुदा द्वार में से पूर्णतया बाहिर विसर्जित न होने की अवस्था है, उस का नाम रोग नहीं, प्रत्युत हम ने उदर के मल के रूप में घातक पदार्थ को नियत समय से अधिक भीतर रहने का अवसर देकर, उस के वहां धीरे २ एकत्र होते रहने से, जो आन्तों (intestines) और बड़े नल (colon) की मलविसर्जन करने की शक्ति को निर्बल कर दिया है, जिस से यह मर्म स्थान अपने कर्तव्य पालन करने में असमर्थ हो गये हैं, यही वास्तव में रोग है, यही कारण है कि जुलाब इत्यादि ओषधियों द्वारा उदर के मल को निकाल देने से हम स्थायी रूप में कब्ज़ से मुक्त नहीं हो सकते, जब तक कि हम आन्तों और बड़े नल को शक्तिशालि बनाने में सफल नहीं होते, ओषधियों का सेवन हमें रोगग्रस्त अवस्था में कुछ लाभकारक और सहायकारी तो हो सकता है, किन्तु हमारे स्वास्थ्य को स्थिर रखने और रोगों से मुक्त करने में पूर्ण उपयोगी नहीं हो सकता, प्रत्युत ओषधियों को निरन्तर सेवन करते रहने से हमारे शरीर की कार्य शक्ति धीरे २ शिथिल पड़ती जाती है, और हमारा शरीर दिन प्रति दिन बलहीन होता

जाता है. यही अवस्था दूसरे रोगों में होती है, परन्तु योग के आसन और प्राणायाम इत्यादि क्रियाओं द्वारा, हम विना औषधियों के प्रयोग के रोगों को मूलतः नष्ट करके, शरीर के भिन्न २ अवयवों की कार्य शक्ति को बढ़ाते हुये, स्वास्थ्य रक्षा करने के योग्य होते हैं।

जो आहार हम करते हैं, आन्तों (intestines) में उसके दो भाग हो जाते हैं, एक पोषक रस जो रक्त के रूप में परिणत होता है, दूसरा मल, जिस की शरीर को आवश्यकता न होने से आन्तें इस को बड़े नल में फैंक देती हैं, और बड़ा नल इस को गुदा द्वार से नियत समय पर बाहिर निकाल देता है, यदि यह मल पूर्ण मात्रा में उचित काल पर विसर्जित नहीं होता, तो हमारे शरीर के लिये हानिकारक और घातक सिद्ध होता है, इस से केवल यही नहीं कि उदर सम्बन्धि रोग उत्पन्न होते हैं, प्रत्युत यह उदर में आने वाले रक्त को अपने विषात्मिक स्पर्श से विषमय करके शरीर के दूसरे अवयवों को भी दूषित करने का हेतु बनता है, जिससे समय २ पर और कई प्रकार के रोगों का आविष्कार होने लगता है, यह कहना अत्युक्ति न होगी कि प्रायः शरीर के सब आन्तरिक रोग उदर के मल का शोधन न होने से उत्पन्न होते हैं, मानों यह व्याधि रूप वृक्ष का बीज है, जिस से कब्ज़ रूप वृक्षस्तंभ (trunk of the tree) बनता है, जहां से भिन्न २ रोग रूपी शाखायें निकली हैं, और जिसका फल अकाल मृत्यु के रूप में प्रकट होता है।

यह मानविक शरीर चाहे किसी अवस्था में भी हो, सदा कुछ न कुछ परिश्रम करता ही रहता है, जिस से

हमारी सेलें, सूत्र तथा तन्तु कुछ न कुछ चेष्टा करते ही रहते हैं, जो चेष्टा करते २ समर्थ हीन होने से जब चेष्टा करने के योग्य नहीं रहते, तो उनकी मृत्यु होजाती है, यदि यह शरीर के भीतर रहें, तो इनसे कई प्रकार के रोग उत्पन्न होने लगते हैं, इस कारण हमारा शरीर स्थूल अस्थिसे लेकर सूक्ष्म चेतना नाडी तक जीवित सेलों (cells), सूत्रों (fibers) तथा तन्तुयों (tissues) द्वारा निरन्तर इस विषात्मिक पदार्थ को निकालता रहता है, जिस का वहिष्करण मनुष्य के वहिष्कारी अङ्गों (excretory organs) द्वारा होता रहता है, यदि यह अङ्ग साथ ही साथ शरीर से इस का शोधन करते रहते हैं, तो मनुष्य का स्वास्थ्य बना रहता है, अन्यथा यह घातक पदार्थ शरीर में रह कर रक्त को दूषित करके नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करता है।

हमारे शरीर में निरन्तर होने वाली मृत्यु, और मृत पदार्थ का वहिष्करण, निवर्तन (katabolism) कहलाते हैं, शरीर में होने वाली निरन्तर मृत्यु के कारण जो न्यूनता आ जाती है, उसकी पूर्ति के लिये हमारी भिन्न २ जीवित सेलें, सूत्र और तन्तु शुद्ध रक्त में से अपने उपयोगी पदार्थ को ग्रहण करके उसके आत्मीकरण से नई रचना का कार्य करते हैं, इस क्रिया को परिवर्तन (Anabolism) कहा जाता है।

यह परिवर्तन और निवर्तन दोनों प्रकार की क्रियायें मिल कर संवर्तन (matabolism) कही जाती हैं।

स्वास्थ्य दशा में बाल्यावस्था में परिवर्तन अधिक और निवर्तन कम होता है, इस कारण शरीर की वृद्धि होती

है, २५ वर्ष की आयु तक परिवर्तन की मात्रा निवर्तन की अपेक्षा अत्यधिक होती है, इससे शरीर शीघ्र वृद्धि को प्राप्त करता है, धीरे २ शरीर की आत्मीकरण शक्ति के कम होते २ मनुष्य की ५० वर्ष की आयु में परिवर्तन और निवर्तन प्रायः एक समान हो जाते हैं, इस कारण २५ से ५० वर्ष तक मनुष्य का शरीर कम उन्नति करता है, तत्पश्चात् धीरे २ निवर्तन की वृद्धि और परिवर्तन की कमी होने लगती है, और मनुष्य की आत्मीकरण शक्ति कम होते जाने से मनुष्य वृद्ध होने लगता है, और ७५ वर्ष पीछे परिवर्तन और निवर्तन में अधिक अन्तर बढ़ता जाता है, जिस से अन्त में सौ अथवा इस से अधिक वर्ष पीछे जब मनुष्य की आत्मीकरण तथा बहिष्करण शक्ति कम होते २ सर्वथा नष्ट हो जाती है, और निवर्तन पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है, तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, परन्तु स्वास्थ्य शास्त्र (Science of physical culture) के नियमों का उल्लङ्घन करते हुये हम व्याधि ग्रस्त हो कर आयु को कम से कम कर सकते हैं, और इन का भलि भांति पालन करते हुये, हम स्वास्थ्य पूर्वक पूर्ण आयु को भोग सकते हैं, किन्तु योग द्वारा हम व्याधि से मुक्त होकर अपने शरीर के परिवर्तन और निवर्तन को युवावस्था के तुल्य स्थिर करते हुये किस प्रकार मृत्यु को वशीभूत कर सकते हैं, इसका वर्णन आगामी पृष्ठों में करूंगा।

———

वृद्धावस्था का प्रादुर्भाव और इस का कारण

प्रत्येक व्याधि मनुष्य को वृद्धावस्था की ओर लेजाने का एक क्रम है, परन्तु इस के अतिरिक्त कुछ पदार्थ भी हमारे शरीर में ऐसे उत्पन्न होते रहतेहैं,जिन की अति मात्रा में उपस्थिति हमारी अस्थियों, चेतना नाड़ियों, रक्तवाहिनी नाड़ियों और पेशियों की लचक को धीरे २ कम करती रहती है, और हम क्रमशः वृद्ध दशा में प्रवेश करने लगते हैं।

यदि हम अस्थियों को ही लें और मनुष्य की बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक की परिवर्तनशील दशा की परीक्षा करें, तो जैसे पहिले भी वर्णन किया गया है, यह प्रतीत होगा, कि आरम्भ में इन में इतनी लचक तथा कोमलता होती है, कि बालक में चलने की भी सामर्थ्य नहीं होती, उस समय बालक की अस्थियां जिह्वा के तुल्य लचकमय पदार्थ से बनी होती हैं, जो दृढ़ तो हैं, किन्तु कठिन नहीं, यह उपास्थियां कहलाती हैं, और सजीव पदार्थ (animal matter) की बनी होती हैं, यह सजीव पदार्थ सौत्रिक तन्तुओं (Fiberous tissues), सेलों (cells) तथा वसा (Fat) से मिल कर बना है, इस में इतनी लचक है, कि अस्थि दबाव पड़ने से झुक जाती है, सीधी नहीं ठहर सकती, इसी कारण

बालक में चोट को सहन करने की शक्ति अधिक होती है, इस लचक का कारण यह है, कि उस समय अस्थि में खनिज पदार्थ (mineral matter) की मात्रा अत्यन्त कम होती है, भिन्न २ प्रकार के लवण मिलकर इस खनिज पदार्थ की रचना करते हुए धीरे धीरे इस की मात्रा को बढ़ाते रहते हैं, जिस से अस्थि का सजीव पदार्थ शनैः २ निर्जीव पदार्थ के रूप में बदलता रहता है, और इस में कठिनता अधिक से अधिक बढ़ते जाने से लचक कम होती जाती है, युवावस्था में अस्थि अपने पूर्ण स्वरूप को धारण कर लेती है, और उस समय इस में सजीव पदार्थ १/३ और निर्जीव पदार्थ २/३ मात्रा में विद्यमान होते हैं, परन्तु खनिज पदार्थ अपनी मात्रा निरन्तर बढ़ाता चला जाता है, जिस से अस्थियों की कठिनाई में वृद्धि होती जाती है, और मनुष्य वृद्धावस्था की ओर अपना पांव बढ़ाता जाता है, जो मनुष्य ऐसा काम वा इस प्रकार का सख़्त व्यायाम करते हैं, जिस से अस्थियों पर अत्यन्त दबाव पड़ता रहे, अथवा अधिक लवण का उपयोग, और पान द्वारा कत्थे व चूने का सेवन करते हैं, उन की अस्थियां कुछ शीघ्र कठिन होने लगती हैं, अस्थियों के लिये वही भोजन लाभदायक हो सकता है, जिस से इनकी लचक बराबर बनी रहे, और वह व्यायाम जिस से शुद्ध रक्त का प्रवाह अस्थियों में खनिज पदार्थ को अधिक मात्रा में एकत्र होने न दे, यह फल हम योग युक्त आहार, आसन तथा प्राणायाम इत्यादि द्वारा ही लाभ कर सकते हैं ।

पेशीमण्डल की अवस्था का भी शरीर की लचक के साथ घना सम्बन्ध है, यदि इन में वसा अधिक मात्रा में एकत्र होने लगे, तो पेशियों की लचक कम होते जाने से यह सुगमता से अपना कार्य नहीं कर सकतीं, और मनुष्य मोटेपन (obesity) के रोग में ग्रस्त होता जाता है, चाहे यह मोटापन मनुष्य के आलस्य का परिणाम हो, अथवा कुश्ती के समान सख़्त व्यायाम (violent exercise) करने से शरीर मोटा हो गया हो, प्रत्येक अवस्था में यह हानिकारक है, भेद केवल इतना है, कि आलसी जन की वसा ढीली तथा शरीर में असमान रूप में (unproportionately) विभक्त होती है, और उदर पर इस का प्रभाव सब से अधिक पड़ता है, और व्यायामशील मनुष्य की वसा सारे शरीर में एक समान (proportionately) विभक्त होती है, और गठित होने से उस का प्रभाव उस समय प्रतीत होने लगता है, जब वह युवकावस्था से उल्लङ्घण कर जाता है, क्षुद्र अन्त्र (intestines) में भोजन से निकला हुआ वसा का भाग वहां की (क्षुद्र अंत्र की) लसीका वाहिनियों द्वारा सारे शरीर में विभक्त होता है, इसी कारण आलसी मनुष्य की वसा, रक्त का प्रवाह धीरे २ चलने के कारण, उदर में ही अति मात्रा में एकत्र होती रहती है, और व्यायाम द्वारा रक्त वेग से प्रवाहित होने के कारण, वसा को सारे शरीर में एक समान विभक्त कर देता है, वास्तव में दोनों अवस्थाओं में वसा का शरीर में अति मात्रा में एकत्र होना, पेशियों की लचक को कम करता और उन की आकुञ्चन तथा प्रसरण क्रिया

में बाधा उत्पन्न करता है, इसी प्रकार अस्थियों की वसा का प्रभाव अस्थियों की लचक पर पड़ता है।

हमारी रक्त वाहिनी नाड़ियों (blood vessels) तथा लसीका वाहिनी नाडियों (Lymphatic vessels) की अवस्था का भी हमारे यौवन तथा वृद्धावस्था पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, यदि इन नाडियों की दीवारों पर रक्त में रहने वाले चूने तथा चाक (chalk) इत्यादि के समान, तै पर बैठ जाने वाले पदार्थ, शनैः २ सञ्चय होते रहें, तो इन से इन नाडियों की लचक धीरे २ कम होने लगती है, जितनी अधिक मात्रा में यह पदार्थ रक्त में विद्यमान होंगे, उतनी ही अधिक यह नाडियां लचक रहित होती जायेंगी, जब हम पान के साथ चूना, करथा तथा सुपारी इत्यादि खाते हैं, या इस प्रकार के पदार्थ सेवन करते हैं, जिन में चूने इत्यादि का अंश अधिक मात्रा में है, और साथ ही यदि हमारे श्वास प्रश्वास (breathing) के ठीक न होने, और प्राणवायु (oxygen) के आवश्यकतानुसार प्राप्त न होने से, रक्त का पूर्ण शोधन नहीं होता, तथा आलसयुक्त जीवन के कारण रक्त का प्रवाह इन नाडियों में वेगपूर्वक नहीं चलता, और यदि हमारे अपने उद्योग तथा व्यायामादि का ढंग भी इस प्रकार का है, जो रक्त को विषमय बनाने में सहायता करता है, अथवा हमारे काम धन्दे इस प्रकार के हैं, जिन में अधिक समय तक एक ही स्थान में बैठे रहना या खड़े रहना पड़ता है, तो जहां हम को इन से और शारीरिक हानि होती है, वहां इन नाडियों की लचक को कम करने पर भी इन का बड़ा प्रभाव पड़ता है, जितनी शीघ्र इन की लचक कम होने लगती है,

उतना ही शीघ्र मनुष्य वृद्धावस्था को अनुभव करने लगता है, परन्तु योग साधन के यथोचित प्रयोग से (जैसा कि मैंने स्वयम अभ्यास द्वारा प्रतीत किया है) हम इन नाडियों की लचक को स्थिर कर सकते हैं,और इन का पूर्ण रीति से शोधन करके कठिन हुई२ नाडियों में पुनः लचक पैदा कर सकते हैं।

चेतना नाड़ी मण्डल (nervous system) की लचक पर भी रक्त का बड़ा प्रभाव पड़ता है, हमारा रक्त जितना ओजस्वी (full of vitality) होगा, उतने ही हमारी चेतना नाड़ियों के सूत्र, सेलें और तारें लचकमय होंगे, और जब तक इन में पूर्ण लचक विद्यमान है, तब तक शरीर को वृद्धावस्था का भय नहीं, परन्तु रक्त में ओज-सञ्चार करने वाला स्त्री तथा पुरुष का वीर्य (vital fluid) है,जो पुरुष के अण्डकोश और स्त्री की डिंब ग्रंथियों तथा गर्भाशय में बन कर,रक्त द्वारा सारे शरीर में पहुंच कर, सब अङ्गों को पुष्ट करता है,और चेतना नाडियों में ओज का सञ्चार करता है, इसी कारण योगशास्त्र स्त्री पुरुष के ब्रह्मचर्य को जीवन के लिये अत्यन्तावश्यक समझता है, और इस की रक्षा के लिये जो साधन योग में पाये जाते हैं, उन का यथायोग्य प्रयोग स्त्री पुरुष में ब्रह्मचर्यकी रक्षा की पूर्ण शक्ति उत्पन्न करता है, जिससे वह अपना यौवन स्थिर रखने में समर्थ होते हैं, और यह साधन आसन तथा प्राणायाम इत्यादि हैं, जिन से हम ब्रह्मचर्य को धारण करने के योग्य हो सकते हैं, और हृष्ट पुष्ट सन्तान उत्पन्न करते हुये वृद्धावस्था पर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं।

इस के अतिरिक्त हमारी प्रणाली विहीन ग्रन्थियों का भी हमारे यौवन तथा वृद्धावस्था पर विशेष प्रभाव पड़ता है, जिन

में परमावश्यक मनुष्य की चुल्लिका ग्रन्थि, उपवृक्क, पीनिअल, पिट्युट्री, अण्ड तथा डिम्ब ग्रन्थियां हैं, यह यदि अपने २ कर्तव्य का पालन पूर्णरीति से करती रहें, तो स्त्री पुरुष कभी बूढ़े नहीं हो सकते, और यदि इन की नष्ट हुई २ शक्ति को किसी प्रकार फिर वापस लाया जा सके, तो वृद्धावस्था को पुनः यौवन में बदल सकते हैं,यद्यपि यह असम्भव प्रतीत होता है, किन्तु योग के अभ्यास से, जो इस पुस्तक के आगामी पृष्ठों में बताया गया है, यह सम्भव प्रतीत होने लगता है, वृद्धावस्था के चिन्ह अर्थात् शिर के श्वेतबाल इत्यादि धीरे २ काले होने लगते हैं, त्वचा की झुरियां दूर होने लगती हैं,शरीर में धीरे २ ओज का सञ्चार होता जाता है, यह बातें केवल लेखमात्र ही नहीं,प्रत्युत इन का अनुभव मैं क्रमशः गत पांच वर्षों से लगातार अपने शरीर में कर रहा हूं, और पाठक गण स्वयं इन का अभ्यास करते हुये, इस में कहां तक सत्य है, इस की स्वयं परीक्षा कर सकते हैं।

रोग की उत्पत्ति और योगशास्त्र

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से व्याधि का कारण कीटाणुयों (Bacteria) के रूप में शरीर से बाहिर भिन्न २ पदार्थों में रहने वाले रोगाणु (germs of disease) हैं, जो हमारे भोज्य पदार्थों, जल इत्यादि, श्वास तथा अन्य वस्तुयों के द्वारा, जब हमारे शरीर में किसी प्रकार प्रविष्ट हो जाते हैं, तो भीतर जाकर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं, यदि शरीर में उन को नाश करने की शक्ति है, अर्थात् रक्त के श्वेताणु (white corpussles) इतने प्रबल हैं, कि उन से युद्ध करके, उन को पराजित कर सकें, तो शरीर का स्वास्थ्य बना रहता है, नहीं तो मनुष्य रोगग्रस्त हो जाता है, किन्तु '‘मेकफ़ेडन’ अपनी ‘एनसाईकलोपीडिया आफ़ फ़िज़ीकल कलचर’ (Encyclopædia of physical Culture) नामक पुस्तक में इस सिद्धान्त का खण्डन करते, और लिखते हैं, कि व्याधि का कारण रक्त की अशुद्धि है, विषात्मिक रक्त ही रोग उत्पन्न करने का साधन है, “व्याधि और उसके कारणों (Disease and its causes)” का वर्णन करते हुए वह एक स्थान में लिखते हैं:—

“Hyppocrates, often called the father of medicine held to this idea, that disease exists merely in the fluids of the body; in other words,

it is *impurity of the blood.* This disease may manifest itself in hundreds of different ways. There may appear thousands symptoms. Medical men have named these various symptoms and they have been classed by them as different diseases (we have already named many of them) but they are all the result of one disease. Practically every advocate of natural curative methods believes there is but one disease, and that disease is impurity of the blood. (Vol. I., Page 57—58).

अर्थ—"हिपोक्रेटस, जो प्रायः चिकित्सा का जन्मदाता कहा जाता है, की सम्मति में व्याधि की स्थिति केवल शारीरिक तरल पदार्थ में है, अर्थात् यह रक्त की अशुद्धि है, व्याधि अपने आप को सैकड़ों भिन्न २ रूपों में प्रकट कर सकती है, इस के सहस्रों वाह्य चिन्ह दृष्टिगोचर हो सकते हैं, डाक्टरों ने इन चिन्हों को भिन्न २ नाम दिये हैं, और उन्हों ने उन को भिन्न २ प्रकार की व्याधियों के रूप में विभक्त किया है, (हम ने भी उन में से कई व्याधियों का कथन किया है), किन्तु यह सब एक ही रोग का परिणाम हैं, वास्तव में प्रत्येक प्राकृतिक (कुदरती) प्रयोग के पक्षपाती का यह निश्चय है, कि रोग केवल एक ही है, और वह रोग रक्त की अशुद्धि है।"

आयुर्वैदिक तथा यूनानी चिकित्सा शास्त्र के अनुसार मनुष्य के शरीर में वात, पित्त तथा कफ की मात्रा के शरीर में न्यूनाधिक हो जाने से रोग पैदा होते हैं,परन्तु किसी का इस

में मत भेद नहीं हो सकता, कि विषात्मिक पदार्थ के नियत समय पर शरीर से वहिष्कार न होने से ही रक्त की अशुद्धि तथा पित्तादि दोषों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि यदि इस घातक पदार्थ का, जो सर्वदा हमारे शरीर के भीतर विद्यमान रहता है, और हमारे रक्त को अशुद्ध करता रहता है, हमारे वहिष्कारी अङ्ग वहिष्करण करते हुये रक्त को शुद्ध करते रहते हैं, तो मनुष्य स्वस्थ रहता है,. किन्तु जिस समय यह अपना कर्तव्य पालन करने में अशक्त हो जाते हैं, और घातक पदार्थ का पूरा २ शोधन नहीं कर सकते, तो मनुष्य अस्वस्थ प्रतीत करता है, इस के अतिरिक्त हमारे शरीर की पकीकरण शक्ति (Digestive Power) के निर्बल हो जाने से हमारा आवश्यक भोजन अपक्वीकृत (undigested food) अवस्था में भीतर स्थित रहने से घातक पदार्थ के तुल्य हानि कारक हो जाता है, इसी प्रकार पक्वीकृत (disgested) आहार यदि शरीर की आवश्यकता से अधिक होने से भीतर स्थित रहे, तो भी विषरूप होकर हानि पहुंचाता है, और साथ ही वह पक्वीकृत भोजन भी भीतर रह कर हानि करने वाला सिद्ध होता है, जिसका शरीर में आत्मीकरण नहीं होता, इससे सिद्ध होता है,कि हमारे घातक पदार्थ की स्थिति का कारण हमारी पाचक शक्ति तथा आत्मीकरण और वहिष्करण क्रिया का दोष है, यह दोश किसी न किसी शारीरिक अङ्ग के अपने कर्तव्य को पूर्ण रीति से पालन न करने से पैदा होता है, और हमारे अङ्गों की क्रिया शक्ति उन से यथायोग्य कार्य न लेने से बिगड़ती है,

जिस का हेतु प्रत्येक मनुष्य तथा मनुष्य-समाज की त्रुटि, भूल, अविद्या और पापकर्म हैं।

उपरोक्त लेख से सिद्ध होता है, कि मनुष्य शरीर में व्याधि के (१) अभ्यान्तरिक (internal) और (२) वाह्य (external), दो कारण हैं, अभ्यान्तरिक कारण, घातक पदार्थ की स्थिति, और वाह्यकारण, हमारी अविद्या इत्यादि। भिन्न२ चिकित्सा शास्त्र भी प्रत्येक रोग में भिन्न२ प्रकार से किसी न किसी रूप में शरीर में एकत्र हुये २ विषात्मिक पदार्थ की स्थिति तथा वृद्धि को रोकने और पैदा हुये २ के बहिष्करण में सहायता देने के लिये ही प्रयुक्त किये जाते हैं इस से सिद्ध होता है, कि रक्त की अशुद्धि का मूलकारण (मल इत्यादि के रूप में) शारीरिक विषात्मिक पदार्थ ही व्याधि का जन्म दाता है।

पश्चिम में आज कल व्यायामादि के द्वारा रोगों को निवृत्त करने का प्रयत्न हो रहा है,जैसा कि पश्चिमी विद्वानों के स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी साहित्य के पढ़ने से ज्ञात होता है, किन्तु वह योगिक शास्त्र की क्रियाओं की अपेक्षा कम उपयोगी प्रतीत होते हैं, साथ ही उन में कई प्रकार की सामग्री तथा यन्त्रों का सेवन तथा प्रयोग करना पड़ता है, जैसा कि Macfadden की Encyclopedia of Physical Culture नामक पुस्तक के तीसरे व चौथे भाग, और Mekenzie के Exercise in Education and medicine के दूसरे भाग के पढ़ने से प्रतीत होता है, पहली पुस्तक में तो प्रायः जल चिकित्सा (Hydropathy) की विधि का अनुकरण किया गया है, और दुसरी में अधिकतर शरीर के अङ्गों के दोष

निवारण करने का विधान है, कुछ हृदयादि के रोगों की निवृत्ति का भी वर्णन है, इन के लिए जो व्यायामादि का प्रयोग बताया गया है, उस में कहीं २ भिन्न २ प्रकार के यन्त्रों की सहायता लेनी पड़ती है, इसी प्रकार बैनिट (Bennet) की 'Old age, its cause and prevention' नामी पुस्तक में वृद्धावस्था के कारणों का वर्णन करते हुये, उस की निवृत्ति के लिये कुच्छ खाट पर सोये हुये व्यायाम करने के प्रकार और कुम्भक प्राणायाम के तुल्य श्वास लेने का ढंग बताया है, और Hornibrook की 'The Culture of the abdomen' नामी पुस्तक में उदर सम्बन्धि विकारों और मोटापनादि रोगों के कारणों का वर्णन करते हुये अन्त में इन के लिये कुच्छ शारीरिक व्यायाम के ढंग बताये हैं, इस में संदेह नहीं कि उपरोक्त पुस्तकों में स्वास्थ्य रक्षा करने के लिये व्यायाम करने की नवीन विधि है, परन्तु शारीरिक रचना की दृष्टि से वह मनुष्य के लिये पूर्ण उपयोगी नहीं हो सकतीं, मेरा यह तात्पर्य नहीं, कि यह पुस्तकें मनुष्य के लिये लाभ दायक नहीं, उन को पढ़ कर अनुकरण करने से अतीव लाभ हो सकता है, इन के साथ कई विचारों में मतभेद रखते हुये भी, मैं इन को मनुष्यों के लिये अत्यन्त उपयोगी समझता हूं, किन्तु योग शास्त्र के अत्यावश्यक और मुख्य साधनों का प्रतिपालन करते हुये, जिस प्रकार गत साढ़े पांच वर्ष अभ्यास करने से आश्चर्यजनक व उत्तम परिणाम मैंने अपने शरीर में अनुभव किया है, उस के आधार पर कह सकता हूं, कि जो प्रभाव इस के द्वारा हमारे शारीरिक स्वास्थ्य पर हो सकता है, दूसरा कोई सिस्टम (system) भी उस की तुलना

नहीं कर सकता, इन के अतिरिक्त कई पश्चिमी विद्वानों ने शारीरिक स्वास्थ्य पर पुस्तकें लिखते हुये केवल व्याधि के कारणों और उसकी निवृत्ति के साधनों का वर्णन किया है, कोई व्यायाम का अपना ढंग नहीं बताया, जैसे 'Secrets of Good Health' by Arbnthnot lane और Exercise and Health by Hutchinson के पढ़ने से ज्ञात होता है, अन्तिम पुस्तक में वर्तमान व्यायाम और खेलों इत्यादि के हानिकारक ढंग पर आक्षेप करते हुये, जिस प्रकार स्पष्ट शब्दों में इनके रोगोत्पादिक परिणामों को दर्शाया है, ऐसा मैंने किसी दूसरी पुस्तक में नहीं देखा।

इस लेख को समाप्त करने से पहिले यह बात पाठकों की सेवा में अवश्य निवेदन करना चाहता हूं, कि 'मेकफेडन' व्याधि को मनुष्य के लिये प्रकृति देवी का प्रसाद कथन करते हैं, वह कहते हैं, यदि मनुष्य को व्याधि न होती, तो उसको शरीर के भीतर विकार का पता न लगता, और इस से उस को अत्यन्त हानि पहुंचती, मैं नीचे उन के शब्दों में ही उन के भावों को प्रकट करता हूं :—

"Disease is a beneficient process of nature, instead of the enemy it seems to be. If there were no discomfort, distress, pain, there would be no warning given to the Poisened man, that his body was diseased, and in a shorter or longer period death would come as the result. But the pain gives forceful warning. It calls his atten-

tion. It says, Halt ! There is something wrong here ! Remedy these wrong conditions or there will be greater trouble ! And the speedier the warning is heeded, and the cause of the trouble removed, the sooner is the disease cured. Hence is not our proposition apperant, that, 'Disease is a beneficient process of nature, instead of the enemy it seems to be ?' In other words, disease is the endeavor of the body to get rid of that within itself which, if retained, will cause worse disease, or more or less speedy death."

अर्थ—"व्याधि,शत्रु होने के स्थान पर, जैसा कि यह प्रतीत होती है, प्रकृति का लाभदायक विधान है, यदि किसी प्रकार की अशान्ति,कष्ट व पीडा न होती,तो विषयुक्त मनुष्य को कोई सूचना न मिलती,कि उस का शरीर व्याधिग्रस्त है, जिस का परिणाम, शीघ्र अथवा कुच्छ समय पश्चात् मृत्यु होगा, किन्तु पीड़ा प्रबल चेतावनी देती है, यह उस को इस ओर आकर्षण करती है, यह कहती है, ठहरो ! आप के शरीर में कुछ विकार है ! इस विकृत दशा का कुच्छ उपाय करो,अन्यथा महान् कष्ट भोगोगे, जितना शीघ्र चेतावनी पर ध्यान दिया जाता है, और पीडा का कारण दूर किया जाता है, उतनी ही शीघ्र रोग से मुक्ति होती है, इस लिये क्या हमारी प्रतिज्ञा प्रत्यक्ष नहीं, कि 'व्याधि' जैसा कि यह प्रतीत होती है, शत्रु होने के स्थान पर, प्रकृति का लाभकारी विधान है ?'

अन्य शब्दों में व्याधि शरीर का अपने भीतर से उस वस्तु को बाहिर निकालने का प्रयत्न है, जो यदि भीतर स्थित रहे, तो रोग को बढ़ाने या न्यूनाधिक मृत्यु को शीघ्र लाने का कारण होगी.।"

परन्तु मैं इस से सहमत नहीं, कि व्याधि मनुष्य के लिये प्रकृति का आशीर्वाद है, यह कदापि कल्याण का कारण नहीं हो सकती, वास्तव में 'मेक्फ़ेडन' जिस को व्याधि समझते हैं, वह व्याधि का चिह्न (symptom of the disease) है, न कि स्वयम् व्याधि, इस चिह्न के द्वारा ही हम व्याधि का खोज लगाते हैं, और इस की निवृत्ति का साधन ढूंडते हैं, इस से प्रतीत होता है, कि मनुष्य के लिये व्याधि किसी अवस्था में भी लाभदायक नहीं, हां इस का चिह्न इस अंश में उपयोगी हो सकता है, कि हम इस के द्वारा व्याधि का निदान समझने में सहायता ले सकते हैं।

आगामी अध्याय में रोग के मूल कारण शारीरिक विष के भीतर एकत्र होने के कारणों का वर्णन करते हुये इस के वहिष्कारि योगिक साधनों की उपयोगिता को दर्शाने का यत्न करूंगा।

शारीरिक शोधन और योग शास्त्र

(Elimination of bodily posions
and the science of Yoga.)

योगशास्त्र के आदि कर्ता महर्षि पतञ्जली योगशास्त्र के मूलाधार यमों तथा नियमों का वर्णन करते हुए, नियमों में सब से पहिला नियम शौच अर्थात् अभ्यन्तर तथा बाह्य शारीरिक शुद्धि कथन करते हैं, अन्य योगशास्त्रों में शारीरिक शुद्धि पर जो ज़ोर दिया गया है, वह निम्न लिखित प्रमाणों से प्रकट होता है :—

"शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥

॥ हठयोगप्रदीपिका, २ उपदेश, श्लोक ५ ॥

अर्थ—मल से भरी हुई शरीर की सब नाडियां जब शुद्धि को प्राप्त होती हैं, तभी योगी प्राण को वशीभूत करने (To have full control over the vital force of the body) के समर्थ होता है ।

नाडीशुद्धि का फल

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायते निश्चितम् ॥

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥

हठ. २ उ. श्लो. १९ व २०

अर्थ—जब नाडियों की शुद्धि होती है, तो बाहिर के चिन्ह यह होते हैं, कि शरीर में कृशता (मोटेपन का अभाव) और कान्ति दृष्टि गोचर होती है ॥

नाडियों का शोधन होने से मनुष्य को श्वास प्रश्वास पर स्वाधीनता (self contrl), जठराग्नि की वृद्धि (attainment of full digestive power), अन्तर्ध्वनि की प्रतीति (realization of the internal voice), और अरोगता (absence of disease) की प्राप्ति होती है ॥ हठ., २उप. श्लो. १६ व २०॥"

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट होता है, कि योग की दृष्टि से नाडियों की शुद्धि का कितना महत्त्व है, और इस से क्या लाभ होता है, यहां पर यह कथन करना आवश्यक है, कि नाडी शब्द का प्रयोग यहां पर केवल चेतना नाडियों (nerves) के लिये ही नहीं किया गया, प्रत्युत पाचन संस्थान (digestive system) रक्तवाहि संस्थान (circulatory system including lymphatic vessels), अस्थिसंस्थान (skeleton) और चेतना नाडी संस्थान (nervous system) के लिये किया गया है, और यह बात उन साधनों से स्पष्ट होती है, जो योगशास्त्र में नाडियों की शुद्धि के लिये दिये गये हैं।

नाड़ी शुद्धि के साधन

(The means of Purification of the Nadis).

नाडी शब्द का प्रयोग संस्कृत में प्रायः उस वस्तु के लिये

होता है, जो भीतर से पोली हो, और इस दृष्टि से मनुष्य शरीर की ऐच्छिक पेशियों को छोड़ कर शेष सब शरीर का भाग भिन्न २ प्रकार की नाडियों के रूप में निर्मित है, जो साधन इन की शुद्धि के लिये प्रयुक्त होते हैं, इन में ऐच्छिक पेशियों पर भी यथा योग्य प्रभाव पड़ता है, और इन नाडियों की शुद्धि उदर के मल तथा शारीरिक विष के शोधन पर निर्भर है, जिस के लिये मुख्यतः आसन तथा प्राणायाम परमावश्यक हैं, किन्तु योगशास्त्र में जो षट् कर्म (six practices), यथा (१) धौती (वस्त्र इत्यादि द्वारा आमाशय और दान्तों इत्यादि की शुद्धि), (२) वस्ति (गुदा द्वारा जल से बड़े नल की शुद्धि (a sort of yogic enima), (३) नेति (सूत्र द्वारा नासिका की शुद्धि), (४) लौकिकी अथवा (नौली आंन्तो को घुमाना), (५) त्राटक (सूक्ष्म लक्ष्य पर दृष्टि जमाना), (६) कपालभाति (लोहार की भस्त्रा के समान वेग से श्वास चलाना), की क्रियायें आती हैं, इन की इतनी आवश्यकता नहीं जितनी प्रायः समझी जाती है, इन में से मैं नौली को आवश्यक समझता हूं, और कपालभाति को प्राणायाम में सम्मिलित करता हूं, त्राटक तो इस समय का हिप्नाटिज़म (hypnotism) का अभ्यास ही है; इस का सम्बन्ध नाडीशोधन के साथ कुच्छ प्रतीत नहीं होता, नेति, वस्ति और वस्त्र धौती से जो मल की शुद्धि की जाती है, इस को आसन तथा प्राणायाम द्वारा उनसे भी अधिक उपयोगिता से किया जा सकता है, जिस का परिणाम भी उन की अपेक्षा अत्यन्त लाभकारी होता है, परन्तु कई लोगों का विचार है, कि इन के विना योग की सिद्धि ही नहीं हो सकती, योगशास्त्र में भी इनको वह

पदवी नहीं दी गई जो योग विद्या के शिक्षक तथा आचार्य प्राय: आजकल देते हैं, हठ योग प्रदीपिका में लिखा है।

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।

अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः॥ उप.२, श्लो.२१

अर्थ—जिस मनुष्य के शरीर में मेदा (वसा) तथा कफ अधिक मात्रा में हों, वह षट् कर्मों का अभ्यास करे, और जिस में वात, पित्त और कफ रूपी दोषों की समानता हो, वह न करे।

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।

प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति॥ उ॰२, श्लो३६

अर्थ—षट् कर्मों के अभ्यास से जिस मनुष्य के स्थूलता, वात, पित्त, कफ, बीस प्रकार के मल इत्यादि के दोष दूर हो गये हैं, वह बिना परिश्रम के प्राणायाम में सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ।

आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥

उप. २, श्लो. ३७

अर्थ—कई आचार्यों की सम्मति में (षट् कर्मों में से) किसी कर्म की आवश्यकता नहीं, केवल भिन्न २ प्रकार के प्राणायाम करने से ही उपरोक्त सब प्रकार के मल दोष दूर हो जाते हैं।

ऊपर के श्लोकों से ज्ञात होता है, कि योग के आचार्यों में जहां मतभेद है, वहां कोई आचार्य भी इन कर्मों को सब के लिये नियुक्त नहीं करता, और यदि हम घेरण्डसंहिता का पाठ

करें, तो वहां धौती और वस्ति के कई प्रकार दिये गये हैं, वहां दान्त, कान, जिह्वा, कण्ठ इत्यादि की शुद्धि भी धौति में आ-जाती है, और आन्तों तथा गुदा की नाडियों को गति देना वस्ति में सम्मिलित है, और इन के लिये कई प्रकार के साधन दिये गये हैं, मेरी सम्मति में भिन्न २ प्रकार के प्राणायाम और आसनों द्वारा हम पूर्ण रीति से मलादि की शुद्धि कर सकते हैं, और वस्त्र धौति, जलवस्ति व नेति करने की किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

اب وہ وقت آ پہنچا جب کہ ہمارا آزاد ہندوستان
نہ کہ ہم دنیا پر حکومت کریں گے ہندوستان یہ
نہیں چاہتا ہے کہ وہ دنیا پر حکومت کرے لیکن +

उदर शोधन

यदि हम चाहते हैं, कि हमारा शरीर मल रहित हो, तो हम को सब से प्रथम इस ओर ध्यान देना चाहिये, कि जो आहार हम नित्य करते हैं, उस का अनावश्यक भाग पूर्ण रीति से नित्य नियत समय पर उदर से बाहिर निकलता रहे, और हम पर लेशमात्र भी कबज़ का आक्रमण न हो, यदि हो भी तो विना औषधि आदि के प्रयोग के हम शीघ्र ही उस से मुक्त हो जायें, इस में सन्देह नहीं, कि हमारे भोजन के प्रकार और दिनचर्या के साथ इस का घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु इन के साथ ही उपयोगी व्यायाम की भी आवश्यकता है, जो उदर की अनैच्छिक पेशियों को यथायोग्य गति देकर, और इन पर गहरा दबाव डालकर, पूर्ण मल विसर्जन करने में सहायकारी हो सके, ऐसे मनुष्य भी देखे जाते हैं, जो आहार इत्यादि पर पूर्ण ध्यान देते हुये भी इस रोग में ग्रस्त रहते हैं, क्योंकि व्यायाम करने में उन की रुचि नहीं होती, कई प्रकार के दण्ड, बैठिक, कुश्ती, जमनास्टिक इत्यादि व्यायाम करते हुये, और हाकी, फ़ुटबाल इत्यादि कई प्रकार की खेलों में भाग लेते हुये भी प्रायः इस रोग से मुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि उदर की अनैच्छिक पेशियों पर इन का यथोचित प्रभाव नहीं पड़ता, इस बात को अनुभव करके स्वास्थ्य शास्त्र के विद्वानों ने कई प्रकार के उदर सम्बन्धी व्यायाम (abdominal exercises) पर पुस्तकें लिखी हैं,

किन्तु उन का अभ्यास करने से भी उदर की अनैच्छिक पेशियों पर वह गहरा प्रभाव नहीं पड़ता, जिस से पूर्ण रीति से मल विसर्जन हो सके, योग के आसन इत्यादि का अभ्यास करने वाले भी बहुधा ऐसी ही रुग्णावस्था में दृष्टिगोचर होते हैं, और यह परिणाम उन के अभ्यास करने की विधि में दोष के कारण है, यह दोष क्या है और ठीक विधि क्या है, इस का विस्तार पूर्वक उल्लेख अगले पृष्ठों में आयेगा, इस समय मैं संक्षेप से यह कथन करूंगा, कि कौनसी योग की क्रियायें हमारे उदर शोधन के लिये उपयोगी हो सकती हैं।

योग के प्रत्येक आसन के विधिपूर्वक करने से सारे शरीर पर एक सामान्य प्रभाव और विशेष भाग पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है, और प्रत्येक आसन का पाचक विभाग पर कुच्छ न कुच्छ विशेष प्रभाव अवश्य पड़ता है, कई प्रकार के आसन उदर पर भिन्न २ प्रकार से प्रभाव डालते हैं, इस लिये केवल एक आसन के अभ्यास से हम उदर के मल का सर्वथा शोधन नहीं कर सकते, मैंने अनन्त प्रकार के आसनों में से नित्य अभ्यास करने के लिये केवल १५ का संग्रह किया है, जो सर्वप्रकार से शरीर की व्याधि तथा वृद्धावस्था से रक्षा करने और मृत्यु को वशीभूत करने के लिये उपयोगी हो सकते हैं, उनमें से पूर्वोत्तान (चित्र, आसन नं. ९) पश्चिमोत्तान (चित्र, आसन नं. ६) और मयूर (चित्र, आसन नं. १४), यह तीन आसन उदर शोधन के लिये विशेष लाभकारी हैं, इन में से जो प्रभाव आन्तों और बड़े नल में से मल विसर्जन करने में मयूरासन का

अनुभव हुआ है, वह किसी दुसरे आसन का नहीं हुआ, उदर में यदि थोड़ा सा भी मल हो तो इसके अभ्यास करते २ ही मल निवृत्ति की इच्छा होती है, इन के अतिरिक्त उड्डियान बंध (चित्र, नं० १२) और नौली (चित्र, नं० १३) भी उदर शोधन के लिये अतीव उपयोगी हैं, उड्डियान से आन्तों तथा बड़े नल पर गहरा दबाव डाल कर और नौली से आन्तों को गति देकर हम मल शोधन की क्रिया को सुगम करते हैं, किन्तु मयूरासन का प्रभाव इन दोनों क्रियाओं से भी अधिक पड़ता है।

मैंने अपने अनुभव से उदर शोधन की जो विधि ज्ञात की है, उसका प्रभाव मैंने इन सब से अधिक उपयोगी प्रतीत किया है, और इस विधि को कब्ज़ के रोगियों पर प्रयुक्त करके, उन की पुराणी से पुराणी कब्ज़ को दूर करने में सफलता प्राप्त की है, इस विधि का प्रयोग मैं नित्य मल विसर्जन के समय करके उदर को यथा सम्भव मलशून्य कर लेता हूं।

यदि हम नाभि (navel) से कुछ नीचे की ओर हाथ की अङ्गुलियों से गहरा दबाव डालकर अङ्गुलियों को उदर में नीचे ले जायें, तो हम को वहां एक ग्रन्थि प्रतीत होगी, और इसी की सीध में दाहिनी और बाईं ओर बड़े नल में अन्त्रपुट (cecum) और श्रोणिगा वृहदन्त्र (Pelvic region) में स्थित दाहिना और बायां कटिप्रदेश दबाने से ऐसी ही दो ग्रन्थियां प्रतीत होती हैं, ऐसी ग्रन्थियां नाभी के नीचे चारों ओर फैली हुई हैं. जिनको नाभि ग्रन्थियां कहते हैं, यह हमारे पाचक विभाग पर प्रभाव डालती हैं, मैंने अपने अनुभव द्वारा ज्ञात किया है, कि भिन्न २

ग्रन्थियों पर धीरे २ गहरा दबाव डालने से आन्तों और बड़े नल के भिन्न २ भागों में से मल सरकता हुआ गुदाद्वार से बाहिर निकलने लगता है, इनको दबाने से मनुष्य को उतनी ही अधिक पीड़ा होती है, जितना कि वह कब्ज़ के रोग से ग्रस्त होता है, और इन ग्रन्थियों पर नित्य प्रातःकाल धीरे २ गहरा दबाव डाल कर हम शनैः २ इस रोग से पूर्ण मुक्त हो सकते हैं, और स्वस्थ अवस्था में शौच होने के समय मल विसर्जन हो जाने पर नित्य इन पर दबाव डालकर उदर का पूर्ण शोधन कर सकते हैं, इसी प्रकार शौच के समय नाभि के ऊपर के मांस को दाहिने हाथ में पकड़ कर पूरक (धीरे २ गहरा श्वास अन्दर खेंच कर) के पश्चात् कुम्भक (श्वास को भीतर ठहरा कर) करके और बायें हाथ का दबाव दाहिने हाथ पर डाल कर, जिह्वा को जितना भी सम्भव हो, मुख से बाहिर निकाल कर, तन कर उसे इधर उधर गति देने अथवा स्थिर रख कर अश्विनी मुद्रा (मल विसर्जन के समय घोड़ी के समान गुदा को भीतर तथा बाहिर गति देना) करने से उदर का रहा सहा मल भी बाहिर निकलने लगता है, इसके अतिरिक्त नाभि की दाहिनी तथा बाईं ओर हाथों से दोनों श्रोणि प्रदेशों में स्थित बड़े नल की दीवार पर दबाव डाल कर, घुटनों को कुछ भीतर की ओर झुकाने से बड़े नल की दीवार उभर आती है, उस समय पूरक के पीछे कुम्भक की अवस्था में गुदा पर दबाव डालने से भी मल का गुदा द्वार से बहिष्कार होने लगता है, यह क्रिया दोनों हाथों से एक ही समय बड़े नल की दोनों दीवारें दबाने अथवा पृथक २ प्रत्येक हाथ से दबाने से की जाती है,

यह मेरे लिए असंम्भव है, कि मैं प्रत्येक किया की, सूक्ष्म विस्तार से पूरी २ व्याख्या कर सकूं, मैंने केवल संकेत मात्र इनका वर्णन किया है, बुद्धिमान् जन अपने अनुभव से पूर्ण लाभ उठा सकते हैं।

मैं जब प्रातः काल चार साढ़े चार बजे जागृत होता हूँ, तो उसी समय मल विसर्जन की इच्छा होती है, शौच जाने पर अपने आप मल निकल जाता है, और ऐसा प्रतीत होता, है, कि अब उदर सर्वथा मलशून्य हो गया है, तत्पश्चात् मैं उपरोक्त क्रियायें करता हूं, तो कितना ही मल और भी विसर्जित होता है, और शरीर में हलकापन, स्फुरता, ओज और आनन्द अनुभव होता है।

आसनों तथा अन्य योगिक क्रियाओं के साथ प्राणायाम का ऐसा ही गहन संबन्ध है, जैसा शरीर का आत्मा के साथ, योग की पुस्तकों में आठ प्रकार के प्राणायाम बतलाये गये हैं प्रत्येक प्रकार के प्राणायाम का प्रभाव रक्त शुद्धि पर पड़ता है, और रक्त के द्वारा सारे शरीर पर पड़ता है, और इसके साथ ही विशेष प्राणायाम को करते समय शरीर के विशेष अङ्ग पर विशेष प्रभाव पड़ता है, कई प्रकार के प्राणायाम उदर शोधन पर विशेष प्रभाव डालते हैं, इन का वर्णन आसन तथा प्राणायाम के अध्याय में यथावश्यकता विस्तार-पूर्वक किया जायेगा।

उदर के मल का नित्य प्रातः व सायंकाल पूर्ण शोधन करते हुए, हम व्याधि और वृद्धावस्था से मुक्त होते हुये, जीवन के वास्तविक आनन्द को उपभोग करने के योग्य हो सकते हैं।

किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि जितनी इन क्रियाओं की विधि ठीक तथा शरीर में लचक और कृशता (मोटे पन का अभाव) होगी, उतना ही उपरोक्त क्रियाओं का प्रभाव उदर पर अधिक उपयोगी होगा, यह क्रियायें बिलकुल खाली पेट करनी चाहियें, भोजन के अनन्तर करने से हानि होगी।

शारीरिक व्यायाम की आवश्यकता

(The need of Physical Exercise.)

हमारे शरीर में जो निरन्तर विष उत्पन्न होता रहता है, प्रकृति के नियमानुसार उस का बहिष्करण भी होता रहता है, किन्तु कुच्छ न कुच्छ विष भीतर स्थित होता हुआ सञ्चय होता रहता है, जिस को यदि नित्य बाहिर निकालने का उपाय न किया जाये, तो दीर्घ काल पर्यन्त उस के भीतर पड़ा रहने से शरीर की सेलें तथा तन्तु धीरे २ निर्बल होते जाते हैं, और रक्त अशुद्ध होता हुआ कई प्रकार के रोगों को पैदा करने का साधन बनता है, इस विष को शरीर से बाहिर निकलने के लिए रक्त को वेग से शरीर में प्रवाहित होने की आवश्यकता होती है, और शरीर में स्वाभाविक ही विशेष प्रकार की चेष्टायें होने लगती हैं, मनुष्य में चलने फिरने, भागने इत्यादि की इच्छा होती है, जो बालक अभी चलने फिरने के योग्य नहीं हुआ, वह स्वस्थावस्था में जागृत दशा में प्रायः हाथ पैर इत्यादि यथाशक्ति वेग से हिलाता रहता है, बालकों और नवयुवकों में खेल क्रीडा इत्यादि की स्वाभाविक इच्छा विद्यमान है, जिस समय तक विद्यमान सभ्यता का शुभ आगमन नहीं हुआ था, और मनुष्य का पालन पोषण प्रकृति की गोद में होता था, तो उस का सारा जीवन ही प्रायः उद्योग सहित विश्राम का जीवन था, जिस से शारीरिक विष का बहिष्करण यथासम्भव अपने आप ही होता रहता था, उस का जीवनाधार

वह फल, शाक और धान्य इत्यादि थे, जो वह अपने प्रयत्न तथा पुरुषार्थ से प्रकृति माता से प्राप्त करता था, जिसके लिए उसके शरीर के भिन्न २ अङ्गों को भिन्न २ प्रकार की चेष्टायें करनी पड़ती थीं, आपत्ति के समय अपनी रक्षा इत्यादि के लिए उसको आखेट की भी आवश्यकता पड़ जाती थी, उसका शरीर स्वस्थ, निरोगी और शक्तिशाली था, ज्यूं २ मनुष्य प्रकृति की गोद का तिरस्कार करके वर्तमान सभ्यता के चमत्कारों में पलने लगा, त्यूं २ उसकी शारीरिक चेष्टायें संकुचित होने लगीं, शुद्ध जल और खुली वायु तथा प्रकाश, जो जीवनाधार थे, वह दुर्लभ होते गए, प्राकृतिक पदार्थों का जो पथ्य तथा साधारण आहार था, उस के स्थान में नाना प्रकार के कृत्रिम पदार्थों का सेवन होने लगा, जहां नना प्रकार के व्यवसाय करते हुए उस के शरीर की प्रायः सब पेशियों का नित्य प्रयोग हो जाता था, वहां व्यवसाय विभाग (division of Labour) होने के कारण, सब पेशियों का यथा योग्य प्रयोग असम्भव हो गया, उस का सरल जीवन कठिन समस्यायों की शृंखला बन गया, जिसका फल उसको क्रमशः शारीरिक पतन तथा अनन्त प्रकार के रोगों के रूप में सहन करना पड़ा, अपने मानसिक आविष्कारों द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने वाला मनुष्य जीवन स्वतन्त्रता को खो कर स्वयं इस का दास बन गया, और शरीर के स्वास्थ्य को बेच कर सुख के साधन एकत्र करने में मग्न हो गया, वैद्यों और डाक्टरों की सहायता के बिना उस

का जीवन प्रायः असम्भव प्रतीत होने लगा, तो उस की सहायता के लिए स्वास्थ्य शास्त्र (Science of Pysical culture) का जन्म हुआ, और विद्वानों ने कई प्रकार के व्यायाम करने के ढंग निकाले, कि मनुष्य की भिन्न २ ऐच्छिक पेशियों को गति देकर शारीरिक विष का वहिष्कार किया जाय, जिस से उस के स्वास्थ्य की रक्षा करने और शारीरिक अधोपतन को रोकने का यत्न किया जासके, किन्तु लगातार तथा धीरे धीरे अनुभव करने से पता चला, कि केवल इन पेशियों की चेष्टायें मनुष्य के लिए पूर्ण उपयोगी नहीं हो सकतीं जब तक चेतना नाड़ियां, जिन के विना पेशियां असमर्थ और मृतवत हैं, ओज सम्पन्न (Possessed of vitality) न हों, और हमारे मर्म स्थान (vital organs) यथा हृदय, फुफस इत्यादि में बल व शक्ति का सञ्चार न हो, जिस से उनका ध्यान इनकी ओर आकर्षित हुआ, और कई प्रकार के व्यायाम करने के नये विधान प्रादुर्भूत होने लगे, जब से चिकित्सा शास्त्र (Medical Science) ने प्रणाली विहीन ग्रन्थियों (Ductless or Endocrine glands) को महत्व देना आरंभ किया है, तब से आधुनिक स्वास्थ्य शास्त्र (Modern Science of Physical culture) की दृष्टि भी इसकी ओर परिवर्तित होने लगी है, किन्तु जहां तक मैंने वर्तमान स्वास्थ्य शास्त्र के साहित्य का स्वाध्याय किया है और जहांतक मेरा अनुभव है, मुझे प्रतीत हुआ है, कि अभी तक कोई ऐसा विधान (System) ज्ञात नहीं होता, जो कि मनुष्य के लिये पूर्ण उपयोगी कहा जासके, यह मेरा कथन कहां तक युक्तियुक्त है, इस की समालोचना आगामी पृष्ठों में करने की चेष्टा करूंगा।

सर्वोत्तम व्यायाम पद्धति का लक्ष्य

(The aim of the best system of Exercise.)

गत पृष्ठों के अध्ययन से पाठकों को प्रतीत हो गया होगा कि शरीर के स्वास्थ्य तथा यौवन को स्थिर रखने तथा मृत्यु को वशीभूत करने के लिये यह परमावश्यक है, कि मनुष्य का पाचक विभाग यथायोग्य अपने कर्तव्य का पालन करता रहे, अर्थात् हमारी पाचन क्रिया तथा मलविसर्जन का कार्य पूर्ण रीति से होते रहें, हमारे आहार के सार रस रक्त का आत्मीकरण और शरीर में निरन्तर पैदा होने वाले विषात्मिक पदार्थ का बहिष्करण नित्य प्रति साथ ही साथ होता रहे, हमारे शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग में स्वस्थ मनुष्य के परिपक्व यौवन काल की लचक बनी रहे, शरीर की सेलों, तन्तुओं और सूत्रों की सहनशक्ति (Power of endurance) तथा रोधन शक्ति (Power of resistence) में निरन्तर वृद्धि होती रहे, और प्रणाली विहीन ग्रन्थियां अपना कर्तव्य पालन करने में सदा तत्पर रहें, जो पद्धति शरीर में उपरोक्त अवस्था को स्थिर रखने तथा पतित अवस्था को उन्नत करने में समर्थ है, जिस से शरीर का प्रत्येक अङ्ग तथा विभाग प्रभावित होता है, वही हमारे लिये परमोपयोगी है, और इसी धेय का प्रतिपालन करने

वाली व्यायाम पद्धति अनुकरण किये जाने के योग्य है।

पूर्ण उपयोगी व्यायाम पद्धति के पूर्वोक्त लक्षणों को सन्मुख रखते हुये, अब हम देखते हैं, कि कौन सी पद्धति परीक्षा में ठीक उतरती है, पाचक विभाग के विषय में पहिले कथन किया जाचुका है, अब दूसरे विभागों के सम्बन्ध में यथानुभव संक्षेप से वर्णन करने का यत्न करूंगा॥

अस्थिमण्डल और योगासन

(Bones and Yogic postures.)

अस्थियों की दृढ़ता तथा शक्ति प्रायः लोग इस में प्रतीत करते हैं, कि उन को लोहे के समान कठिन बना दिया जाये, और हमारे व्यायाम करने के ढंग भी प्रायः ऐसे ही हैं, जो यही परिणाम पैदा करते हैं, किन्तु हम इस को भूल जाते हैं, कि वास्तव में इस से हम वृद्धावस्था को शीघ्र बुलाने के लिये निमन्त्रण दे रहे हैं, हम को स्मर्ण रखना चाहिये कि जिस व्यायाम से हमारी अस्थियों पर जितना अधिक दबाव बाहिर से डाला जायगा, उतनी अधिक हमारी अस्थियां सख़्त होती चली जायेंगी, जिस से हमारी शारीरिक शक्ति धीरे धीरे लुप्त होती जायेगी, समय आयेगा जब हम अनुभव करेंगे कि हमारी अस्थियों में रोग उत्पन्न होने से इन में दर्द पैदा हो गया है, और हम व्यायाम करने में असमर्थ होने लगे हैं, अब हम में वह शक्ति नहीं, जो पहिले प्रतीत होती थी, इस बात का अनुसन्धान करने के लिये मल्लयुद्ध करने वालों, सैंकड़ों दण्ड और बैठक एक ही बार निकालने का साहस करने वालों, हाकी, फ़ुटबाल इत्यादि खेलों में निपुण नवयुवकों, तथा मीलों तक दौड़ लगाने में समर्थ मनुष्यों की उत्तरायु की शारीरिक अवस्था प्रत्यक्ष व स्पष्ट प्रमाण है, यह लोग प्रायः कहा करते हैं, कि "युवक अवस्था में तो हम सब के शिरोमणि, बल, तथा शक्ति में

अद्वितीय, और मुक़ाबले के क्षेत्र में सब पर विजय प्राप्त करते थे, अब यदि बलहीन हो गये, तो क्या, पतन तो संसार में प्रत्येक वस्तु का स्वभाविक क्रम है, इस से कौन बच सकता है, जो जीवन पर्यन्त मृतवत् जीवन व्यतीत करते रहे हैं, उन से तो हम कहीं अच्छे रहे हैं, इत्यादि, " परन्तु प्रश्न यह है, कि यदि हम को कोई ऐसा मार्ग ज्ञात हो जाये, जिस से हमको वृद्ध काल को अनुभव करने की नौबत ही न आये, और हम जीवन पर्यन्त यौवन का आनन्द भोग सकें, तो इस में आपत्ति ही क्या है ? यदि हम ऐसी इच्छा रखते हैं, तो फिर हम को अस्थियों का व्यायाम उस ढंग का करना होगा, जो मनुष्य को मनुष्यों से मुक़ाबला करने के स्थान में वृद्धदशा का मुक़ाबला करने के योग्य बनाये, और यह इनकी लचक को स्थिर रखने से होसकता है, किन्तु लचक की स्थिरता तभी रखी जासकती है, जब हम अस्थियों को अस्थियों के द्वारा, इनकी शारीरिक रचना की बनावट को बिगड़ने के बिना, इस प्रकार से धीरे धीरे गति दें, जिस से कि वह पूर्ण रीति से यथा सम्भव तन जायें, और इस तान की अवस्था में कुछ सैकण्ड स्थिर रह कर, अस्थियों पर गहरा प्रभाव डालते हुये धीरे २ उन को ढीला करते हुए, जिस अवस्था से आरंभ किया था, उसी दशा में फिर आजाने के पश्चात् शरीर को ढीला करते हुये शवासन में लेट जायें, ताकि अस्थियों को भीतर से विष को बाहिर फैंकने और रक्त को सेवन करने का पूर्ण अवसर प्राप्त हो सके, इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है, कि गतियां जितनी अधिक से अधिक धीरे धीरे करने और अस्थियों को बिना किसी

प्रकार के ज़रा सा भी हिचकोला (Jerk) देने के, यथासंभव पूर्ण रीति से तनने की योग्यता तथा शक्ति मनुष्य में आती जायगी, उतना ही उत्तम से उत्तम परिणाम होगा, और इस से जहां अस्थियों में लचक बढ़ती जायगी और सख़्त से सख़्त अस्थियों में पुनः लचक आती जायगी, वहां इन में स्थायी बल और शक्ति का सञ्चार होता जायगा, किन्तु पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिये अस्थियों को भिन्न २ प्रकार से यथासंभव गति देने की आवश्यकता है, इस प्रकार अस्थियों को गति देने का प्रभाव पेशीमण्डल पर भी अतीव कल्याणकारी पड़ता है, परन्तु यह भी स्मरण रखने योग्य है, कि हम प्रचलित तानिक यन्त्रों (Stretchers) द्वारा शरीर को तन कर अस्थियों पर तथा पेशियों पर वह प्रभाव नहीं डाल सकते' जो अस्थियों को अस्थियों द्वारा खेंच तान कर पैदा कर सकते हैं जैसा कि पुस्तक के अन्त में दिये हुये भिन्न २ धनुरासन, पूर्वोत्तान, पश्चिमोत्तान, मत्स्य, और मत्स्येन्द्र आसनों द्वारा हो सकता है, इन के अतिरिक्त इस पुस्तक में दिये हुये दूसरे आसन भी अस्थियों पर भिन्न २ प्रकार से प्रभाव डालते हैं, आसनों के द्वारा हम शरीर के व्यङ्ग दोष (Deformities of the body) भी प्रायः दूर कर सकते हैं, जिन के लिये पश्चिम में बहुमूल्य यन्त्रों द्वारा व्यायाम करने का विधान है, जिस का वर्णन Exercise in Education & medicine by Mekenzie के उत्तर भाग में मिलता है।

पेशीमण्डल और योगासन

Muscles and yogic postures

केवल साधारण मनुष्यों का ही नहीं प्रत्युत विद्वानों का भी विचार है, कि योग केवल आत्मिक उन्नति के लिये है, इस का शारीरिक उन्नति से सम्बन्ध नहीं, वर्तमान कालीन योगविद्या के आचार्य तथा शिक्षक, जो योग को विद्यमान वैज्ञानिक रूप में उद्धृत करने में लगे हैं, और इस को शारीरिक रोगों की निवृत्ति तथा शारीरिक उन्नति के लिये उपयोगी समझते हैं, उन की भी सम्मति है, कि योगासनों का ध्येय चेतन-नाड़ि मण्डल का विकाश (toning up of the nervous system) है, इन से स्नायुवृद्धि (development of the muscles) की आशा नहीं रखनी चाहिये, इस के लिये अन्य स्नायुवर्धक व्यायाम करने की आवश्यकता है, जैसा कि श्री स्वामी कुवलयान्द जी, योगमीमांसा में लिखते हैं, और श्रीयुत सुन्दरम की भी यही सम्मति है।

किन्तु मेरे विचार में योग के आसन वास्तविक स्नायुवृद्धि का साधन हैं, यदि इनको इस विधि से किया जाये, जिस का वर्णन इसी अध्याय में किया जायगा. किन्तु इस से पहिले मैं यह स्पष्ट करना उचित समझता हूं कि वास्तव में स्नायुवृद्धि का तात्पर्य क्या है, और लोगों का दृष्टिकोण इस विषय में क्या है।

लोग प्राय: उस को बलवान् समझते हैं, जो देखने में हृष्टपुष्ट प्रतीत हो, दूसरे पर मल्लयुद्ध (wrestling) इत्यादि में विजय प्राप्त कर सके, जिसने अपना शरीर व्यायाम द्वारा गठित तथा मोटा बना लिया हो, जो अपनी पेशियों को उभार कर गेंद के समान बाहिर निकाल कर पृथक् २ दिखा दे, और अपने शरीर को पत्थर के समान कठिन बना सके, जो बड़े २ भारी बोझ उठाने, लम्बी से लम्बी दौड़ कम से कम समय में लगाने, अधिक से अधिक दण्ड व बैठक निकालने, भारी से भारी मुङ्गली तथा मुगदर इत्यादि फिराने में समर्थ हो, जो कई प्रकार के आश्चर्यजनक शारीरिक करतब कर के दिखा सके, शारीरिक क्रीडाओं (games and sports) में सब मुकाबिला करने वालों को पराजित करले, और खेलने में सबका शिरोमणि हो, जिसका आहार सामान्य मनुष्यों से बहुत अधिक हो, यह उस मनुष्य का चित्र है, जिस को लोग हृष्ट पुष्ट (muscular) प्रतीत करते हैं।

मेरी मति में स्नायु वृद्धि (muscular development) का तात्पर्य यह है, कि पेशियों के सूत्रों, तन्तुओं तथा सेलों में सहन शक्ति (Power of endurance) तथा रोधन शक्ति (Power of resistence) दिन प्रति दिन बढ़ती जाये, मनुष्य उत्तरायु काल में भी, चाहे वह सौ वर्ष का हो जाय, किसी प्रकार की शारीरिक निर्बलता अनुभव न करे, और जो बल तथा शक्ति उस की पेशियों में यौवनकाल में थी, उस को निरन्तर स्थिर रख सके, इनकी लचक बराबर बनी रहे, और इन में घातक पदार्थ तथा वसा की एकत्रता (Accumulation) न हो।

लोगों की सम्मति में वह व्यायाम अधिक उपयोगी है, जिस के द्वारा शरीर अतीव श्रान्त तथा स्वेदज पूर्ण (full of prespiration) हो जाय, और व्यायाम करने के पश्चात् मनुष्य अपने में कुछ भी साहस (vigour) प्रतीत न करे, परन्तु पाठकों को इस पुस्तक के पढ़ने से ज्ञात हो गया होगा, कि शारीरिक श्रान्ति पेशियों के तन्तुयों तथा सेलों में मृतपदार्थ के अतिमात्रा में एकत्र होजाने के करण होती है, और यह श्रान्ति मानों प्रकृति की चेतावनी (warning) है, कि विश्राम (rest) द्वारा इस विषात्मिक पदार्थ का शोधन किया जाये, परन्तु मनुष्य इस पर ध्यान न देते हुये, व्यायाम करने में मग्न रहता है, क्योंकि उस ने तो व्यायाम का लक्ष्य ही शरीर को श्रान्त करना बना रखा है, वह कैसे सावधान हो सकता है, उसका हृदय और फुफसों के यथासंभव अत्यन्त प्रयत्न से शरीर में रक्तसञ्चार (pumping the blood) करने, और रक्तशोधन (purification of blood) करने पर भी, यह विष शरीर में अधिक से अधिक मात्रा में एकत्र होता जाता है, और उस के शरीर से त्वचा (skin) द्वारा निरन्तर निकलने वाला पसीना पराकाष्ठा पर पहुंचने से, शरीर स्वेदज पूर्ण हो जाता है, इस से शरीर के भीतर से जल का आवश्यक भाग बहुत सा बाहिर निकल जाने के कारण प्यास की भड़क लगती है, उसकी तन्त्रियां अर्थात् चेतना नाड़ियां (nerves) पेशियों को अतिवेग से गति देते २ सामर्थ्य हीन हो जाती हैं, अस्थियां पेशियों की गतियों को वेगपूर्ण होने में सहायता देते २ शक्तिशून्य हो जाती हैं, मनुष्य का शरीर अत्यन्त शिथिल

अवस्था को प्राप्त हो जाता है, और इस को वह उत्तम कोटि का लाभदायक व्यायाम प्रतीत करता है, जिस से कि वह शरीर के तन्तुयों, सूत्रों और सेलों में विष का सञ्चार करके, इस को किसी प्रकार की चेष्टा करने के अयोग्य बना लेता है।

दूसरी ओर ऐसे भी जन हैं, जो दस पन्दरा मिणट के व्यायाम से ही संतुष्ट हो जाते हैं, उन के विचार में शरीर के कुच्छ अङ्गों को गति देना ही पर्याप्त है, किसी की सम्मति में एक घण्टा टैनस या भ्रमण इत्यादि के समान साधारण व्यायाम ही पूर्ण उपयोगी है, परन्तु इस से हम व्यायाम के असली उद्देश को पूरा नहीं कर सकते, क्योंकि शरीर की सब पेशियों को यथोचित गति देकर उन पर गहरा तथा स्वास्थ्यप्रद (healthy) प्रभाव नहीं डाल सकते, और साथ ही यह गतियां अधूरी और एक देशी (one sided) होती हैं।

मैं ने अपने गत पांच वर्ष के क्रियात्मिक अनुभव (practical experience) से ज्ञात किया है, कि पैशिक व्यायाम (muscular exercise) पूर्ण लाभदायक वही हो सकता है, जिस से शरीर के तन्तुयों तथा सेलों का, जो परस्पर संघर्षण द्वारा निर्बल और निकम्मे हो गये हैं, नाश हो जाने पर, साथ ही साथ पूर्ण बहिष्करण हो सके, और उन के स्थान पर, उन से अधिक सबल और ओजसम्पन्न (full of vitality) तन्तुयों व सेलों की रचना उन से अधिक संख्या में हो सके, इस के लिये यह आवश्यक है, कि हमारे शरीर की प्रत्येक पेशी अत्यन्त धीरे २ संकोच (contract) करती हुई यथासंभव पराकाष्ठ पर पहुंच जाये, और फिर

उसी प्रकार धीरे २ प्रसारित (relaxed) होती हुई पूर्ण मात्रा तक पहुंच जाये, यह तभी हो सकता है, जब कि हम अत्यन्त धीरे २ बिना किसी प्रकार का झुजका लगाने के पेशी को गति दें, और इस के अनन्तर उस को विश्राम देने के लिये उतना समय प्रदान करें, जिस से इस के भीतर एकत्रित मृत पदार्थ का पूर्ण शोधन हो जाये, और नये तन्तु तथा सेलें निर्माण होने का पूरा २ अवसर प्राप्त हो सके, वास्तव में यह विश्राम की अवस्था ही है, जिस में मनुष्य व्यायाम का पूरा लाभ उठा सकता है. और यह भी तभी पूर्ण उपयोगी हो सकता है, जब कि मनुष्य उतनी ही बार साथ २ विश्राम करे, जितनी बार कि वह पेशियों को भिन्न २ प्रकार से गति देकर उनको भिन्न २ प्रकार से प्रसारित तथा संकोचित करता है, और पूर्ण उपयोगी व्यायाम के लिये उतनी ही प्रकार की भिन्न २ पैशिक गतियों की आवश्यकता है. जितना कि हमारे शरीर की व्यवछेदक रचना (Anatomical structure) के अनुसार संभव हो सकती हैं।

उपरोक्त कथन से सिद्ध होता है, कि किसी पेशी समूह (Group of the muscles) को शीघ्रतापूर्वक एक ही प्रकार से कई बार गति देकर वह उत्तम परिणाम नहीं हो सकता, जैसा कि अत्यन्त धीरे २ लेश मात्र झुजके (jerk) के बिना एक २ बार उसको भिन्न २ प्रकार की गति देने से हो सकता है, और यह गतियें भी उसी अवस्था में पूर्ण उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं, यदि इन का धेय शरीर के उस विशेष विभाग की उन्नति (development), पुष्टि (nourishment) और

स्वकार्य दक्षता (functional vigour) हो, जो उस, ऐच्छिक अथवा अनैच्छिक, विशेष पैशिकसमूह से बना है, और इस लक्ष्य की पूर्ति तभी हो सकती है, यदि गतियां हमारे आन्तरिक प्रयत्नों द्वारा हों, किसी वाह्य चेष्टा का परिणाम न हों, जो केवल इसी अवस्था में संभव हो सकता है, कि हम अस्थियों में भिन्न २ प्रकार से गति उत्पन्न करते हुए पेशियों को गति दें, हाकी (Hockey) तथा फ़ुटबाल (Football) और वालीबाल (Volley ball) इत्यादि क्रीडाओं में बाहिर के दबाव से पेशियों में गति होती है, और वह भी प्रायः एक ही पेशी समुदाय के द्वारा एक ही ओर, यही अवस्था दौड़ने, दण्ड या बैठक लगाने, मुगदर उठाने तथा मूंगली फिराने, होरीज़ेंटल बार्ज़ (Horizental bars) व पैरालल बार्ज़ (Parallel bars) इत्यादि प्रकार के व्यायाम की है, मल्ल व्यायाम (Wrestling) में भिन्न २ पेशियों को भिन्न २ प्रकार से गति करने का अवसर मिलता है, किन्तु यह सब गतियां वाह्य दबाव का ही परिणाम होती हैं, इस प्रकार के व्यायाम अन्त में अनुपयोगी अथवा हानिकारिक सिद्ध होते हैं।

निश्चेष्ट अवस्था (Passive state) में पृष्ठ पर लेटे हुये स्वस्थ तथा विश्रान्त मनुष्य का रक्त शरीर के तन्तुओं तथा सेलों में आवश्यकतानुसार सामान्य रीति से (normally) सञ्चार करता है, अर्थात् उस समय हृदय स्पन्द (beating of the heart) एक मिनट में ७० या ७२ बार होता है, इस दशा में भी पेशियों में कुछ न कुछ प्रसरण तथा संकुचन क्रिया होती रहती है, और शरीर के सेलों तथा तन्तुओं में स्वाभाविक

चेष्टायें निरन्तर होती रहती हैं, जिस के कारण इन में कुछ न कुछ मृतपदार्थ पैदा होता रहता है, और रक्त प्रवाह द्वारा यथासंभव उसका वहिष्करण भी होता रहता है, साथ ही कुछ नये २ तन्तुओं व सेलों की रचना होती रहती है, किन्तु रक्त का प्रवाह वेग पूर्वक न होने के कारण, मृतपदार्थ का पूर्ण शोधन नहीं होता, और पेशियों पर गहरा दबाव न पड़ने के कारण उन में रोधन शक्ति (Power of resistence) की वृद्धि नहीं होती।

जब मनुष्य शरीर के किसी भाग द्वारा कार्य करता है, तो उस भाग के पेशी समूह के विशेष चेष्टा करने से वहां तन्तुओं व सेलों में मृत्यु की मात्रा बढ़ जाती है, और इस के शोधन तथा रचना के कार्य में सहायता करने के लिये रक्त का प्रवाह वहां अधिक मात्रा में होने लगता है, किन्तु इस अवस्था में भी रक्त का प्रवाह पूर्ण वेग से न होने के कारण पूरा२ शोधन नहीं हो सकता, और पेशियों पर गहरा दबाव न पड़ने से, न ही उन की रोधन शक्ति बढ़ सकती है, यदि शोधन क्रिया यथोचित पूर्ण रीति से न हो, तो हमारी पेशियों के तन्तुओं तथा सेलों की रचना विषमय रक्त द्वारा होने के कारण, उन में स्थायी शक्ति तथा बल पैदा नहीं हो सकता, और न ही मनुष्य व्याधि तथा वृद्धावस्था के कारणों को दूर कर सकता है।

इस मृतपदार्थ का पूरा २ वहिष्करण करने, और शुद्ध रक्त द्वारा नये २ तन्तुओं तथा सेलों की रचना के कार्य में सहायता देने, और पेशियों में यथासंभव रोधन शक्ति उत्पन्न करने के लिये, जहां इन में शुद्ध रक्त का गहरा प्रवाह वेग से चलने की

आवश्यकता प्रतीत होती है, वहां इस ओर ध्यान देना भी आवश्यक है, कि इस से शरीर के किसी भाग को किसी प्रकार की हानि न पहुंचे, यह तभी हो सकता है, कि हम जिस पेशी समूह को विशेष गति देकर रक्त की आवश्यकता (demand) पैदा करते हैं, वहां शुद्ध रक्त भी उसी मात्रा में भेज सकें, किन्तु हमारे हृदय तथा फुफुसों को असमान्य रीति से चेष्टा करना न पड़े, और हमारी उपयोगी नाड़ियों (nerves being utilised) की शक्ति का प्रयोग (application) भी कम से कम हो, कोई पेशी अथवा पेशी समूह ऐसा न रहे, जिसकी गति किसी प्रकार से अधूरी रही हो, या जिस को सब ओर से गति न दी गई हो, और न ही किसी विशेष पेशी या पेशी समूह को आवश्यकता से अधिक गति दी जाय, जिस का परिणाम शारीरिक खेद व श्रान्ति हो, और मनुष्य पसीना २ हो जाये।

इन बातों को दृष्टि में रखते हुये यदि हम योग के आसनों का अभ्यास करें, तो हम प्रतीत करेंगे, कि इन आसनों से बढ़कर स्नायु वर्धक व्यायाम कोई दूसरा नहीं हो सकता, किन्तु यदि इन आसनों का प्रचलित प्रकार से अभ्यास करते हुये पांच मिनट में कई २ आसन (बिना शवासन करने के) कर जायँ, या एक ही आसन में कई २ मिनट, अथवा घण्टा आधा घण्टा स्थिर पड़े रहें,तो स्नायु वृद्धि तो कहां, कई प्रकार के रोग उत्पन्न होने लगेंगे।

भिन्न २ अङ्गों को प्रभावित करने के लिये पृथक २ स्थानीय व्यायाम (local exercise) द्वारा विशेष २ पेशी समूह को गति देने की जो प्रथा है, इस की अपेक्षा वह व्यायाम की

विधि अधिक लाभदायक प्रतीत होती है, जिस में विशेष प्रकार की चेष्टा करने के विना ही प्रत्येक अङ्ग को पूर्ण भाग लेने का अवसर अपने आप प्राप्त हो जाता है, और सूक्ष्म से सूक्ष्म अङ्ग भी प्रभावित होने से वञ्चित नहीं रहता, क्योंकि इसमें किसी विशेष अङ्ग को गति देने के लिये कई दूसरे अङ्गों का व्यर्थ प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, इस दृष्टि से भी योगासन स्नायुवृद्धि के लिये अतीव उपयोगी हैं।

हृदय और फुफुस तथा योगासन

Heart and lungs, and yogic Postures.

हमारे फुफुस रक्त को शुद्ध करके हृदय के सपुर्द कर देते हैं, और हृदय आवश्यकतानुसार रक्त को सारे शरीर में विभक्त होने के लिये भेज देता है, जितनी अधिक मांग शरीर में होती है, उतना ही अधिक हृदय तथा फुफुस को काम करना पड़ता है, ताकि रक्त की मांग को पूरा किया जासके।

यदि हम रक्त प्रवाह के नियम की ओर दृष्टि दें, तो प्रतीत होगा, कि निम्न लिखित अवस्थाओं में रक्त अधिक मात्रा में प्रवाहित होने लगता है:-

१, शरीर का जो भाग अथवा अङ्ग जितना अधिक काम कर रहा हो, वहां उतना ही अधिक रक्त का प्रवाह जाने लगता है, भागने के समय टांगों में, पढ़ने लिखने के समय मस्तिष्क में, भोजन खाने पर आमाशय में, दण्ड पेलने के समय बाहुओं में रक्त अधिक मात्रा में जाने लगता है, यदि एक से अधिक अङ्गों से एक ही समय लगातार काम लेकर रक्त की अधिक मांग पैदा कर दी जाय, और शरीर को यथोचित विश्राम न दिया जाय, तो उन सब अंगों को उन को आवश्यकतानुसार रक्त का मिलना कठिन हो जाता है, इसी प्रकार यदि भोजन करने के तुरन्त पहिले या पीछे किसी प्रकार का मानसिक तथा शारीरिक परिश्रम (जैसे पढ़ना, लिखना, व्यायाम इत्यादि करना) किया जाये, तो आमाशय में आवश्यकतानुसार रक्त

न पहुंचने के कारण भोजन का पचाव ठीक नहीं हो सकता, और दूसरे अङ्गों को भी हानि पहुंचती है।

२. शरीर के जिस भाग पर दबाव पड़े, उस भाग में दबाव के दूर होने पर, रक्त अधिक मात्रा में जाने लगता है, जितना गहरा दबाव होगा, उतना ही इस का शरीर पर प्रभाव पड़ेगा, मूंगली, मुगदर तथा कुश्ती इत्यादि से बाहिर से शरीर पर डाले हुए दबाव की अपेक्षा शरीर के भिन्न २ अङ्गों पर योग के आसनों द्वारा डाला हुआ दबाव अत्यन्त गहरा होगा, धीरे २ शरीर पर यथासंभव दबाव डालकर कुछ एक क्षण उस अवस्था में स्थिर रहने से, प्रत्येक सङ्कोचनी तथा प्रसारणी पेशी के एक २ तन्तु और सेल को पूर्ण संकोच तथा प्रसार करने का समय मिलता है, और इसी प्रकार धीरे २ दबाव उठाने से इस का पूरा २ प्रसरण तथा सङ्कुचन होता है, जिस से बहिष्करण और आत्मीकरण की क्रियायें यथासंभव पराकाष्ठा पर पहुंच जाती हैं।

३. कम हुये २ शारीरिक ताप परिमाण (temperature) को सामान्य अवस्था (normal state) में लाने के लिये, रक्त उस स्थान में अधिक मात्रा में जाने लगता है, जब मनुष्य ठंडे जल से स्नान करता है, तो त्वचा (skin) का ताप परिमाण कम हो जाने से, रक्त त्वचा की ओर अधिक जाने लगता है, स्नान करते ही भोजन करने अथवा भोजन करने के पश्चात् स्नान करने से पाचन क्रिया के ठीक न होने से हानि होती है, इसी प्रकार व्यायाम करते ही स्नान करने अथवा ठण्डा जल इत्यादि (cool drinks) पीने से, बढ़े हुये रक्त के ताप परिमाण

को एकदम कम कर देने से, शरीर की बहिष्करण और आत्मी-करण की क्रियायें उचित समय पर यथायोग्य नहीं हो सकती, और व्यायाम हानिकारक सिद्ध होता है।

४. शरीर के जिस भाग में उत्तेजना (excitement) होती है, वहां रक्त अधिक जाने लगता है, क्रोध के समय मस्तिष्क के वात सूत्रों (nerves) के उत्तेजित होने से, रक्त मस्तिष्क की ओर अधिक मात्रा में जाने लगता है, यहि कारण है कि अत्यन्त क्रोध करने से मनुष्य का मुख लाल वर्ण प्रतीत होने लगता है, और नित्य मदिरा पीने वालों के मुख पर, प्रति दिन की मस्तिष्क के वातसूत्रों की उत्तेजना से, लाली प्रतीत होने लगती है, जो व्याधि का चिन्ह है, किन्तु लोग भूल से इसको ओज का चिह्न समझते हैं, इसी प्रकार विषय कामना की उत्तेजना से रक्त के विशेष प्रवाह के कारण, स्त्री पुरुष की जननेन्द्रियों पर प्रभाव पड़ने लगता है।

५. शरीर के भीतर किसी प्रकार विष के प्रवेश करने से पड़े हुए प्रभाव को नष्ट करने, या किसी प्रकार के ज़ख़म और व्याधि इत्यादि द्वारा शरीर पर पड़े हुये हानि प्रदायक प्रभाव की निवृत्ति के लिए, रक्त आवश्यकतापूर्वक वेग से संचारण करने लगता है।

६. अपनी इच्छा शक्ति से मनुष्य जहां मन को एकाग्र करके रक्त को लेजाना चाहे, वहां रक्त अधिक मात्रा में जाने लगेगा।

७. भूमि की आकर्षण शक्ति का भी रक्त के प्रवाह पर प्रभाव पड़ता है, जो शरीर का भाग पृथ्वी के अधिक

समीप होगा, वहां रक्त अधिक मात्रा में जायगा, यदि हम अपने बाहु को स्कन्ध से ऊपर की ओर सीधा खड़ा करें, तो रक्त का प्रवाह अधिक हाथ से स्कंध की ओर होने लगेगा, और यदि बाहु को नीचे की ओर सीधा लटका दें, तो स्कंध से हाथ की ओर प्रवाह अधिक हो जायगा।

जब कभी शरीर के किसी विशेष भाग में रक्त का अधिक प्रवाह इतनी देर तक लगातार जाता रहे, जिस से उस भाग पर रक्त का दबाव अत्यन्त पड़ने लगे, या दूसरे भागों को आवश्यकतानुसार रक्त प्राप्त न हो सके, तो रक्त-प्रवाह-रोधिनी नाडियां (Vasomotary nerves) उस भाग में रक्त के अधिक प्रवाह को रोकती हैं।

रक्त प्रवाह के इन नियमों को सन्मुख रखते हुए, हम व्यायाम को उसी अवस्था में अपने लिए उपयोगी बना सकते हैं, जब कि हम शरीर में रक्त की मांग उतनी ही पैदा करें, जिसको हमारे फुफुस व हृदय सुगमता से पूरा कर सकें, और उन को स्वयं भी अपनी आवश्यकता के अनुसार रक्त प्राप्त करने का अवसर मिल सके, हमारी आजकल की खेलों तथा व्यायामादि करने के ढंग में यही एक बड़ी भारी कमी है, जिस के कारण कई बड़े २ व्यायाम शील (athletes) तत्क्षण हृदय स्पन्दन बन्द हो जाने से यमराज की गोद में चले जाते हैं, और कई फुफुस और हृदय के दोषों में ग्रस्त हो जाते हैं, किन्तु बाहिर से वह बड़े हृष्ट पुष्ट प्रतीत होते हैं।

हमारा हृदय साधारणतया स्वस्थ अवस्था में लगभग

७२ मिनट में एक बार संकोच व एक बार प्रसार करता है, जिस के पीछे क्षण भर विश्राम करता है, जिस से हमारे फुफुसों को भी विश्राम मिल जाता है, इस प्रकार हृदय एक मिनट में ७२ बार रक्त को ग्रहण करता और बाहर धकेलता है, और इतनी ही बार विश्राम करता है, इस विश्राम की अवस्था में हृदय और फुफुसों को स्वयं अपने लिए रक्त का आत्मीकरण और विष का बहिष्करण करने का पूरा अवसर मिल जाता है, जिस से उनको किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती।

रक्त प्रवाह के नियम के अनुसार जितनी अधिक वेग से शरीर में चेष्टायें होंगी, उतनी अधिक शरीर में सेलों तथा तन्तुओं की तोड़फोड़ होगी, और उतनी अधिक रक्त की मांग पैदा होगी, जितनी अधिक रक्त की मांग बढ़ेगी, उतना अधिक हृदय को उस बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए रक्त को वेग से नलियों में धकेलना पड़ेगा, जिस के लिए हृदय स्पन्दन की गति उतनी ही तेज़ होने लगेगी, और फुफुसों को उतनी ही मात्रा में शुद्ध रक्त हृदय को देने के लिए उतनी ही जल्दी२ प्राणवायु (oxygen) को ग्रहण करना और अपान वायु(corbonic acid gas) को बाहिर फैंकना पड़ेगा, जिस से श्वास प्रश्वास की गति इतनी तेज़ होगी, कि श्वास गहरा न होने के कारण, रक्त का पूर्ण रीति से शुद्ध होना कठिन हो जायगा, हृदय स्पन्दन अत्यन्त तेज़ हो जाने से हृदय और फुफुसों को विश्राम करने के लिए यथोचित अवकाश न मिलने के कारण उन को आवश्यकतानुसार रक्त प्राप्त नहीं होगा, और

न ही उन के भीतर से विष का पूरा २ शोधन हो सकेगा, हमारे शरीर को भी आवश्यकतापूर्वक पूर्ण शुद्ध रक्त मिलना दुष्कर होगा, और बहिष्कारण भी यथायोग्य नहीं हो सकेगा, यदि साथ ही साथ हम शरीर को पसीना २ और चूर २ कर लें, तो हृदय और फुफुस की फिर क्या गति होगी? नित्य प्रति इसी प्रकार का व्यायाम करने से, इन के निर्बल होते जाने से, यदि किसी दिन उस व्यायामशील मनुष्य की हृदय-स्पन्दन एकदम रुक जाने से अकस्मात् मृत्यु हो जाए, या फुफुसों में कोई रोग उत्पन्न हो जाए, तो इस में आश्चर्य ही क्या है? जो किसी प्रकार का व्यायाम न करते हुए, कई प्रकार के सख़्त उद्योग के काम, या मानसिक कार्य (brain work) करते रहते हैं, जिन से हृदय और फुफुस पर अत्यन्त दबाव पड़ता रहे, तो उन की भी उसी प्रकार की गति होती है, यदि योग के आसन भी प्रत्येक आसन के पीछे शवासन करने के बिना लगातार किये जायें, तो उन का भी यही परिणाम होगा, कई लोगों का यह विचार है, कि आसनों के अन्त में शवासन कर लेना पर्याप्त होगा, किन्तु अन्त में शवासन करने से, आसनों द्वारा हृदय तथा फुफुसों पर पड़े हुये हानिकारक प्रभाव की निवृत्ति कैसे होसकती है, और अपूर्ण शुद्ध रक्त से बन चुके हुये सेलों व तन्तुओं में परिवर्तन किस प्रकार किया जासकता है? इसी प्रकार अन्य व्यायाम करके अत्यन्त श्रान्त होजाने पर विश्राम करने से हृदय तथा फुफुसों पर व्यायाम करने की अवस्था में पड़े हुये

हानिकारक प्रभाव को नहीं रोका जासकता, इस से केवल यह लाभ होसकता है, कि शरीर में भरे हुये विष को कुछ शीघ्र शरीर से बाहिर निकलने और कुछ टूटे फूटे सेलों व तन्तुओं के स्थान में नई रचना होने का अवसर मिल जाता है, किन्तु बिना शारीरिक श्रांति अनुभव किये साथ ही साथ शवासन अर्थात् पूर्ण विश्राम करना ही वास्तव में लाभदायक होसकता है।

इसी बात को अनुभव करते हुये स्वास्थ्य शास्त्र के पश्चिमी विद्वानों ने शरीर के भिन्न २ अङ्गों को गति देकर, विशेष पेशी समूह को पूर्ण रीति से संकुचित करके, साथ ही साथ उनको प्रसारित कर लेने की विधि निकाली है, इस से कुछ तो लाभ अवश्य होता है, किन्तु यथोचित लाभ नहीं होता, क्योंकि यह क्रिया प्रायः इस प्रकार से की जाती है, जिस से शरीर को पूर्ण विश्राम नहीं मिल सकता, और न ही इस में पूरी २ रक्त-शुद्धि हो सकती है, साथ ही हृदय तथा फुफुसों को भी कुछ न कुछ अधिक काम करना पड़ता है, इस लिये शवासन ही पूर्ण उपयोगी सिद्ध हो सकता है, क्योंकि इस में मनुष्य पूर्ण विश्राम अनुभव करता है।

शवासन के अतिरिक्त कई आसनों में भी रक्त प्रवाह को हृदय तथा फुफुस की ओर अधिक मात्रा में जाने का अवसर मिल जाता है, जैसे पूर्वोत्तान, पश्चिमोत्तान और सर्वाङ्गासन की अवस्था में दृष्टिगोचर होता है, और वृक्षासन में तो विशेष प्रभाव इन्हीं पर पड़ता है।

कई योग के धितक आसनों के अन्त में कपालभाति

प्राणायाम करने का उपदेश करते हैं, ताकि शरीर में एकत्रित विष का बहिष्करण हो सके, परन्तु कपालभाति मुख्यतः फुफुसों का व्यायाम है, इस में श्वास इतना वेग से चलता है, कि फुफुसों तथा हृदय पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, जिस से इन में विष की मात्रा अधिक हो जाती है, जिस का शोधन करने के लिये इन को स्वयं विश्राम देने की आवश्यकता होती है, इस दशा में आसनों के अन्त में इस का प्रयोग और भी हानिकारक होगा, मैं ने तो प्रत्येक आसन के पश्चात् शवासन का प्रयोग ही अत्यन्त लाभदायक अनुभव किया है, जिस के द्वारा जहां शरीर में आत्मीकरण और बहिष्करण पूर्ण रीति से होते हैं, वहां हृदय व फुफुसों में ओज व शक्ति का सञ्चार होता है।

वात संस्थान व योगासन

(Nervous system and yogic postures)

इस में सन्देह नहीं कि हमारी शारीरिक उन्नति का विशेष सम्बन्ध हमारी अस्थियों तथा पेशियों के साथ अत्यन्त घनिष्ठ है, परन्तु इन की शक्ति का मूल स्रोत मनुष्य का वातसंस्थान है, जिस के आधीन इन की सब प्रकार के चेष्टायें और गतियां हैं, जो मनुष्य केवल स्नायुवृद्धि करने में लगे रहते हैं, उन का चेतना-नाड़ी मण्डल धीरे २ निर्बल हो जाने से, बाहर से हृष्ट पुष्ट प्रतीत होते हुये भी, शरीर में शिथिलता प्रतीत करने लगते हैं, और समय आता है, जब कि वह उत्साह हीन होते हुये काम करने में आलस्य प्रतीत करते हैं, थोड़ा सा शारीरिक परिश्रम का काम करने पर उन को थकावट प्रतीत होने लगती है, श्वास चढ़ जाता है, हृदय धड़कने लगता है, मानसिक परिश्रम करने से थोड़े ही समय में उन के मस्तिष्क पर बोझ प्रतीत होने लगता है, और मस्तिष्क की नाड़ियां काम करने में सामर्थ्य हीन प्रतीत होती हैं, यह अवस्था अधिक मानसिक काम करने वालों की भी हो जाती है, और किसी प्रकार का व्यायाम न करने से भी यह नाडी मण्डल बल-हीन होने लगता है।

इस प्रकार के परिणाम देखते हुये अब पश्चिमी विद्वानों ने इस ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ किया है, किन्तु योग का

मुख्य उद्देश्य ही यही है, जैसा कि योग का लक्षण करते हुये महर्षि पतंजलि योगदर्शन के प्रथम पाद के दूसरे सूत्र में लिखते हैं:—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"

अर्थ—चित्त की वृत्तियों का निरोध जिस के द्वारा हो, उस को योग कहते हैं।

हमारे मस्तिष्क में सांवेदनिक नाड़ी केन्द्र (sensory nerve centres) चित्त, और मस्तिष्क से निकल कर सारे शरीर में फैली हुई चालक तथा सांवेदनिक नाड़ियां तथा पृष्ठ-वंश के नाड़ी चक्र चित्त वृत्तियां हैं, इन का निरोध अर्थात् यथोचित प्रयोग, चित्त की वृत्तियों का निरोध कहलाता है, और इस की शिक्षा देने वाली विद्या का नाम योग है, किन्तु योग शास्त्र के कथनानुसार यह निरोध हो नहीं सकता, जब तक कि शरीर मल और विष से भरा हुआ है, इन के शोधन के लिये ही आसन व प्राणायाम इत्यादि साधनों की आवश्यकता है, इसी कारण जहां वर्तमान व्यायाम पद्धतियों के विधान मुख्यतः इस उद्देश्य से प्रयुक्त किये जाते हैं, कि मनुष्य हृष्ट पुष्ट प्रतीत हो, वहां योग के सब विधान वात संस्थान की उन्नति को सन्मुख रख कर अभ्यास में लाये जाते हैं, पश्चिमी विद्वान् नाडी मण्डल की उन्नति स्नायु वृद्धि में सहायक होने की दृष्टि से आवश्यक समझते हैं, और योग शास्त्र शारीरिक शोधन द्वारा स्नायु इत्यादि की वृद्धि को नाडी मण्डल की उन्नति में सहायकारी होने के लिये आवश्यक प्रतीत करता है।

किसी भी उद्देश्य से हो, पश्चिमी विद्वानों ने अब यह

अनुभव कर लिया है, कि मनुष्य की शक्ति का केन्द्र चेतना नाडी मण्डल है, जिस के बिना पेशियां निष्प्रयोजन हैं; चाहे वह कितनी भी उन्नत हो जायें, वह कुछ काम नहीं कर सकतीं, यदि उन की शक्ति का स्रोत वातसंस्थान किसी प्रकार से दूषित हो जाये, क्योंकि मनुष्य के मस्तिष्क तथा मेरु दण्ड के विशेष नाडी केन्द्रों, और अन्य नाडियों में विशेष प्रकार का बिगाड़ उत्पन्न हो जाने से, उन से प्रभावित होने वाला पेशी समूह गति शून्य हो जाता है, वह मनुष्य कितना भी हृष्ट पुष्ट प्रतीत हो, उस का शरीर चेष्टा हीन और असमर्थ हो जाता है, जैसा कि कई प्रकार के अर्धांग,मिर्गी तथा हिस्टीरिया इत्यादि रोगों में देखा जाता है।

पश्चिम में चेतना नाडियों को कितना गौरव दिया जा रहा है, यह निम्न-लिखित उल्लेखों से ज्ञात होगा:—

1. The important element is Nervous control rather than actual muscle size (Exercise in Education and medicine by Mckenzie, page 65, Third edition)

अर्थ—वास्तविक पेशी परिमाण की अपेक्षा, आवश्यक तत्त्व चेतना नाड़ियों की स्वाधीनता है (मकेन्ज़ी)

2. To-day it is clearly recognized that the real field of athletic training is not the muscles, but the heart and the nervous system. (Exercise and Health by Woods Hutchinsen, page 36)

अर्थ—अब यह स्पष्ट रीति से माना जा चुका है, कि व्यायाम पद्धति की शिक्षा का वास्तविक क्षेत्र पेशियां नहीं, प्रत्युत वात संस्थान है (वुड्डस हचिनसन)

3. It has been thought that energy is generated in the muscles, but we know that the mus. cles are powerless to act without the impulses from the nerves. (Macfadden's Encyclopedia of physical Culture, Vol. I, page 195.)

अर्थ—यह समझा गया है, कि शक्ति का आविष्कार पेशियों के द्वारा होता है, किन्तु हम जानते हैं, कि पेशियां चेतना नाडियों की उत्तेजना के बिना सामर्थ्य हीन हैं।

(मेकफ़डन)

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि अब लोगों का ध्यान चेतना नाडी मण्डल की ओर आकर्षित हो रहा है, जो कि शारीरिक शक्ति का मूल स्रोत हैं, मानसिक तथा शारीरिक कर्म करने में वात सेलों, वात तन्तुओं तथा वातसूत्रों द्वारा इस शक्ति का प्रयोग होता है, जितनी अधिक चेष्टायें तथा गतियां शीघ्र तथा ज़ोर से उत्पन्न होंगी, उतना ही अधिक शक्ति का व्यय होगा, यदि इन नाडियों को शक्ति प्राप्त करने का पूर्ण अवसर नहीं मिल सकेगा, तो यह निर्बल होते जाने से सारे शरीर की निर्बलता का हेतु बनेंगीं, चूंकि इनकी शक्ति का स्रोत भी मनुष्य का रक्त है, इसलिये यदि हमारी पेशियां, अस्थियां व मस्तिष्क

नित्य किसी प्रकार का यथायोग्य परिश्रम न करें, या मर्यादा से अधिक उद्योग करने में लगे रहें, तो दोनों अवस्थाओं में चेतना नाड़ियों को यथावश्यकता शुद्ध रक्त प्राप्त नहीं होगा, और न ही सेलों, सूत्रों तथा तन्तुओं से घातक पदार्थ का पूर्ण शोधन होगा, जिस से दिन प्रति दिन इन की शक्ति क्षीण होती जायगी, हमारे नित्य के उद्योग धंदे, मानसिक कर्म, व्यायाम के ढंग इत्यादि भी प्रायः इस प्रकार के हैं, जिन में नाडी शक्ति का नित्य प्रति दुरुपयोग होता रहता है, संक्षेप में यह समझना चाहिये कि जो बातें हमारी अस्थियों तथा पेशियों के लिये लाभदायक तथा हानिकारक हैं, वह उसी प्रकार चेतना नाड़ियों के लिये भी लाभ तथा हानि पहुंचाने वाली हैं।

एक बात जो मैंने अपने अनुभव से ज्ञात की है, उससे प्रतीत होता है कि योगासन करते हुये पेशियों तथा अस्थियों को धीरे२ गति देने और पूर्ण रीति से तनने के पश्चात् आसन की अन्तिम अवस्था में कुछ क्षण स्थिर रहने से ही हम गहरा दबाव डाल कर नाड़ियों को प्रभावित कर सकते हैं, और इस अवस्था में उन पर गहरा दबाव पड़ने से उन में रक्त की अधिक मांग पैदा कर सकते हैं. और फिर धीरे २ अपनी पहिली दशा में आने पर शवासन में यथोचित विश्राम करने से जहां नाड़ियों में पूर्ण बहिष्करण तथा आत्मीकरण क्रिया होने का अवसर देते हैं, वहां इन की शक्ति को कम से कम प्रयुक्त कर के, अधिक से अधिक लाभ उठाते हैं, इस भाव को स्पष्ट करने के लिये मैं नीचे अपने भाव को विस्तार से कथन करने का यत्न करता हूं।

जब हम किसी पेशी समूह को गति देते हैं, तो उस को गति देने में आवश्यक नाडी-शक्ति (nerve force) का प्रयोग होता है, जितना शीघ्र और लगातार गतियां पैदा होती हैं, उतनी ही अधिक नाडी शक्ति का प्रयोग होता है,और उतना ही कम पेशी-समूह में सङ्कोच तथा प्रसार होता है, जितनी धीरे २ और विराम सहित (with intervals) गतियां होती हैं, उतना ही कम नाडी-शक्ति का प्रयोग होता, और उतना ही अधिक पेशी-समूह में प्रसरण तथा आकुंचन क्रिया होती है, क्योंकि जब हम पेशी-समूह को धीरे २ गति देकर यथा संभव उन को संकुचित होने का अवसर देकर, धीरे २ उन को ढीला करते हुये उन का पूर्ण प्रसार करने पर विश्राम करते हैं, तो उस समय नाड़ी शक्ति के विशेष प्रयोग के बिना ही उन पेशियों का कुछ समय तक विशेष प्रकार से संकोच तथा प्रसार स्वतः ही होता रहता है, जिस से कि उन की आत्मीकरण और बहिष्करण की विशेष क्रिया भी पूर्ण रीति से हो जाती है, इस विश्राम की अवस्था में उस विशेष पेशी समूह को गति देने में प्रयुक्त हुई २ नाडियों को स्वयं भी आवश्यकतानुसार आत्मीकरण तथा बहिष्करण करने का पूर्ण अवकाश मिल जाता है, और वह अपनी नष्ट हुई२शक्ति से अधिक शक्ति को पुनः प्राप्त करके पहिले से अधिक ओजसम्पन्न हो जाती हैं।

जब हम गेंद को लेकर हाथ से फेंकते हैं, तो यदि उस के मार्ग में कोई रुकावट न हो, तो वह हाथ की प्रयुक्त हुई २ शक्ति के अनुसार अपने आप दूर तक लुढ़कता जाता है, और

यदि उस को उतनी ही शक्ति से बार २ समीप की दीवार के विरुद्ध फेंका जाये, तो उस अवस्था में गेंद भी दूर नहीं जा सकता, और शक्ति का भी अधिक प्रयोग करना पड़ता है, ऐसे ही किसी विशेष पेशी समूह को बार २ गति देकर उन पेशियों को पूर्ण रीति से संकोच तथा प्रसार क्रिया करने से जहां वंचित रखा जाता है, वहां नाडी-शक्ति का भी अधिक से अधिक प्रयोग होता है।

शारीरिक रचना की पुस्तकों में वर्णन है, कि "तत्क्षण मारे हुये मेंडक के हृदय में कुछ काल तक स्वयमेव स्पन्दन क्रिया होती रहती है, जिस से प्रकाशित होता है, कि हृदय की पेशी में, विना नाडी-शक्ति के प्रयोग के, स्वतः स्पन्दन क्रिया करने की शक्ति है, किन्तु जीवित मेंडक में हृदय की स्पन्दन क्रिया मस्तिष्क की चेतना नाडियों के आधीन है, जैसे कि हम देखते हैं, कि मनुष्य के भयभीत हो जाने से हृदय-स्पन्द तीव्र हो जाती है।"

मेरे विचार में, हमारे शरीर का चेतना-नाडी-मण्डल इंजन के समान है, और शेष सब विभाग रेल की गाड़ियों के तुल्य हैं, रेल की गाड़ी बिना इंजन की बाह्य शक्ति के प्रयोग के स्वयं नहीं चल सकती, एक बार इंजन द्वारा ज़ोर से गाड़ी को गति देकर छोड़ देने से, वह कुछ समय तक अपने आप चलती रहती है, इस से यह सिद्ध नहीं होता, कि गाड़ी में स्वयं चलने की भी शक्ति है, इसी प्रकार तत्काल मारे हुये मेंडक के हृदय-स्पन्द के विषय में कहा जा सकता है।

मैंने ऐसे आसन करते हुये जिन का उदर प्रदेश पर विशेष गहरा प्रभाव पड़ता है, यह अनुभव किया है, कि आसन के पश्चात् शवासन करने की अवस्था में उदर की पेशियां अधिक गतिमान् प्रतीत होती हैं, और उसका प्रभाव आसन करते हुये उदर पर इतना अनुभव नहीं होता, जितना कि शवासन की अवस्था में होता है, जब कि सूक्ष्म से सूक्ष्म विषैली वायु (Poisonous gas) भी अन्दर से गुदा द्वारा बाहर निकलने लगती है, और आंतों तथा बड़े नल की कृमीवत् गति अति तीव्र हो जाती है।

अब तक मैंने यह प्रकट करने का यत्न किया है, कि प्रत्येक आसन करते हुये नाडी·शक्ति को किस प्रकार कम से कम प्रयुक्त करके, अधिक से अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है, और सारे शरीर में फैली हुई चेतना-नाडियों की अवस्था को कैसे उन्नत किया जा सकता है, अब यह कथन करने का यत्न करूंगा, कि वात संस्थान की उन्नति के लिये कौन से विशेष आसन लाभकारी हो सकते हैं।

चेतना-नाडियों के शक्ति केन्द्र मनुष्य के मस्तिष्क तथा पृष्ठ-वंश में विद्यमान हैं, इन को यथोचित प्रभावित करने से इनकी शक्ति को बढ़ाया जा सकता है, जिस के लिये ऐसे आसनों की आवश्यकता है, जो पृष्ठ-वंश को भिन्न २ प्रकार से गति देकर उस को भिन्न२प्रकार से झुकाने, तनने और गहरा दबाव डालने में पूर्ण उपयोगी हों, और मस्तिष्क के नाडी-केन्द्र पर गहरा प्रभाव पैदा कर सकें, जिन का उद्देश पृष्ठ-वंश और मस्तिष्क के

नाडी केन्द्रों में रक्त की विशेष मांग पैदा करके उन को शुद्ध रक्त-प्रवाह में स्नान करा देना हो, यह परिणाम, इस पुस्तक के अन्त में दिये हुये धनुरासन नं० ५, मत्स्येन्द्र, पश्चिमोत्तान, पूर्वोत्तान, महामुद्रा, सर्वाङ्गासन और विपरीतकरणीमुद्रा (शीर्षासन) का अभ्यास करने से प्राप्त हो सकता है, यदि इन का इसी पुस्तक में दी हुई विधि के अनुसार ठीक २ अभ्यास किया जाये।

जो बातें मैंने ऊपर वर्णन की हैं, यदि वह सत्य हैं, तो इन से अनुमान किया जा सकता है, कि वर्तमान खेलें और व्यायाम के ढंग चेतना नाडीमण्डल के लिये कहां तक हानिकारक हैं, इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिमी विद्वानों की नये ढंग की व्यायाम-पद्धतियों में वातसंस्थान की ओर ध्यान दिया गया है, जिन में पृष्ठ-वंश को भिन्न २ प्रकार से गति देने के उपयोगी ढंग हैं, किन्तु इन से मेरु-दण्ड पर वह गहरा स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ता, जो योग के आसनों द्वारा पड़ता है, मस्तिष्क की नाडियों को प्रभावित करने के लिये उन्हों ने कोई विशेष विधि नहीं बताई, जैसा कि योग में शीर्षासन है, योग के आसनों का अभ्यास करने वाले भी विधि पूर्वक न करने से कई प्रकार की हानि उठाते हैं, और कई प्रकार के भयानक रोगों में ग्रस्त हो जाते हैं, उन की साव-धानता के लिये, जहां तक मेरा अनुभव है, मैंने इस पुस्तक में आसनों की ठीक विधि बताने का यथासमर्थ यत्न किया है, जिसकी परीक्षा पाठक गण स्वयं अभ्यास द्वारा कर सकते हैं।

योगासन और प्रणाली-विहीन-ग्रन्थियां
(Yogic Postures and endocrine glands.)

जहां हमारी प्रणाली-सहित ग्रन्थियों का प्रभाव प्रायः हमारे पाचक विभाग पर पड़ता है, वहां हमारी प्रणाली-विहीन-ग्रन्थियां हमारे शरीर की वृद्धि तथा पुष्टि पर विशेष प्रभाव डालती हैं, और सब से अधिक इन का प्रभाव वातसंस्थान पर पड़ता है, इसी कारण आज कल प्रणाली-सहित-ग्रन्थियों की अपेक्षा इन को महान् गौरव दिया जा रहा है, जिस प्रकार योगासनों के द्वारा हम दोनों प्रकार की ग्रन्थियों को स्वस्थ तथा उन्नत अवस्था में रख सकते हैं, और इन की नष्ट हुई २ शक्ति को पुनः प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा किसी दूसरी व्यायाम पद्धति से होना कठिन है, जिस का उद्देश केवल स्नायु वृद्धि है, उस का तो कथन ही क्या, नवीन व्यायाम पद्धतियां जो इस ओर विशेष दृष्टि देती हैं, उन का इन ग्रन्थियों पर वह उपयोगी प्रभाव नहीं पड़ता, जो कि योगासनों का पड़ सकता है, इस विषय में मैं अपने तथा दूसरे लोगों के अनुभव को ब्रह्मचर्य के विषय में वर्णन करते हुये प्रकट करूंगा, इस समय मैं केवल इतना दर्शाना चाहता हूं, कि किस आसन का प्रभाव किस ग्रन्थि पर पड़ता है।

हमारे मस्तिष्क में स्थित पिट्युट्री ग्रन्थि और कपालदेश

में पीनिअल ग्रन्थि पर विपरीतकरणीमुद्रा (शीर्षासन) का विशेष प्रभाव पड़ता है।

हमारी कण्ठदेशीय चुल्लका (thyriod) तथा उपचुल्लका (parathyriod) ग्रन्थियों पर सर्वाङ्गासन का विशेष प्रभाव होता है, और शीर्षासन, पूर्वोत्तान, पश्चिमोत्तान, मत्स्य और मत्स्येन्द्र आसनों का भिन्न २ प्रकार से सामान्य प्रभाव पड़ता है, इन आसनों से चुल्लका द्वारा अण्डकोश तथा डिम्ब-ग्रन्थियां भी प्रभावित होती हैं।

अण्डकोश व डिम्बग्रन्थियों पर विशेष प्रभाव गोरक्षासन का पड़ता है।

उपर्युक्त ग्रन्थियां विशेष करके पूर्वोत्तान आसन द्वारा प्रभावित होती हैं, और इस आसन के पश्चात् दिये हुये उप-आसन का भी इस पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

इस में सन्देह नहीं कि प्रणाली-विहीन ग्रन्थियां शरीर की उन्नति तथा वृद्धि में अत्यावश्यक भाग लेती हैं, परन्तु प्रणाली सहित ग्रन्थियों का प्रभाव भी शरीर पर कुछ कम नहीं पड़ता, उन में यदि विकार आजाये तो कई प्रकार के भयानक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, यदि हमारे जिगर में बिगाड़ पैदा हो जावे, तो हमारा पाचक विभाग अपना कर्तव्य पालन करने में अस-

मर्थ हो जाता है, गुर्दों पर भी इस का प्रभाव पड़ता है, और मनुष्य को मधुमेह का रोग हो जाता है, रक्त की शुद्धि पर भी इस का प्रभाव पड़ता है, ऐसे ही दूसरी ग्रन्थियां भी कुछ कम उपयोगी नहीं हैं, योग इन ग्रन्थियों की ओर भी पूरा ध्यान देता है, प्रायः जो आसन पाचक विभाग पर प्रभाव डालते हैं, वह इन ग्रन्थियों को भी प्रभावित करते हैं ।

आत्म विनोद व योगासन तथा खेलें

Recreation, and Yogic Postures and games.

उत्तम व्यायाम-पद्धति का एक आवश्यक चिन्ह यह भी समझा जाता है कि उस में आत्मविनोद भी हो, जैसा कि भिन्न२ प्रकार की शारीरिक क्रीड़ायें करते हुये लोग बिना यत्न करने के ही उन में प्रसन्नता अनुभव करते हैं क्योंकि परस्पर मिल कर खेलने से मनुष्य का मन आह्लादिक (delightful) होने लगता है, किन्तु योग के आसनों पर यह एक बड़ा भारी आक्षेप आता है, कि उन में उस आत्मविनोद की कमी है, जो व्यायाम का एक आवश्यक अङ्ग है, इस में सन्देह नहीं, कि देखने में ऐसा ही प्रतीत होता है, परन्तु आसनों का अभ्यास करने वाला मनुष्य जिस अक्षय आनन्द को अनुभव करता है, उस का लेशमात्र भी दूसरी खेलों इत्यादि में प्रतीत होना असंभव है, किन्तु इस आनन्द को अनुभव वही कर सकता है, जो आसनों को विधिपूर्वक करना जानता है, और जिस को साथ ही अपनी शारीरिक रचना का आवश्यक ज्ञान भी है, उस के आनन्द की तो सीमा ही नहीं हो सकती, जिस के लिये कहा जा सकता है कि:—

"यत्र सर्वे आनन्दा निरानन्दा भवन्ति"

"जिस अवस्था में सब संसार के आनन्द फीके पड़ जाते हैं।"

गत पांच वर्षों में अनेकों बालक, नवयुवक तथा वृद्ध भिन्न २ स्थानों में मेरे पास आसनों का अभ्यास करने के लिये आये, जिन्हों ने प्रतीत किया कि "आसनों को करते समय तो पहिले पहल कुछ कष्ट प्रतीत होता है, किन्तु करने के पश्चात् शरीर में हलकापन, फुरती, शक्ति और मानसिक प्रसन्नता प्रतीत होती है, आरम्भ करने से पहले यदि शरीर में कुछ श्रांति, आलस्य तथा खेद भी हो, तो वह जाता रहता है" किन्तु आसनों का अभ्यास करते हुए भी कष्ट उन को प्रतीत होता है, जो अपनी शक्ति से अधिक चेष्टा करने लगते हैं, और बताई हुई विधि के अनुसार अनुकरण नहीं करते, इस में सन्देह नहीं कि आसनों को विधिपूर्वक करने में शरीर पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ता है, और यही आसनों की विशेषता है, इस को यदि कष्ट प्रतीत किया जाये, तो यह हमारी भूल है।

दूसरी खेलों इत्यादि में भाग लेने वालों का निरीक्षण करने से ज्ञात होता है, कि खेल में मग्न होने के समय तो वह अत्यन्त प्रसन्न चित्त प्रतीत होते हैं, किन्तु उस खेल या व्यायाम की समाप्ति पर वह थकावट से चूर २ हो जाते हैं, और उनके शरीर में काम करने की शक्ति प्रतीत नहीं होती, मैं सच्चा आत्मविनोद उस व्यायाम में समझता हूं, जिस का अभ्यास करने से मनुष्य के शरीर में हलकापन, फुरती, उत्साह और बल इत्यादि का सञ्चार हो, और मस्तिष्क में स्फुरता, मानसिक शक्ति तथा ओज का प्रादुर्भाव हो, यदि मनुष्य के शरीर में कुछ विकार भी हो, तो वह उस से निवृत्त हो सके, वह आत्मविनोद केवल धोका है, जिस का परिणाम मनुष्य को निरुत्साही बना देना हो।

इस से मेरा यह तात्पर्य नहीं, कि संसार में से सब प्रकार की खेलें इत्यादि लुप्त हो जायें, और न ही यह संभव हो सकता है, क्योंकि यह मनुष्य समाज का विशेष अङ्ग है, किन्तु उन में आवश्यक परिवर्तन करने से हम उनमें बहुत कुछ सुधार कर सकते हैं, जिस से हम इन के हानिकारक अंश को इन में से निकाल कर इनको यथा सम्भव उपयोगी बना सकें, मेरे विचार में यदि यह खेलें केवल खेलने के उद्देश से खेली जायँ, मुक़ाबले (Competetions) के ख्याल का सर्वथा परित्याग कर दिया जाये, खेलने के समय भी यह ध्यान रखा जाये कि शरीर अतिश्रान्त न हो, और खेल को अतिवेग (rashly) से न खेला जाये, जब श्रान्ति प्रतीत होने लगे, तो शवासन द्वारा एकत्रित विष को पूर्णतया शरीर से बाहिर निकलने का अवसर दिया जाये, इस प्रकार हम इन के हानिकारक परिणामों को रोक सकते हैं।

वह मुकाबले की खेलें भी हानिकारक नहीं हो सकतीं, जिन में दोनों पक्षों के सब खिलाड़ियों को एक ही बार खेलने में भाग नहीं लेना पड़ता, या एक ही खिलाड़ी अधिक समय तक श्रान्त हो जाने पर भी खेलने के लिये बाध्य नहीं हो सकता, जैसा कि हाकी, फुटबाल, क्रिकट इत्यादि में होता है, इस दृष्टि से पश्चमी खेलों की अपेक्षा भारतीय (Indian) खेलें अधिक

उपयोगी हैं, क्योंकि उन में प्रायः प्रत्येक खिलाड़ी को साथ ही साथ विश्राम करने का अवसर प्राप्त हो सकता है, जैसा कि कबड्डी इत्यादि में देखा जाता है।

यह खेलें भी पूर्ण उपयोगी तभी हो सकती हैं, जब कि खिलाड़ी प्रति दिन एक ही खेल में भाग न लेता रहे, प्रत्युत नित्य प्रति खेलों में परिवर्तन करता रहे, अर्थात् आज एक प्रकार की खेल में भाग लिया, तो कल दूसरी में, और परसों तीसरी में, ताकि उस की भिन्न २ पेशियों को प्रयुक्त होने का समय मिलता रहे।

योगिक आहार और स्वास्थ्य
(Yogic diet and health.)

मनुष्य के जीवन प्रवाह को स्थिर रखने के लिये रक्त एक परमावश्यक वस्तु है,इससे भी आवश्यक यह है कि क्या उसमें वह सब पदार्थ पूर्णमात्रा में विद्यमान हैं,जो जीवन तन्तुको स्थिर रखने के लिये पूर्ण उपयोगी हो सकते हैं, आसन तथा प्राणायाम इत्यादि योगिक क्रियाओं से हम शुद्ध रक्त का शरीर में यथोचित आत्मीकरण करने में सफल हो सकते हैं,किन्तु इनके द्वारा रक्त में हम उपयोगी तत्व पैदा नहीं कर सकते, केवल उसको पूर्ण शुद्ध अवस्था में शरीर का भाग बना सकते हैं, उसमें उपयोगी गुणों का सञ्चार करने के लिये उपयोगी आहार सेवन करने की आवश्यकता है, वास्तव में देखा जाये तो हमारा शरीर हमारे भोजन का परिणाम है,जब तक हमारा आहार शुद्ध न हो तब तक योग की क्रियायें भी पूर्ण उपयोगी नहीं हो सकतीं, इसी कारण योग में इसको मुख्य स्थान दिया गया है, मैं नीचे उदाहरण के लिये कुछ योग शास्त्र के प्रमाण उद्धृत करता हूं, जिससे प्रतीत होगा, कि योग के आचार्यों की दृष्टि में बिना यथायोग्य भोजनके सेवन करने के अभ्यासी जन योग में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते :—(घेरण्ड संहिता)

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं तु कारयेत् ।
नाना रोगो भवेत्तस्य किञ्चिद्योगो न सिध्यति ॥

जो (स्त्री पुरुष) मित आहार (भोजन) करने के बिना योग का आरम्भ करता है, उसको कई प्रकार के रोग होते हैं, और योग में उसको कुछ सफलता नहीं होती।

शुद्धं सुमधुरं स्निग्धं उदरार्धविवर्जितम्।
भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः॥

जो शुद्ध, मधुर, स्निग्ध (घृत तथा माखन सहित), रस युक्त (यथा फल इत्यादि), भोज्य पदार्थ प्रसन्नतापूर्वक आधे आमाशय को खाली छोड़कर खाये जायें, इसको मिताहार कहते हैं।

अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम्।
उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेद्वायुचारणे॥

अर्थ—भोजन से आधे आमाशय को भरे, इसके चौथे भाग को जल से भरे, और शेष चौथा ख़ाली रहे, ताकि श्वास प्रश्वास की क्रिया सुगमता पूर्वक हो सके।

उपरोक्त श्लोकों से ज्ञात होता है, कि योग शास्त्र ठीक प्रकार का भोजन सेवन करने को योग सिद्धि के लिये परमावश्यक समझता है, इस का तात्पर्य यह नहीं कि साधारण मनुष्य तो जो उनकी इच्छा में आये उस प्रकार का भोजन करें, केवल उसको विशेष प्रकार के आहार सेवन करने की आवश्यकता है, जो योगका अभ्यास करना चाहता है और नहीं इसका यह अभिप्राय है, कि मनुष्य के आहार का विषय योग से सर्वथा न्यारा है, वास्तव में यह योग का एक अङ्ग है, और यदि कोई मनुष्य योग के दूसरे अङ्गों (आसन, प्राणायाम इत्यादि) का पालन न भी करे तो उसके लिये उसी प्रकार

का आहार लाभकारी होगा, जैसा कि योग के अङ्गों को जीवन में धारण करने वाले स्त्री पुरुषों के लिये, योग का सिद्धान्त है, कि इस संसार में जो असंख्य जन भिन्न २ प्रकार के रोगों से पीडित हो रहे हैं, इस का एक सब से बड़ा कारण पथ्य आहार का विधि पूर्वक सेवन न करना है, पश्चिम में इस समय इस विषय को जो महत्त्व दिया जा रहा है, वह निम्न लिखित प्रमाणों से प्रकट होता है :—

"A sound body cannot be built up from poor material."

"The right kinds of food Produce good health and resistence to infection. The wrong kinds of food make for ill health and lowered resistance to infection."

(Secrets of good health by Arbuthnot Lane. P. 47.)

इस का अभिप्राय यह है, कि—"तुच्छ सामग्री द्वारा हृष्ट पुष्ट शरीर निर्माण नहीं किया जा सकता, ठीक प्रकार का भोजन अच्छा स्वास्थ्य, तथा स्पर्शता से पैदा होने वाले रोगों का मुक़ाबला करने की शक्ति, पैदा करता है, और कुपथ्य आहार रुग्णावस्था को लाता और रोगों का मुकाबला करने की शक्ति को कम करता है।"

योगशास्त्र की दृष्टि में मनुष्य का आहार उसके मानसिक विचारों तथा उसके आचार और स्वभाव पर भी प्रभाव

डालता है, यह केवल कथनमात्र ही नहीं, प्रत्युत भिन्न २ प्रकार का आहार सेवन करने वाली जातियों तथा मनुष्यों के विचार, आचार तथा स्वभाव में जो भेद प्रतीत होते हैं, उन पर उनके आहार का भी एक विशेष प्रभाव पड़ता है, किसी जाति तथा मनुष्य के आहार में परिवर्तन करने से, उसके जीवन में परिवर्तन प्रतीत होने लगता है, वर्तमान काल में पश्चिम में इस पर जो अन्वेषण हो रहे हैं, वह भी प्रायः इस परिणाम पर पहुँच रहे हैं, मैंने अपने आहार में भिन्न २ प्रकार के परिवर्तन करते हुये, अपने में कई प्रकार के प्रभाव अनुभव किये हैं, और दूसरों पर भी दृष्टि गोचर किये हैं, एक नवयुवक ने मुझे बताया कि "मेरे मन में बड़े बुरे भाव पैदा होते रहते हैं, कभी २ मेरे मन में आता है, कि मैं आत्मघात करलूं, इत्यादि," उसको रात्रि को निद्रा भी ठीक नहीं आती थी, उसके विचार में उसके मस्तिष्क में दोष था, ऐसा ही कई डाक्टरों ने भी उसको बताया था, कई प्रकार के औषधि के प्रयोग से भी उसको कोई लाभ नहीं हुआ, मैंने उसकी परीक्षा करके देखा, कि उसके मस्तिष्क का विकार उसके उदर में दोष आजाने के कारण था, और वह कब्ज़ी के रोग में ग्रस्त था, मैंने उसके भोजन के प्रकार में कुछ परिवर्तन कराया, और कुछ योग के आसनों का अभ्यास कराना आरंभ किया, कुछ समय के पश्चात् उसकी कब्ज़ी ज्यों २ दूर होने लगी, त्यों २ उसको निद्रा भी ठीक आने लगी, और जो उसके मन में बुरे सङ्कल्प पैदा होते थे, वह भी दूर होने लगे।

यह केवल योग का कथन अथवा मेरा अनुभव ही नहीं, प्रत्युत पश्चिमी देशों से भी यह ध्वनि कर्णगोचर हो रही है, जिसका एक दृष्टान्त पाठकों के सन्मुख उपस्थित करता हूं:—

"The vegetarians and those who live upon natural foods have many ex-amples to enforce their claim that their diet leads to far greater command over the lower or more animal instincts of man's nature, and that, all things else being equal, the same person living on the vegetarian, as opposed to the meat diet, will give his moral nature far better opportunity for development."

"From another standpoint, diet has a direct effect upon morals. Indigestion, in its manifold forms, provokes ill-temper and irritability, and even leads at times to acts of Passion. Gross deeds of cruelty and murder have been due primarily to the indigestion of the perpetrator. (Macfadden's Encyclopedia of Physical Culture, Vol. I., Page 331.)

अर्थ :—शाकाहारी और प्राकृतिक पदार्थों का सेवन करने वाले, अपने सिद्धान्त की पुष्टि में कई उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं, कि उन का आहार, मनुष्य को अपनी प्रकृति के नीच और पाशविक भावों पर विजय प्राप्त करने के अधिक योग्य बनाता है, शेष सब बातों में एक समान होते हुये, वही मनुष्य,

मांस का आहार करने के विरुद्ध, शाकादि का आहार करते हुये, अपने आचार को उन्नत होने के लिये अधिक अवसर देगा।"

"एक और प्रकार से आहार का आचार पर सीधा प्रभाव पड़ता है, भिन्न २ प्रकार का अजीर्ण मनुष्य के स्वभाव में नीचता और मानसिक क्षोभ को उत्तेजित करता है, और कई अवस्थायों में उस को काम वृत्ति में प्रवृत्त कर देता है, कई निर्दयता तथा जीवन आघात की घटनायें मुख्यतः पापकर्ता के अजीर्ण के कारण हुई हैं।" (मेकफ़ेडन)

मनुष्य के आहार का विषय जितना आवश्यक और गंभीर है, उतनो ही संसार में इसके हिये उदासीनता (लापरवाई) और अविद्या विद्यमान है, इसमें संदेह नहीं कि विद्वानों ने इस विषय पर अनेकों महत्व पूर्ण पुस्तकें लिखी हैं, जिनको पढ़कर मनुष्य अत्यन्त लाभ उठा सकते हैं, किन्तु वह प्रायः इस ढंग से लिखी गई हैं, कि साधारण मनुष्य के लिये उनको पूर्ण रीति से समझ कर पूरा २ लाभ उठाना कठिन है, जब उनको बताया जाता है, कि हमारे शरीर का पालन पोषण करने के लिये प्रोटीन, वसा, कर्बोज (Carbohydrate), लवण और जल की आवश्यकता है, यह पांचों पदार्थ यौगिक (Compounds) हैं, इनमें से प्रत्येक में कई २ मौलिक (elments) पाये जाते हैं, जो कुल मिलकर १६ बनते हैं, इन १६ मौलिकों में से प्रत्येक विशेष २ मात्रा में मनुष्य के शरीर में विद्यमान है, इस लिये शरीर का पूर्ण पोषण करने के लिए इन सब मौलिको को यथोचित मात्रा में सेवन करने की आवश्यकता है, इसके साथ ही

मनुष्य का भोजन पूर्ण उपयोगी नहीं हो सकता यदि इन ५ यौगिकों में खाद्योज (Vitamines) न हों, फिर इन मौलिकों के उष्णांक (clorie-aunite of heat) भी पूरी २ संख्या में भोजन में विद्यमान होने चाहियें, इत्यादि, इन सब बातों को सन्मुख रखते हुये साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है, बड़े से बड़े डाक्टर भी भोजन खाने के समय नहीं बता सकते, कि क्या उनके भोज्य पदार्थों में सब वस्तुयें यथावश्यक पूर्ण मात्रा में विद्यमान हैं ?

मेरा उद्देश्य यह है, कि मैं अपने अनुभवानुसार यथासंभव सरल शब्दों में वर्णन करने का यत्न करूँ, कि किस प्रकार का आहार मनुष्य के लिये कल्याणकारी हो सकता है, योग शास्त्र के अनुसार मनुष्य के लिये सब से उत्तम आहार, भिन्न भिन्न प्रकार के शाक (Vegetables) फल, धान्य (cereals), दालें (Pulses), गौ का दूध, दही और घृत हैं, दूध इत्यादि यदि गौ के न मिल सकें, तो भैंस के ही सेवन कर लिये जायें, किन्तु अधिक गुणकारी गौ के ही होंगे, बकरी का दूध भी कई प्रकार से गुणदायक समझा गया है।

संसार में ऐसे लोग भी इस समय अधिक हैं, जो मांसाहारी हैं, और इस आहार को मनुष्य के लिये परमावश्यक प्रतीत करते हैं, किन्तु पश्चमी देशों में जो इन दिनों अनवेषण किये जारहे हैं, उनके अनुसार मांस का आहार यही नहीं कि अनावश्यक है, प्रत्युत हानिकारक सिद्ध हो रहा है, जैसा कि निम्नलिखित प्रमाणों से स्पष्ट होता है:—

"There is a school house for boys of nine to eighteen years of age, well known to the writer, where flesh foods are never on the table, but where milk, fruit, salads, nuts and potatoes, and whole meal bread are provided very liberally. The boys are in magnificient condition, and are even superior in achievement in work and sport to those of other houses in the same school where meat is provided daily. Such evidence is conclusive and could be multiplied indefinitely." (Secrets of Good Health by Arbuthnot Lane, P. 35).

अर्थः—"एक पाठशाला-गृह में, जहां ९ वर्ष से १८ वर्ष तक के विद्यार्थी निवास करते हैं, और जिस से ग्रन्थ-कर्ता भली भान्ति परिचित है, कभी भी मांसाहार नहीं कराया जाता, किन्तु दूध, फल, शाक, बादाम इत्यादि, आलू और चोकर (bran) सहित आटे की रोटी, पर्याप्त मात्रा में भोजन के लिये दिये जाते हैं, वह बालक अत्युत्तम स्वस्थ अवस्था में हैं, और काम करने तथा खेलने में, उसी पाठशाला के दूसरे गृहों में निवास करने वाले बालकों की अपेक्षा भी, जिनको प्रति दिन मांसाहार कराया जाता है, कहीं बढ़ कर हैं. यह उदाहरण परिणाम सिद्ध है, और ऐसे असंख्यात उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं। (आरबथनाट लेन)

मेकफ़ेडन मांसाहार के विरुद्ध लिखते हुये आठ आक्षेप

करते हैं, मैं उनमें से केवल पांच नीचे उपस्थित करता हूं:—

"First. It is a stimulating diet. By this is meant that it not only supplies nutriment, but that it contains an artificial and unnatural stimulent, which entirely differentiates it from all vegetable and fruit foods, which healthfully nourish without stimulation."

'Second. It lessens endurance. The tests of vegetarian athletes scientifically recorded fully demonstrate the truth of this statement, showing that in severe physical contests those who abstain from flesh-eating have the greatest power."

"Third. It shortens life by hardening and rendering brittle the arteries and other tissues, thus preventing them from doing their work in a manner consistent with perfect health."

"Fourth. It is far less cleanly than a vegetarian diet, for, no matter how healthy the animal from whom the flesh is taken, it is impossible that a certain amount of the products of elimination should not remain in the tissues at the time it is eaten."

Fifth. Even though the greatest care is exercised, it is impossible always to tell whether an animal is healthy or not ; hence the constant danger that the meat-eater may expose himself to the partaking of disease through the flesh of the animals he uses for food."

अर्थ—"प्रथम-यह आहार काम वृत्ति को उत्तेजित करता है, जिस का यह तात्पर्य है, कि इस से न केवल पोषक रस की प्राप्ति होती है, प्रत्युत इस में कृत्रिम (बनावटी) और अप्राकृतक (अस्वाभाविक) उत्तेजना पाई जाती है, जो इस को शाकाहार तथा फलाहार से पृथक करती है, जो कि विना उत्तेजित करने के स्वास्थ्यकारक पोषण करता है।"

'दूसरा—यह सहनशीलता को कम करता है, शाकाहारी व्यायामशील मनुष्यों के वैज्ञानिक विधि से लिये गये परीक्षा-परिणाम स्पष्ट सिद्ध करते हैं, कि यह कथन सर्वथा सत्य है, जिस से प्रकाशित होता है, कि मांस का परित्याग करने वाले सख़्त से सख़्त शारीरक मुक़ाबलों में सब से अधिक बलयुक्त होते हैं।"

"तीसरा—यह धमनियों और दूसरे तन्तुओं को कठिन (सख़्त) और लचकरहित बनाने से मनुष्य की आयु को कम करता है, जिस से वह पूर्ण स्वास्थ्यावस्था के योग्य कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं।"

"चौथा—यह शाकाहार की अपेक्षा कम स्वच्छ है, क्योंकि चाहे कितने भी स्वस्थ प्राणी का मांस लिया जाये, यह सर्वथा

असंभव है, कि बहिष्कारी घातक पदार्थ अर्थात् शारीरिक विष की कुछ न कुछ मात्रा उस में विद्यमान न हो, जिस समय उसका भोजनकिया जाये।"

"पांचवां—चाहे कितनी भी सावधानता से काम लिया जाये, यह असंभव है, कि सदैव यह पता लग सके, कि प्राणी स्वास्थावस्था में है या नहीं, इसलिये सदा इस बात का भय है, कि मांसहारी स्वयं उस व्याधि में ग्रस्त होजाय, जिस में वह प्राणी था, जिस का कि मांस सेवन किया गया।"

मांस के विरुद्ध सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्रीयुत त्रिलोकी नाथ वर्मा की विख्यात हिन्दी पुस्तक "हमारे शरीर की रचना" में से एक प्रमाण उद्धृत करता हूं, आप प्रयाग (Allahbad) के बी. एस. सी., और पञ्जाब के मेडीकल कालिज के एम.बी.बी.एस.,और लखनऊ मेडीकल कालिज के प्रोफेसर होने के अतिरिक्त पश्चिमी देशों की कई उत्तम उपाधियों (Degrees) को धारण करते हैं, और लण्डन रायल सोसाइटी के फैलो भी हैं:—

"हमारी राय में मांस खाना अच्छा नहीं, शीत प्रधान देशों में भी मांस खाने की आवश्यकता नहीं है, लेखक युरोप में लगभग बीस मास रहा; ८-९ घण्टे रोज़ दिमाग़ी मेहनत करते हुये भी उसे कभी मांस खाने की आवश्यकता नहीं हुई, बिना मांस और मदिरा पिये बरफ़ और ओलों की सर्दी

सहने में कोई कठिनता नहीं हुई. यूरोप में भी हज़ारों मनुष्य बिना मांस खाये रहते हैं।"

"यह असत्य है, कि शीत प्रधान देशों में मांस मदिरा और चाय का सेवन आवश्यक है, इस में कोई संदेह नहीं, कि मदिरा एक हानिकारक वस्तु है।" (हमारे शरीर की रचना, २ भाग, तीसरी आवृत्ति, पृष्ठ ३९९.) इसी पुस्तक में एक स्थान में लिखा है, कि मांस भक्षण करने से पश्चिम में लोग कई प्रकार के रोगों में ग्रस्त होजाते हैं।

इस में संदेह नहीं. कि कई विद्वान् तथा डाक्टर युक्ति पूर्वक मांस आहार को अत्युत्तम सिद्ध करते हैं, परन्तु ज्यूं २ संसार में अन्वेषण हो रहे हैं. त्यों २ निरामिष भोजन मनुष्य के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध हो रहा है, यद्यपि पश्चिमी देशों में शाकाहार के पक्षपाती अण्डों को अपने आहार में सम्मिलित करते हैं. किन्तु समय आवेगा, जब कि उन को प्रतीत होगा कि शारीरिक उन्नति की दृष्टि से यह मांस से अधिक हानिकारक हैं, इन से काम वासना मांस से कहीं अधिक उत्तेजित होती है, यदि कुक्कुट का मांस हानिकारक तथा उत्तेजक है, तो जिस पदार्थ से वह शरीर बनता है, वह उस से अधिक प्रभाव क्यों नहीं उत्पन्न करेगा, जबकि उस में अग्नि की उत्तेजना कहीं अधिक अंश में विद्यमान है? यही कारण है कि योग अण्डों का भी निषेध करता है।

यदि हम निरामिषभोजी तथा मांसाहारी जीवों की शारीरिक रचना की ओर दृष्टि दें, तो उन दोनों के दांतों की बनावट और

भोजन प्रणाली की लम्बाई में बड़ा भारी भेद प्रतीत होता है, जहां हिंसक पशुओं के दांत तिरछे तथा अत्यन्त तेज़ हैं, ताकि उनको चीरने फाड़ने के काम में पूर्ण उपयोगी हो सकें, वहां शाकाहारी प्राणियों के दांत चपटे और कम तीखे होते हैं, जो कि उन को शाक फल इत्यादि सेवन करने में सहायकारी हो सकें; मांस में चूंकि सड़न (putrifaction) शाकादि की अपेक्षा अधिक शीघ्र पैदा होने लगती है, इसलिये मांसाहारी जीवों की भोजन प्रणाली, शाकाहारी प्राणियों से बहुत छोटी होती है, सो यदि मनुष्य मांस भक्षण करेगा तो जहां उसका यथा-योग्य पचाव नहीं हो सकेगा, वहां भोजन प्रणाली का लम्बा मार्ग चलते २ दीर्घ काल व्यतीत होने के कारण उस में अधिक सड़न पैदा हो जायगी, जिस से रक्त धीरे २ विषात्मिक होते रहने से कई प्रकार के रोग उत्पन्न होने लगेंगे।

यदि मांसहारी जीवों को भी देखें, तो विदित होता है, कि वह मारे हुये प्राणी के मांस को बहुत कम भक्षण करते हैं, उस के रक्त को अधिक पान करते हैं, या उस के मार्मिक अङ्गों (vital organs) यथा गुर्दे, वृषण (testicles) हृदय, जिगर इत्यादि का आहार करते हैं, क्योंकि मांस ओज (vitality) से सर्वथा शून्य होता है।

जो जीव मांस भोजी हैं, उन में क्रूरता तथा क्षणक जोश तो है, किन्तु मांसिक स्थिरता तथा दीर्घ काल तक धैर्य्य पूर्वक काम करने की शक्ति नहीं, जैसी कि

निरामिषाहारी उच्च कोटि के जीवों में पाई जाती है, हिंसक जीव कभी परस्पर मिलकर प्रीति पूर्वक एक स्थान में नहीं रह सकते, जैसा कि अन्य जीव प्रायः समूह के समूह एक स्थान में निवास कर सकते हैं।

कहा जाता है, कि मांस सेवन करने से सिंह के समान बल तथा शक्ति आती है, परन्तु कितने ऐसे जन हैं, जो बिना शस्त्र धारण किये सिंह के साथ दो २ हाथ करते हुये मुकाबले में डट सकें और उस को मार गिरायें ? हां परस्पर एक दूसरे पर अत्याचार करने के लिये तो उद्यत हो सकते हैं, इस के साथ ही हम देखते हैं, कि शाकाहारी गैंडे के मुकाबले में सिंह भी बल-हीन प्रतीत होता है, इसी प्रकार कई मांसभक्षक जन कायर और कई शाकाहारी धैर्यवान् होते हैं, और यदि सिंह के समान मनुष्य में क्रूरतादि गुण आभी जायें, तो मेरी सम्पति में यह मनुष्य का गौरव नहीं, प्रत्युत उस का पतन है।

मांस तथा अण्डों के पक्षपाती सब से बड़ा गुण जो इन में बताते हैं, वह यह कि इस में प्रोटीन अधिकांश में विद्यमान है, किन्तु मनुष्य को जितनी प्रोटीन की आवश्यकता है, वह दूध, घृत, शाकों और फलों इत्यादि में मिल सकती है, अधिक प्रोटीन सेवन करने से लाभ के स्थान में हानी ही है, क्योंकि मनुष्य के बहिष्कारी अङ्गों (Excretory organs) को इसे बाहिर निकालने में व्यर्थ अपनी शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है, क्योंकि मनुष्य को इनती प्रोटीन की आवश्यकता नहीं जितनी कि प्रायः समझी जाती है, साथ ही जहां मांस और अण्डों की प्रोटीनें हानिकारक हैं, वहां वनस्पती (vegetables),

धान्य और दूध इत्यादि की प्रोटीनें लाभदायक और गुणकारी हैं, यह केवल कपोल कल्पना ही नहीं, किन्तु इस की पुष्टि में पूर्वी तथा पश्चमी विद्वानों तथा वैज्ञानिकों के अनेकों प्रमाण उद्धृत किये जासकते हैं।

मांस आहार करने वाले जहां एक ओर व्यर्थ धन का व्यय करके स्वयं कई प्रकार के रोगों का आवाहन करते हैं, वहां उन रोगों से निवृत्त होने के लिये भी उनको धन का दुरुपयोग करना पड़ता है, और शारीरिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, इस के अतिरिक्त गौ जैसे लाभकारी पशुओं का हनन करके, निरामिष आहार करने वालों को उन के दूध इत्यादि के अमूल्य लाभ प्राप्त करने से वञ्चित रखा जाता है, और स्वयं भी उनके अमृत पदार्थ का त्याग करके विष पान करने में प्रवृत्त होते हैं, एक गौ जीवित अवस्था में स्वयं और अपनी सन्तान द्वारा जिस प्रकार मनुष्य के लिये, उपयोगी सिद्ध हो सकती है, उस के हनन से उतनी संख्या में और उतने दीर्घ काल तक लोग उस के मांस से अपना जीवन निर्वाह भी नहीं कर सकते।

इन्हीं कारणों से मांसाहार और अण्डों को मनुष्य जीवन के लिए अत्यन्त हानि-कारक अनुभव करते हुए भारत-वर्ष के प्राचीन योगाचार्य्यों ने जहां इनका निषेध किया, वहां मिर्च (काली, लाल, वा हरी), चटनी, अचार, चाय, काफी, (Coffee), कोको, (Cocoa), मादक पदार्थ (मदिरा, भंग, चरस, गांजा इत्यादि), निरामिष उत्तेजक पदार्थों को भी

त्यागने की शिक्षा दी, और साथही भोजन को पूर्ण उपयोगी बनाने के लिए मिताहारी बनने का उपदेश दिया।

जैसा कि पहिले वर्णन किया गया है, मिताहार के लक्षण यह हैं, कि वह शुद्ध, मधुर, स्निग्ध, रसयुक्त हो और प्रसन्नता पूर्वक आधे आमाशय को ख़ाली छोड़ कर सेवन किया जाय, और इस के चौथे भाग को जल से भरा जाये।

शुद्ध भोजन-इस का तात्पर्य केवल यही नहीं, कि इस में किसी प्रकार के हानि कारक पदार्थ की मिलावट न हो, या वह गला सड़ा, गन्दा और कीड़ों इत्यादि का खाया हुआ न हो, प्रत्युत शुद्ध जल, वायु, भूमि और बीज द्वारा उत्पन्न किया गया हो, अशुद्ध और मल मूत्र युक्त जल द्वारा सींच कर पैदा किए हुए शाक, धान्य और फल आदि कई प्रकार के रोगों को पैदा करेंगे, और भूमि भी धीरे २ दूषित होती जायगी, सब से उत्तम जल वह है, जो वर्षा द्वारा प्राप्त होता है, या कूप (कुएं) का, यदि उस में किसी प्रकार का दोष न हो, परन्तु नहर का जल इतना उपयोगी नहीं, क्योंकि जिस भूमि में धान्य, फल इत्यादि पैदा करने हों, उस स्थान का जल उस के लिए अधिक अनुकूल होगा, और साथ ही नहर का जल जो अपने साथ नदी का बालू (रेत) लाता है, उसका धीरे २ सञ्चय होते रहने से भूमि निर्बल होने लगेगी, जितना धान्य इत्यादि उस में पहिले पैदा होता था, उस से कम होने लगेगा, जिस नहर के जल में जितना बालू अधिक होगा, उतना ही शीघ्र उस का दुष्परिणाम प्रकट होने लगेगा, पञ्जाब

में जमींदार इस का प्रभाव प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं, इस के अतिरिक्त यदि भूमि में बिना खाद (manure) डाले धान्य इत्यादि पैदा किए जाएं, तो वह परिमाण (size) में तो कम होंगे, किन्तु लाभकारी अधिक होंगे, खाद डाल कर हम भूमि को जहां नत्रजन (Nitrogen) अधिक प्रदान करते हैं, वहां उस के दूषित अंश भी भूमि में प्रवेश कर जाते हैं, भूमि में अधिक बार हल चलाकर जो नत्रजन प्राप्त की जासकती है, वह प्रयास है, उस से अधिक इस की आवश्यकता नहीं है, यन्त्रों द्वारा वेग से हल इत्यादि चला कर भूमि में ताप (heat) के अत्यन्त बढ़ जाने से पृथ्वी के कई सूक्ष्म लाभदायक अंश नष्ट हो जाते हैं, इस से काम तो चाहे कहीं अधिक हो जाता है, किन्तु इस से जो धान्य इत्यादि पैदा हों, वह मनुष्य शरीर के लिए कम पुष्टि कारक होंगे, भारत-वर्ष में जिस प्रकार से हल इत्यादि चलाने की प्रथा है, वह अत्यन्त उपयोगी है, वर्तमान काल में संसार में जो व्यो-पारिक दृष्टि से केवल धन की मात्रा बढ़ाने के भाव से भूमि से अधिक से अधिक धान्य इत्यादि प्राप्त करने के लिए कृत्रिम उपायों (artificial means) का प्रयोग किया जाता है, मनुष्य के स्वास्थ्य की दृष्टि से यह त्याग देने योग्य है।

मधुर आहार—फल तथा शाक जितने ताज़ा होंगे, उतने ही अधिक स्वादु व उपयोगी होंगे, जो फल वृक्षों से कच्चे उतार कर ताप द्वारा पकाए जायें, उन से वृक्ष के ऊपर पके हुए फल अधिक मधुर और गुणकारी हैं, जिस स्थान व देश में

मनुष्य निवास करता हो, उस के लिए उस स्थान व देश में पैदा हुए २ फल, शाक इत्यादि शरीर के पालन पोषण के लिए अधिक अनुकूल सिद्ध होंगे, यदि हम भोज्य पदार्थों की मधुरता अनुभव करना चाहते हैं, तो हम को इन का स्वाद प्राकृतिक (natural) अवस्था में लेना चाहिए, मिर्च और मसाले मिला कर भक्षण करने से, हम को उन का असली स्वाद विदित नहीं हो सकता, धीरे २ चबा २ कर प्रत्येक पदार्थ को सेवन करने से ही हम भोजन के मधुर स्वाद को अनुभव कर सकते हैं ।

स्निग्ध पदार्थ-योग शास्त्र की सम्मति में माखन, और घृत ही मनुष्य के लिए परम उपयोगी हो सकते हैं, और यह ओज को उत्पन्न करते हैं, डाक्टरों की सम्मति में यह भी एक प्रकार की वसा (fat हैं, जैसे भिन्न२ प्रकार के तैल शरीर के लिए उपयोगी हैं, वैसे ही माखन और घृत हैं, किन्तु योग की दृष्टि में इन में परस्पर बड़ा भेद है, यह सब भिन्न २ प्रकार का प्रभाव शरीर पर डालते हैं, सब से उत्तम घृत वा माखन गाय के दूध का है, और तैलों में सब से अधिक उपयोगी तैल सरसों का है, बादाम इत्यादि फलों के तैल के सेवन करने की अपेक्षा, उन फलों का आहार अधिक गुणकारी है, डाक्टरों का यह विचार अनुभव से ठीक प्रतीत नहीं होता, कि सब स्निग्ध पदार्थ केवल वसा के रूप में शरीर के लिए उपयोगी होते हैं, जब कि हम देखते हैं, कि हमारा न पचा हुआ भोजन अधिकांश में वसा बनाता है, चाहे वह भोजन किसी

भी प्रकार का हो, और माखन तथा घृत का प्रयोग करते हुए भी उसमें वसा का अधिक सञ्चय दृष्टि गोचर नहीं होता यदि इन का प्रचार पूर्ण रीति से हो जाए, गौ के दूध को वीर्य वृद्धि के लिए सब से उत्तम समझा जाता है, किन्तु यदि उस में से माखन को पृथक कर लिया जाए, तो फिर उस में वह शक्ति नहीं रहती, जिस से प्रतीत होता है. कि माखन तथा घृत ओज को बढ़ाने वाले हैं, गौ की अपेक्षा भैंस के दूध, माखन और घृत में अधिक वसा निर्माण करने की शक्ति है, इसलिये उस में ओज कम विद्यमान है. दूसरे पशुओं के दूध में ओज बहुत कम होता है, इसी कारण गौ के दूध को सब से उत्तम समझा जाता है, यदि दूध का मन्थन कर के उस में से माखन निकाला जाये, तो वह इतना उपयोगी नहीं होगा, जितना कि दही का मन्थन करके निकाला हुआ माखन लाभदायक हो सकता है, दही की छाछ में जो गुण हैं, वह दूध की छाछ में नहीं, मन्थन किये हुये दूध की छाछ, दूध में मिला कर या पृथक, दूध के रूप में बिक सकती है, किन्तु दही की छाछ से यह धोके का काम नहीं चल सकता. सरसों के तैल का कभी २ उपयोग करना लाभकारी हो सकता है, किन्तु इस से अधिक गुणकारी सरसों का शाक है, इसी प्रकार तिल, नारियल इत्यादि का तैल सेवन करने के स्थान पर, तिलों और नारियल इत्यादि का यथोचित वर्ताव अत्युत्तम है, जो लोग घृत के स्थान पर इन के तैलों का प्रयोग करते हैं, उन में ओज कम मात्रा में पैदा होगा, इन कारणों से योग माखन तथा घृत को सब से उच्च पदवी देता है ।

रसयुक्त आहार–जो भोज्य पदार्थ सेवन किये जायें, वह रूखे, सूखे न हों, इनमें उनका रस पूर्ण मात्रा में विद्यमान होना चाहिये, शुष्क (सुखाये हुये) फलों और शाकों की अपेक्षा ताज़े फल और शाक अधिक लाभ देते हैं, धान्य भी ऋतुकाल में यदि सूखने से पहिले सेवन किये जायें, तो अधिक गुणदायक होंगे, इसलिये ऋतुकाल में कच्चे वा भुने हुये, हरे चने व मक्की इत्यादि का प्रयोग करना भी उत्तम होगा, सूखे हुये धान्य व दालें भी वही उपयोगी हो सकती हैं, जिन में पूर्ण सत्ता विद्यमान हो, और उन के पुष्टिकारक तत्वों का लेश मात्र भी ह्रास न हुआ हो।

प्रसन्नतापूर्वक आहार–भोजन का सेवन करते समय मनुष्य के मन में किसी प्रकार का खेद, क्लेश, चिन्ता तथा क्रोधादि के भावों का लेश मात्र भी आवेश नहीं होना चाहिये, क्योंकि इन से अमृतमय भोजन भी विषमय हो जाता है, इस प्रकार के भाव मनुष्य के रक्त पर मानसिक प्रभाव डाल कर, उस को दूषित कर देते हैं, और यह दोषयुक्त रक्त शरीर की सेलों, तन्तुओं और सूत्रों में जहां २ संचार करता है, वहां हानिकारक परिणाम उत्पन्न करता है, इस अवस्था में भक्षण किये हुये पदार्थ पूर्ण गुणदायक नहीं हो सकते, जिस गृह में भोजन के समय कला क्लेश होता रहता है, वह नरक से भी बढ़कर है, जो बालक खाने पीने की वस्तुओं के लिये लड़ते झगड़ते रहते हैं, माता पिता को प्रेम तथा युक्ति पूर्वक उन के मन पर यह दृढ़ संस्कार पैदा कर देने चाहियें, कि प्रसन्नता पूर्वक अङ्गीकार किया हुआ

भोजन ही पूरा २ फलदायक हो सकता है, और स्वयं भी उनको भोजन की वस्तुओं के लिये बालकों के प्रति क्रोध इत्यादि प्रकट करने से सदैव बचना ही उचित है।

भोजन की मात्रा—

एक विचार प्राय: लोगों में पाया जाता है, कि अधिक भोजन करने से मनुष्य में अधिक बल तथा शक्ति आती है, इसलिये जहां तक समाई हो सके, वह आमाशय को पूर्ण करने का यत्न करते हैं, जिस से भोजन की पचन क्रिया में गति भी सुगमता पूर्वक नहीं हो सकती, और हृदय तथा फेफड़ों पर भी इतना दबाव पड़ता है, कि वह अपने कर्तव्य पालन करने में कठिनता प्रतीत करते हैं, जिस का प्रभाव रक्त प्रवाह और श्वास प्रश्वास पर पड़ता है, भोजन का पचाव यथोचित न होने के कारण, भोजन पूर्ण उपयोगी नहीं हो सकता, भोजन के पचने का अर्थ यह नहीं, कि वह आमाशय से निकल कर आंतों में चला जाये, और ठीक समय पर मल विसर्जित हो जाय, प्रत्युत यह कि उस में से पोषक रस पूर्ण मात्रा में प्राप्त हो सके, यह तभी हो सकता है, जब कि आमाशय का आधा भाग भोजन और जल से भरा जाये और शेष भाग ख़ाली रहे, ताकि भोजन की मन्थन क्रिया सुगमता पूर्वक पूर्ण रीति से हो सके, संसार में लोग इतनी संख्या में क्षुधा के कारण नहीं मरते, जितने कि अधिक आहार करने से नाना प्रकार के रोगों में ग्रस्त होते हुये अकाल मृत्यु की भेंठ होते हैं, जो लाभ एक मनुष्य आधा सेर भोजन को पूर्ण रीति से पचा कर प्राप्त कर सकता है, वह दो सेर अन्न भक्षण करके नहीं कर सकता, जो

जन पचन शक्ति इसी में प्रतीत करते हैं, कि जो खा जायें और जितनी मात्रा में खा जायें, वह सब पच सके, और विशेष कर के युवकावस्था में तो पत्थर भी चबा जायें, तो जीर्ण हो जाये, वास्तव में यही लोग हैं, जो धीरे २ अपनी पचन शक्ति को कम कर के नाना प्रकार के रोगों से बाध्य होकर कष्टों में ही जीवन व्यतीत करते हैं, और यौवन काल को स्मरण करके कहते हैं, कि "जवानी में तो हम पत्थर भी चबा जाते थे, अब न जाने क्या हो गया ?" किन्तु वह नहीं जानते, कि वह उन पत्थरों के चबाने का ही फल भोग रहे हैं।

जो मनुष्य भोजन को बिना पूर्ण रीति से दांतों से चबाने के झटपट कण्ठ से ग्रास को भीतर डाल लेते हैं,वह जहां भोजन की पचन क्रिया को अधूरा रखते हैं, वहां आवश्यकता से अधिक आहार कर जाते हैं, यदि मनुष्य धीरे २ पूर्ण रीति से ग्रास को चबा कर भीतर ले जाता है, तो वह थोड़ा भोजन करने से सन्तुष्ट हो जाता है, और जब उस के आमाशय का आधा भाग पूर्ण हो जाता है, तो उस की क्षुधा की स्वयमेव तृप्ति हो जाती है।

जल का प्रयोग-जल के विषय में मत भेद है, कई कहते हैं, कि जल भोजन के आधा घण्टा पीछे पीना चाहिये, कोई दो तीन घण्टे पश्चात् जल पीने को उपयोगी समझते हैं, एक सज्जन मुझे कहने लगे, कि यदि भोजन को अत्यन्त चबा २ कर खाया जाये, तो चौबीस घण्टे में जल पीने की आवश्यकता ही नहीं, भोजन में

मिले हुये लार रस से ही यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, और वह स्वयं ऐसा ही करते थे, किन्तु अब नये अन्वेषणों ने इस प्रकार के विचारों में परिवर्तन कर दिया है, पहिले यह विचार था, कि जल आमाशय में भोजन के साथ मिल कर किसी प्रकार से उपयोगी नहीं होता, अब यह समझा जाता है, कि यह भोजन की पाचन क्रिया में सहायकारी होता है, इसलिये भोजन के साथ इस को पीना उपयोगी हो सकता है, किन्तु योग शास्त्र के आचार्यों ने इस की उपयोगिता को प्राचीन समय में अनुभव कर लिया था, इसी लिये उन्हों ने भोजन के साथ जल पान करने का विधान किया।

भोजन के साथ जल पान करना भी पूर्ण उपयोगी तभी हो सकता है,जब कि भोजन करते २ मध्य में ठहर २ कर दो २ चार २ घूंट जल के पिये जायें, और एक २ छोटा २ घूंट भर कर भोजन के समान मुख में चबा कर धीरे २ कण्ठ से नीचे लेजाया जाये, इस प्रकार जहां प्यास भी थोड़े जल से तृप्त हो जायगी, वहां पाचन क्रिया में भी सहायता मिलेगी, बर्फ़ डाल कर या अत्यन्त ठण्डा जल पीना हानिकारक है।

इस के अतिरिक्त दिन में भी कई बार जल पीने की आवश्यकता है, और वह भी उपरोक्त प्रकार से धीरे २, और रात्रि को शयन करने से पहिले अवश्य थोड़ा सा जल पान करना चाहिये,इस प्रकार से मनुष्य को कबज़ी नहीं होगी, क्योंकि पिये हुये जल का कुछ भाग बड़े नल में प्रवेश करके मल को नरम रखता है, और उस को सख़्त होने नहीं देता।

स्वास्थ्य के लिये सबसे उत्तम जल, स्रोत (Spring) या कूप का है, यदि उन को पूर्ण रीति से सुरक्षित रक्खा जाये और उन के भीतर या इर्द गिर्द किसी प्रकार का मल या कोई पदार्थ इत्यादि न डाले जायें, और उस में किसी प्रकार का दोष भी हो तो वह विना औषधि के प्रयोग के शोधन करने से दूर किया जा सकता है, नल का जल (Pipe-water), जो सब से उत्तम समझा जाता है, वह स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है, क्योंकि जैसा ताज़ा जल हम कूप से प्राप्त कर सकते हैं, नल के द्वारा उतना ताज़ा प्राप्त नहीं हो सकता, बन्द रहने के कारण नल के जल के साथ बाहिर की शुद्ध वायु, और सूर्य तथा चन्द्र की किरणों का यथोचित मेल न होने के कारण नल के जल में वह जीविनी शक्ति नहीं होती, जो कूप तथा स्रोत के खुले जल में होती है, नल का जल चाहे कितना भी शुद्ध हो नलों के भीतर प्रवाहित होने के कारण शुद्ध नहीं रह सकता, क्योंकि इन नलों का भीतर से शोधन नहीं किया जा सकता, और यदि कहीं नल में छोटा सा छिद्र हो जाये, तो उस का पता भी नहीं लग सकता, और बाहिर का मल धीरे २ उस के भीतर जाते रहने से वह जल और भी दोषयुक्त हो जायगा, स्नान करने के लिये भी जो गुणकारी कूप तथा स्रोत का जल हो सकता है, वह नल का नहीं हो सकता, कूप के जल के विरुद्ध जो कई प्रकार के आक्षेप किये जाते हैं, वह सर्वथा मिथ्या हैं, मेरा यह तात्पर्य नहीं कि कूप का जल किसी अवस्था में भी हानिकारक नहीं हो सकता, और चाहे जल किसी प्रकार का भी हो, कूप तथा

स्रोत का ही पीना चाहिये, प्रत्युत मेरी यह सम्मति है, कि नल के शुद्ध किये हुये जल की अपेक्षा कूप व स्रोत का शुद्ध जल अत्यन्त लाभकारी है, और जो नगरों में दिन प्रति दिन हानि-कारक समझ कर कूपों को बन्द किया जा रहा है, यह बड़ी भारी भूल है, जहां कूप तथा स्रोत का जल प्राप्त हो ही नहीं सकता, वहां तो अपने निर्वाह के लिये जैसा भी हो मनुष्यों को प्रबन्ध करना ही पड़ता है, परन्तु जहां इन का जल प्राप्त हो सकता है, वहां इन से क्यों पूर्ण लाभ न उठाया जाये ?

उपरोक्त प्रकार से मिताहार करते हुये योग शास्त्र के अनुसार किस प्रकार का भोजन सेवन करना तथा त्यागना चाहिये, यह नीचे के प्रमाणों से स्पष्ट होता है:—

"लघुपाकं प्रियं स्निग्धं तथा धातुप्रपोषणम् ।
मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥"

(घेरण्ड संहिता)

"अर्थ-योगी इस प्रकार का भोजन सेवन करे, जो सुगमता से पचने वाला, कल्याणकारी, घृत तथा माखन युक्त, वीर्य की पुष्टि करने वाला, मन की रुचि के अनुकूल, और मनुष्य के सेवन करने योग्य हो" ॥ घेरण्ड संहिता ॥

"काठिण्यं दुरितं पूतिमुष्णं पर्युषितं तथा" ।
अतिशीतं चाति चोष्णं भक्ष्यं योगी विवर्जयेत् ॥

(घेरण्ड संहिता)

अर्थ:—योगी इस प्रकार के भोजन त्याग दे, जिस का पचना कठिन हो, जो कल्याणकारी न हो, जिस में दुर्गंध हो,

जो गरम हो, अथवा रात्रि का पका हुआ हो, अत्यन्त शीतल (extremely cooling) और उत्तेजक (exciting) हो" ॥ घेरण्ड संहिता ॥

योग शास्त्र के अनुसार भोजन का समय कौन सा होना चाहिये इस को भी प्रमाण द्वारा उद्धृत करता हूं:—

"मध्याह्ने चैव सायाह्ने भोजद्वयमाचरेत् !,,

अर्थः—"योगी को मध्याह्न काल (at noon), और सायंकाल (at evening time), दिन में दो बार भोजन सेवन करना चाहिये।

ऊपर कथन किये हुये श्लोकों की व्याख्या की आवश्यकता नहीं, पाठक इस को भली भांति समझ सकते हैं, किन्तु एक बात की ओर उन की दृष्टि अवश्य दिलाना चाहता हूं. कि जो भोजन को प्रति दिन दो बार सेवन करने की योग की मर्यादा है, इस से विदित होता है, कि योग का अभ्यास करने के लिये भोजन का सर्वथा त्याग करना उचित नहीं, इस से यह भी स्पष्ट होता है, कि इस देश में दो काल का भोजन नियत समय पर किया जाता था, और यह दो बार भोजन करने की मर्यादा प्राचीन समय से चली आती है,किन्तु जो नियत समय पर भोजन करने की पद्धति थी, वह अब टूट गई है, इस देश के लोग यूं तो दिन में चाहे कितनी बार भक्षण करते रहें, पूर्ण भोजन (full meal) दो बार ही सेवन करते हैं, जो जन चाहते हैं, कि उन का स्वास्थ्य बना रहे, उन के लिये दो ही बार दिन में भोजन करना उचित है, और दो आहारों के

मध्य में कई बार खाते रहना हानिकारक होगा,इस बात को अब पश्चिमी देशों के विद्वानों ने भी अनुभव किया है, कि मनुष्य के लिये दिन में दो बार भोजन करना ही पूर्ण उपयोगी है, एक मध्याह्न के समय और दूसरा सायंकाल के समय।

भोजन को पूर्ण उपयोगी बनाने के लिये इस ओर ध्यान देना भी परमावश्यक है, कि प्रत्येक समय का भोजन किस प्रकार का हो, और कौन २ से खाद्य पदार्थ, किस अवस्था में सेवन किये जायें।

१. धान्य वर्ग—प्रत्येक आहार में किसी प्रकार के धान्य का आटा अवश्य होना चाहिये,सब से उत्तम धान्य गोधूम (गेहूं)है, जिस के तुल्य किसी दूसरे अनाज में बल तथा शक्ति नहीं, इस का नित्य सेवन करने वाले जन अधिक बलवान् होंगे, इस के साथ ही समय २ पर दूसरे अनाज भी सेवन करते रहना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक में कुछ न कुछ विशेष पोषक अंश विद्यमान होता है, जिस का दूसरे में अभाव होता है, भिन्न २ प्रकार के धान्य मिल कर एक दूसरे की त्रुटि और कमी को पूरा करते हैं, जो लोग चावलों का आहार करते हैं, उन को दिन में एक बार अवश्य गेहूं का प्रयोग करना चाहिये, नित्य गेहूं का आहार करने वालों को कभी २ चावल भी भक्षण करने चाहियें, और इसी प्रकार मक्की और चने इत्यादि का भी यथायोग्य आहार करना उचित है।

यन्त्र (machine) द्वारा छड़े हुये चावलों की अपेक्षा हाथों से छड़े हुये अधिक उपयोगी हैं. यन्त्रद्वारा चावलों के

ऊपर से सूक्ष्म छिलका उतर जाता है, जिस में ओज तथा मधुरता होती है, किन्तु हाथ से छड़े हुओं में यह सुरक्षित रहता है, इसी प्रकार गेहूं और मक्की इत्यादि का आटा हाथ की चक्की से पिसा हुआ सब से उत्तम है, यन्त्र द्वारा चक्की के अधिक वेग से चलने के कारण इतना ताप होता है, कि इस से धान्य का ओज नष्ट हो जाता है, और आटा भी प्रायः सूक्ष्म होता है, मोटे आटे की रोटी अधिक लाभकारी होती है, यदि आटे में से चोकर पृथक न किया जाये, तो और भी अधिक गुणदायक हो जाती है, और ख़मीर डाल कर बनाई हुई डबल रोटी इत्यादि की अपेक्षा बिना ख़मीर की बनी हुई मोटी रोटी अधिक गुणदायक होगी, इसी प्रकार दूसरे धान्यों के विषय में कहा जा सकता है, रोटी के अतिरिक्त मैदा, सूजी (रवा), तथा बेसन इत्यादि की बनाई हुई भिन्न २ प्रकार की मिठाइयां इत्यादि, चाहे घर में भी बनाई जायें, अत्यन्त हानिकारक हैं, अनाजों को जितना सूक्ष्म पीस कर, जितने भी घृत अथवा तेलादि द्वारा इन पर प्रयोग (operations) होते जायेंगे, उतने ही वह पदार्थ मनुष्य के लिये विषमय सिद्ध होंगे, आटे अथवा रोटी के भीतर घृत या तैल प्रयुक्त करके हम प्रायः समझते हैं, कि उस को नरम करके शीघ्र और सुगमता से पचा लेंगे, परन्तु इस रोटी को पचाना बड़ा कठिन है, आमाशय में गया हुआ भोजन जितना सूक्ष्म और स्निग्ध (चिकना) होगा, उतना ही उस के भीतर आमरस को प्रवेश करके उसको पचाना कठिन

होगा, चावलों को उबाल कर उनमें से जल का अंश निकाल देने से उन का ओज नष्ट हो जाता है, इस लिये जल को भीतर ही सुखा देना चाहिये ।

२. दाल वर्ग–दोनों काल के भोजन में एक दाल अवश्य होनी चाहिये, दाल का छिलका उतार कर सेवन करने की अपेक्षा इसको छिलके समेत खाना अत्यन्त लाभकारी है, जो इसे रोटी को स्वादु बनाने के लिये खाते हैं, वह प्राय: यह समझते हैं, कि पेट भरने के लिये तो रोटी है, दाल तो चाहे कम खाई जाए, उस से कुछ हानि नहीं, किन्तु वास्तव में यह भी हमारे भोजन का आवश्यक अंश है, भोजन के साथ इस को यथोचित मात्रा में खाना चाहिये, और इसमें सदा परिवर्तन भी करते रहना उचित है, एक ही प्रकार की दाल को लगातार सेवन करना ठीक नहीं ।

३. शाकवर्ग–दोनों काल के भोजन में एक शाक भी अवश्य होना चाहिए, इस को दाल से अधिक मात्रा में सेवन करना आवश्यक है, शाक भी नित्य बदल २ कर भक्षण करने उचित हैं, इन का छिलका भी बड़ा उपयोगी है, इसलिये विना छिलका उतारे इनका आहार अत्यन्त लाभकारी है, दाल और शाक के छिलके में जहां ओज होता है, वहां यह पाचन क्रिया को सुगमता पूर्वक होने में सहायता देता है ।

फल वर्ग–प्रतिदिन कम से कम एक बार भोजन के समय हम को कोई न कोई फल भी अवश्य सेवन करना उचित है, और फल भी बदल २ कर खाने चाहियें, एक समय में कई

प्रकार के फलों को सेवन करने से हानि अधिक व लाभ कम होगा, इसलिये एक दो प्रकार के फल अधिक से अधिक एक साथ भक्षण करने चाहियें।

दुग्धाहार-दूध को प्रातःकाल के भोजन से दो तीन घण्टे पहिले सेवन करना चाहिये, ताज़ा दुहा हुआ दूध सब से उत्तम है, यदि अपने घर की गाय इत्यादि का दूध न मिले, तो उस को केवल एक बार उबाला देकर ठण्डा करके पीना उचित है, इसी प्रकार दही भी यदि ताज़े दूध को थोड़ा सा उबाल देकर जमाया जाये, तो अत्युत्तम होगा, दूध की बनी हुई और मिठाइयां, मलाई तथा रबड़ी, खोया इत्यादि का प्रयोग करना अत्यन्त हानिकारक है, चावलों को यदि दूध में पकाना हो, तो उस को अधिक गाढ़ा नहीं करना चाहिये, इसमें खाण्ड बहुत थोड़ी मात्रा में डालना उचित है,दूध में भी यदि खाण्ड डाली जाय, तो बहुत ही थोड़ी मात्रा में, यन्त्रों द्वारा शोधित अत्यन्त श्वेत खाण्ड की अपेक्षा कोरी शुद्ध खाण्ड अधिक उपयोगी है, इस से भी उत्तम यह है, कि गन्ने को चूसा जाये, इसका निकाला हुआ रस पीना कम लाभकारी है,क्योंकि स्वयं धीरे २ चूसने से मुख के लार रस को भी उस में पूर्णमात्रा में मिलने का अवसर मिल जाता है, और मनुष्य इसको अधिक मात्रा में सेवन भी नहीं कर सकता,रात्रि को भोजन के पीछे शयन करने के समय दूध पीना और सोये हुये बालकों को जगा कर दूध पिलाना हानिकारक है,दुग्धाहारी बालकों के लिये अपनी माता का दूध ही सब से उत्तम हो सकता है,माता यदि रोगग्रस्त हो,

नो योग्या धाता (wet-nurse), या उसके अभाव में बकरी अथवा गाय का दूध विधिपूर्वक पिलाना उचित है, माता के आहार का दूध पीने वाले बालक पर अत्यन्त प्रभाव पड़ता है, इस लिये माता को भोजन करने में अत्यन्त सावधान रहना चाहिये, कि कोई पदार्थ ऐसा न खाया जाय, जिस का पचना कठिन हो, चाहे वह शाक या फल इत्यादि भी क्यों न हों, क्योंकि इस का प्रभाव माता के दूध पर पड़ेगा और दूध का बालक पर।

प्राकृतिक भोजन--इस समय कई अनुभवी विद्वानों की सम्मति में मनुष्य का आहार कुदरति होना चाहिये,उस पर पकाने इत्यादि की कोई क्रिया न की जाये, जिस अवस्था में वह पदार्थ प्रकृति में पैदा हुआ है, उस को उसी अवस्था में सेवन करने से वह पूर्ण लाभकारी हो सकता है, क्योंकि अग्नि के ताप से उस के कई आवश्यक अंश नष्ट हो जाते हैं, और उस का ओज निकल जाता है, शाकों में लवण मिलाने की आवश्यकता भी इसी कारण पड़ती है, कि पकाने से उन का अपना लवण नष्ट हो जाता है।

दूसरी ओर भोजन को पका कर सेवन करने के पक्षपाती बताते हैं, कि जो अनाज व शाक इत्यादि भूमि में से पैदा होते हैं, उन में भूमि द्वारा कुच्छ हानिकारक अंश भी मिल जाते हैं, और यदि उन को अग्नि का ताप न दिया जाये, वह मनुष्य जीवन के लिये हानिकारक सिद्ध होंगे, इस लिये उन को पका कर सेवन करना ही उपयोगी है, किन्तु फलों को, वृक्षों के ऊपर पकने के कारण, सूर्य के तेज को ग्रहण करने का अवसर

शाकादि से अधिक प्राप्त होता है, इस लिये उन को पकाने की आवश्यकता नहीं ।

मेरे विचार में सर्वोत्तम पक्ष तो यही है, कि इन को पकाने की आवश्यकता ही न पड़े, किन्तु इस समय एक तो हमारे आमाशय में इतनी शक्ति नहीं रही, कि अनपके भोजन को पूर्ण रीति से पचा सके, और दूसरे भूमि में खादादि डाल कर (और वह भी निकृष्ट प्रकार के) हम ने भूमि से पैदा होने वाले पदार्थों को विषमय बना लिया है, इसलिये उन को पका कर सेवन करना ही आवश्यक प्रतीत होता है, परन्तु यदि पकाने के समय यह ध्यान रखा जाये, कि शाकों के छिलके न उतारे जायें, उन में बाहिर से जल न मिलाया जाये, बिलकुल धीमी २ अग्नि पर रखकर उन को पकाया जाये, और उन को पूरा २ गलाया भी न जाये, थोड़ा सा गल जायें, तो नीचे उतार लिया जाये, किन्तु दाल को यथोचित थोड़े से जल में उसी प्रकार धीमी २ अग्नि पर बनाया जाये, तो यह अधिक गुणदायक तथा स्वादु होंगे, पतले पात्र की अपेक्षा भरत के मोटे पात्र में शाकादि को बनाने से पदार्थ अधिक उपयोगी व स्वादिष्ठ होते हैं, घृत को अत्यन्त गरम करके या जला कर दाल इत्यादि द्वारा सेवन करने में उस का ओज नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार कई प्रकार की वसा इत्यादि का मलावटी तथा वनस्पति घृत (vegetable ghee) कई प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है, माखन भी आजकल शुद्ध मिलना अत्यन्त कठिन है, ठीक शुद्ध अवस्था में तो अपने घर का घृत वा

माखन ही प्राप्त हो सकता है, शाकों में चाहे घृत इनके पकने से पहिले या पीछे डाल दिया जाये, किन्तु दालों में पकने के पीछे ही डालना उचित है, इन में हल्दी व लवण इतनी थोड़ी मात्रा में डालने चाहियें, कि जिस से पकाये हुये शाकादि का स्वाद विकृत न हो, और लवण तथा हल्दी का स्वाद प्रतीत ही न हो, समुद्र के लवण से अधिक उपयोगी पञ्जाब का श्वेत वर्ण का लवण है, हल्दी और लवण बाज़ार में पिसे हुये शुद्ध अवस्था में मिलने कठिन हैं, उन को घर में पीस कर प्रयोग में लाना ठीक है, इसी प्रकार चोकर सहित मोटे आटे की तवे पर बनी हुई मोटी रोटी पतली रोटी से अधिक उपयोगी है, यदि हाथ की चक्की का आटा न मिल सके, तो यन्त्र की चक्की का स्वयं मोटा पिसा लिया जाये ।

शाकादि थोड़ी २ मात्रा में, अग्नि पर पकाने के बिना, प्राकृतिक अवस्था में भी सेवन करते रहना चाहिये, मूली, गाजर, ककड़ी इत्यादि को तो पकाने की बिलकुल आवश्यकता ही नहीं, धान्य इत्यादि को कभी २ भगो कर या उबाल कर भी सेवन कर लिया जाये तो अच्छा है, भुने हुये अनाज भी बहुत उपयोगी हैं, जैसे आजकल लोगों का चाये पीने का सायं काल पांच बजे का समय होता है, इस देश में उस समय लोग थोड़ा सा अनाज भुना कर खाते थे, जिन लोगों का चाय पीने का स्वभाव है, वह लोग यदि उस के स्थान में ताज़ा भुना हुआ अनाज सेवन करें, तो उस से अच्छा हो ।

एक प्रश्न यह भी है, कि मनुष्य किस प्रकार का भोजन करे और कितनी मात्रा में करे, इस के लिये कोई विशेष नियम

नहीं किया जा सकता, प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति वा रुचि के अनुसार अपने लिये स्वयं नियत कर सकता है, कि उस का भोजन किस प्रकार का हो, और भोजन की मात्रा बहुत कुछ मनुष्य के शारीरिक परिश्रम तथा प्रकृति पर निर्भर है, किन्तु कुछ सामान्य बातें जो सब के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं, उनको संक्षेप से लिखने का यत्न करता हूं।

मनुष्य की प्रकृति (आयुर्वेदिक के अनुसार), वात, पित्त और कफ, तीन प्रकार की है, और इसी प्रकार सब खाद्य पदार्थ भी तीन प्रकार की प्रकृति वाले हैं, किन्तु डाक्टर लोग इस बात को स्वीकार नहीं करते, उन के विचार में यह पदार्थ गरम वा सरद है, और इस में वात का अंश है, यह बातें अज्ञानता की हैं, किन्तु यदि इस को कुछ समझने का यत्न किया जाए, तो इन में कुछ तत्त्व भी प्रतीत होता है, जिस पदार्थ में उष्णता अधिक मात्रा में होती है, उसको गरम या पित्त प्रकृति का कहा जाता है, जिस में उष्णता बहुत कम है, उस को सरद या कफ प्रकृति वाला समझा जाता है, जिस में जल का अंश अधिक मात्रा में विद्यमान है, वह वात प्रकृति का है, सब प्रकृति के पदार्थ इन तीनों गुणों से युक्त हैं, किसी में कोई अंश अधिक मात्रा में है, किसी में कोई, यदि मनुष्य एक की प्रकृति के पदार्थ सेवन करता रहे, तो उस में वही अंश अत्यन्त बढ़ जाने से, वह उसी प्रकार के रोग में ग्रस्त हो जायगा, पित्त के अंश के बढ़ जाने से मनुष्य को वह रोग उत्पन्न होगे, जिन में शरीर का ताप-

परिमाण (temperature) बहुत बढ़ जाता है, जैसे सरसाम (delerium), कई प्रकार के ज्वर(fevers), माता(small-pox) और फोड़े फिनसी इत्यादि, यदि कफ का अंश बढ़ जाये तो खांसी व जुकाम इत्यादि प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं, और वात के अंश के अति मात्रा में पैदा हो जाने से अतिसार (जुलाब लग जाना), पेचश (dycentry), उदर का फूल जाना इत्यादि प्रकार के विकार होने लगते हैं, जिस मनुष्य में पहिले ही जो अंश अधिक होता है, उस के लिए उसी प्रकार के पदार्थ हानिकारक होंगे, और एक ही प्रकार के पदार्थ नित्य सेवन करने से मनुष्य में वह अंश अत्यन्त बढ़ जाने से वह उसी प्रकार के रोग में ग्रस्त हो जायगा, और कई पदार्थ ऐसे हैं, कि जिन में यह गुण इतनी अधिक मात्रा में होते हैं, कि, उनका सेवन करना मनुष्य के लिए सर्वथा हानिकारक होता है, और कई पदार्थ ऐसे हैं, जो यदि एक साथ सेवन किए जायं तो विरोधी गुणों को धारण करने के कारण हानिकारक सिद्ध होते हैं।

इस का विस्तार पूर्वक वर्णन करना तो मेरे लिए असम्भव है, किन्तु यथाशक्ति संक्षेप से कथन करने का यत्न करता हूं, जिस से मेरा भाव स्पष्ट हो सके।

माष की दाल और भिण्डी तोरी में वात का अंश अधिक होता है; चने, बैंगन और करेला इन में उष्णता अधिकांश में है, तैल, घृत, कचालू, घुयां (अरबी) के साथ जल को एक साथ सेवन करने से कफ प्रकृति वाले मनुष्य में, कफ का अंश बढ़ सकता है, माष और भिण्डी तोरी को नित्य सेवन करने

से वात प्रकृति के मनुष्य में वात का अंश बढ़ जायगा, और अरहर की दाल व बैंगण अथवा करेले का प्रति दिन आहार करने से पित्त प्रकृति प्रधान मनुष्य में, उष्णता की अति वृद्धि हो जायगी, यदि एक समय माष के साथ करेला और दूसरे समय चनों के साथ भिण्डी तोरी का आहार किया जाए तो हानिकारक नहीं होगा, यदि एक मनुष्य प्रातः काल भिण्डी और सायंकाल माष भक्षण करता रहे, तो शरीर में विकार पैदा करेगा, कई पदार्थ ऐसे हैं, जो सब मनुष्यों के लिए उपयोगी हैं, क्योंकि उनमें किसी गुण की अधिकता नहीं, जैसे दाल मूंग, कद्दू, धिया, टिण्डे इत्यादि, और कई अतीव उष्ण होने के कारण सामान्य प्रकृति के मनुष्य के लिए जो अपने मन की काम वासना को संयम में रखना चाहता है, सर्वथा त्याग देने के योग्य हैं, जैसे अद्रिक, प्याज़, लहसन, टोमाटर, मसूर की दाल इत्यादि, इसी प्रकार दही के साथ केला, दूध, किसी प्रकार की खटाई, मूली इत्यादि और दूध के साथ छाछ इत्यादि का सेवन हानिकारक हो सकता है।

इसके अतिरिक्त जो मनुष्य किसी पदार्थ को अतिमात्रा में सेवन करते हैं, वह स्वयं अपने शत्रु हैं, जैसा कि आमों इत्यादि के ऋतुकाल में एकही बार कई सेर आम भक्षण कर गए, या दूध पीने लगे तो एक दो सेर दूध पी गये, इनके थोड़ी मात्रा में सेवन करने से जो लाभ हो सकता है, वह अधिक-भोजियों को कहां प्राप्त हो सकता है ?

ऊपर के कथन से ज्ञात होगा, कि आयुर्वेदिक की पित्त या ऊष्णता वही है, जो डाक्टरों की परिभाषा में खाद्य पदार्थ के

उष्णांक (Clories of heat) कहे जाते हैं, भेद इतना है, कि उनकी सम्मति में सब खाद्य पदार्थ मिलकर यदि आवश्यक संख्या में उष्णांक बनाते हैं, तो वह मनुष्य के लिये उपयोगी हैं, और आयुर्वेद में विशेष २ पदार्थ स्वयं ही उपयोगी वा अनुपयोगी हो सकते हैं।

इस अध्याय के समाप्त करने से पहिले मैं पाठकों का ध्यान एक और पक्ष की ओर ले जाना चाहता हूं, जिसके अनुसार मनुष्य न केवल शाकाहारी और न केवल मांस भोजी है, मनुष्य का आहार दोनों का मिश्रण है, क्योंकि जहां मांसाहारी जीवों की भोजन प्रणाली अधिक छोटी है, वहां शाकाहारी पशुओं की अधिक लम्बी है, किन्तु मनुष्य की इन दोनों के मध्य में है, और इसके अतिरिक्त शाकाहार में कुछ त्रुटि और न्यूनता है, जो मांस का आहार करने से ही पूरी होती है, इसको मैं डाक्टर आर्नोल्ड लोरैंड के शब्दों में संक्षपमात्र नीचे उद्धृत करता हूं :—

"There is no article of food which more closely resembles our tissues than the meat of animals, and probably hardly any from which great amounts of albumin can be so easily absorbed and digested by our bodies. It is however not really because of its nutritive value that meat is so greatly sought after as a food, since quite a number of other food substances such as rice, possess even greater nutritive

qualities than meat; cheese and cereals in the form of porridge also contain large amounts of albumin. A major reason is no doubt presence of flavoring substances, which are very stimulating both for the digestion and general health; but the greatest value of meat lies in the fact that the quality of the albumin there in most nearly approaches that of our own tissues and even more so, in that, meat, especially certain kinds of it, is rich in cell nuclei, which play a roll of considerable importance in carrying on the process of life." (Health and Longevity through rational diet by Dr. Arnold Lorand, chap. IV. Page 109).

अर्थ—"ऐसा कोई भी भोज्य पदार्थ नहीं, जो इतना हमारे शारीरिक तन्तुओं से मिलता जुलता हो, जितना कि पशुओं का मांस और कठिनता से कोई और पदार्थ मिलना संभव है, जिस में से हमारा शरीर अलबूमिन (albumin-जैसे अण्डे की सफेदी) का इतनी मात्रा में सुगमता से पचाव तथा आत्मीकरण कर सके, वास्तव में मांस को आहार में सम्मिलित करने की बड़ी आवश्यकता इस लिए नहीं, कि वह शरीर का पोषण करने के लिए आवश्यक है, क्योंकि चावल के समान कई भोज्य पदार्थ इससे कहीं अधिक मात्रा में पोषक रस से युक्त हैं, पनीर, और दूध में पकाये हुये चावलों के समान पदार्थ भी अलबूमिन की बहुत बड़ी मात्रा से सम्पन्न हैं,

निस्सन्देह इसका मुख्य कारण यह है, कि इसमें ऐसे स्वादु तत्त्व विद्यमान हैं, जो कि पाचक विभाग और स्वास्थ्य को उत्तेजित करने वाले हैं, साथ ही मांस का सबसे बड़ा गौरव इस बात में है, कि इसके अलबुमिन में अधिकतर वही गुण पाये जाते हैं, जो प्रायः हमारे तन्तुओं के तुल्य हैं, और इससे भी बढ़कर मांस में, विशेषतः विशेष प्रकार के मांसों में, सेलों की अणुमींगी अति मात्रा में विद्यमान हैं, जो जीवन तन्तु को स्थिर रखने में परमावश्यक हैं।" (डा० लोरैण्ड)

अब नीचे मैं उसी डाक्टर की उक्त पुस्तक में से एक दो प्रमाण और उद्धृत करता हुं, जिससे पाठकों को ज्ञात होगा कि उक्त डाक्टर मांसाहार को मनुष्य के लिए इतना उपयोगी तथा आवश्यक प्रतीत करते हुए भी, मांस के दोषों को किस प्रकार वर्णन करते हैं:—

"An over generous meat diet may also give rise to diabetes probably through its influence upon the thyroid gland."

"The excretion of sugar resulting from over-activity of the thyroid is not only induced by large quantities of sugar or very starch foods, but also in the absence of carbohydrates when a meat diet is taken". (Page 54)

अर्थः—"परन्तु अधिक मांसाहार प्रायः चुल्लिका ग्रन्थि को प्रभावित करने से मधुमेह का रोग उत्पन्न कर देगा।"

"चुल्लिका ग्रन्थि के अधिक उत्तेजित हो जाने से शर्करा के शरीर से बाहिर निकलने का कारण केवल शर्करा तथा श्वेतसार प्रधान पदार्थों की अतीव मात्रा में उपस्थित ही नहीं, किन्तु इन की अनुपस्थिति में भी मांसाहार के कारण यह फल होता है।" (डा. लोरैण्ड)

अब उसी डाक्टर के शब्दों में मांसाहार तथा शाकाहार का मनुष्य के जीवन पर जो प्रभाव पड़ता है, उसको नीचे उपस्थित करता हूं :—

"The nations living principally upon vegetables are less prone to engage in warlike enterprizes; they like quiet and peace, and are espacially laking in initiative and energy. This need not surprize us, for it is precisely the albumin of all food substances the greatest promoter of energy, which is very sparingly represented in their aliments". (Page 15.

"While the nations living principally upon rice and other foods equally poor in nitrogen are lacking in energy and initiative; they possess an other characteristic in which they surpass all other nations, *viz*, their untiring capacity for work". (Page 16)

"An other advantage of a diet largely vege-

tarian lies in the fact that nervousness is in general less prevalent among people living upon such food than in those who are meat eaters". (Page 17).

'Violence, insolent attacks, offences against the person through passion, occur much more rarely among people almost entirely vegetarian than among those living upon meat. If the main objective point of progress of mankind were peacefulness and quiet, and the life in common—as in Paradise—of wild and tame animals, without mutual annihilation, an exclusively vegetarian diet would be the best way to attain this result. A quieting influence is exerted upon the mind by such diet, and violent criminals may be subdued by means of it. (Page 22 and 23).

अर्थः—"जो जातियां प्रायः शाकाहारी हैं, वह युद्ध इत्यादि के समान साहस के कामों में कम भाग लेती हैं, वह शान्त और क्षोभ रहित जीवन व्यतीत करना पसन्द करती हैं, और उन में विशेष रूप से उत्साह तथा व्यवसायात्मिक शक्ति की कमी है, इसके लिये हमें आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सब भोज्य पदार्थों में से उत्साह-जनक तत्त्व अल्बुमिन (एक प्रकार की प्रोटीन) है, जो कि उनके आहार में बहुत कम पाया जाता है।" (पृष्ठ १५)

"प्रत्युत वह जातियां जो मुख्यत: चावल और इसी प्रकार के दूसरे अन्न पर जीवन निर्वाह करती हैं, जिन में नत्रजन (Nitrogen) कम विद्यमान होता है, वह उत्साह तथा व्यवसायात्मिक शक्ति से शून्य होती हैं, किन्तु उन में एक गुण है, जिस में वह दूसरी सब जातियों को अतिक्रमण कर जाती हैं, और वह उन की काम करने की अनन्तशक्ति है।" (पृष्ठ-१६)

"शाकप्रधान आहार का एक और लाभ यह है, कि इस प्रकार के आहार पर जीवन निर्वाह करने वाले जनों में, मांसाहारियों की अपेक्षा, चेतना नाडियां बहुत कम उत्तेजित होती हैं।" (पृष्ठ-१७)।

"हिंसा, अनुचित आक्रमण, किसी के विरुद्ध कामात्मिक अत्याचार,यह मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारियों में अत्यन्त कम मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं, यदि मनुष्य की उन्नति का मुख्य उद्देश्य शान्ति, तथा क्षोभ रहित जीवन, और स्वर्गीय, हिंसक तथा अहिंसक, प्राणियों के तुल्य परस्पर नाश शून्य वास करना हो, तो केवल शाकाहार इस परिणाम को प्राप्त करने के लिए सब से उत्तम मार्ग है, इस प्रकार के भोजन से मन पर शान्त प्रभाव पड़ता है, और इस आहार के द्वारा हिंसक अपराधियों को वशीभूत किया जा सकता है" (पृष्ठ २२–२३)

उपरोक्त प्रमाणों पर किसी प्रकार की टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं, इन से उन बातों की पुष्टि होती है, जो इस से पहिले दोनों प्रकार के आहार का विवेचन करते हुये

इस अध्याय में प्रकट की गई हैं, किन्तु शाकाहारियों में जो उत्साह तथा साहस इत्यादि गुणों का अभाव बताया है, वह ऐतिहासिक घटनाओं और वर्तमान आहारसम्बन्धी वैज्ञानिक अन्वेषणों तथा अनुभवों के विरुद्ध प्रतीत होता है।

एक बात डाक्टर लोरेण्ड की अवश्य सत्य है, कि शाकाहारी शान्तिप्रिय होते हैं, यदि शान्तिप्रिय होना पाप है, तो मेरी हार्दिक इच्छा है, कि सब संसार इस प्रकार के पापियों से पूर्ण हो जाये, उनका यह कथन भी ठीक है, कि मांसाहारी किसी युद्ध इत्यादि में अग्रगामी नहीं होते, किन्तु यदि आत्मरक्षा का समय आजाये तो वह साहस, उत्साह और जीवन के बलिदान में तनिक संकोच नहीं करते, एक स्थान में उक्त डाक्टर लिखते हैं, कि हिन्दुओं की राजनैतिक परतन्त्रता भी इसी आहार का परिणाम है, किंतु वास्तव में देखा जाये तो इस परतन्त्रता के कारण कुछ और हैं, हमारे देश में भी ऐसे लोग हैं, जो हिन्दुओं के उन्नत होने के लिये मांसाहार आवश्यक प्रतीत करते हैं, मैं उन से भी मतभेद रखता हूं, हिन्दुओं की उन्नति का तात्पर्य मैं हिन्दु संस्कृति (Culture) के पुनरुत्थान में समझता हूं, और हिन्दु संस्कृति के पुनरुत्थान में केवल हिन्दुओं की नहीं प्रत्युत मनुष्यमात्र की उन्नति निर्भर है।

आहार का विषय जितना आवश्यक है, उतना ही संसार में इस के लिये मतभेद है, जिस पक्ष का मैंने इस अध्याय में प्रतिपादन किया है, कई विद्वान् इस से सहमत नहीं होंगे, किन्तु मैंने जिन बातों को सत्य प्रतीत किया है, या जो मेरे

अनुभव में लाभदायक सिद्ध हुई हैं, उन को यहां उपस्थित कर दिया है, और मेरा विचार है. कि यदि इन का अनुकरण किया जाये, तो लोग भिन्न २ प्रकार के रोगों से मुक्त होकर आनन्द-पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं, किन्तु कई बातें मैंने ऐसी भी लेखबद्ध की हैं, जिन का इस समय में क्रियात्मिक रूप में आना ही असम्भव प्रतीत होता है, और यदि हम उस प्रकार के भोज्यपदार्थ प्राप्त करना चाहें तो हमारा जीवन निर्वाह ही असम्भव हो जाये, किन्तु फिर भी यदि हम कुछ सावधान हो कर चलें, तो हम यथा सम्भव उत्तम से उत्तम आहार का प्रबन्ध कर सकते हैं, यदि हम उक्त प्रकार से खेती में धान्य इत्यादि पैदा नहीं कर सकते, तो हम यह तो कर सकते हैं, कि बाज़ार से पिसा हुआ आटा लेने के स्थान में, अच्छे से अच्छा गेहूं ख़रीद कर स्वयं मोटा आटा पिसा लें, और उत्तम से उत्तम दालें, शाक, तथा फल ख़रीदें, और घृत किसी ग्राम से शुद्ध तथा पवित्र प्राप्त करने के लिये स्वयं प्रबन्ध करें, जहां हमें निश्चय हो, कि इस में किसी प्रकार की मिलावट नहीं होगी, यदि हम भोजन मध्यान्ह के समय सेवन नहीं कर सकते, तो हम यह तो कर सकते हैं, कि हम दिन में केवल दो बार नियमपूर्वक भोजन करें, और अपने काम धन्दे के अनुसार भोजन का समय नियत करते हुये, आनन्द सहित इस को चबाकर खायें, इसी प्रकार दूसरी बातों में अपनी अनुकूलता के अनुसार परिवर्तन करके, हम यथोचित लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

भोजन को अत्यन्त उपयोगी बनाने के लिये यह भी आवश्यक है, कि हम प्रातः तथा सायंकाल इस का सेवन करने

के पश्चात् आध घण्टा बायें पक्ष पर लेट जायें, ताकि आमाशय का दबाव हृदय तथा फुफुस इत्यादि पर न पड़े, इस में रक्त भी आवश्यकता पूर्वक सुगमता से प्रवाहित हो सके, और आहार की पाचन क्रिया भी यथा योग्य हो सके, भोजन करने के कम से कम एक घण्टा पश्चात् हमें किसी प्रकार का कार्य आरम्भ करना उचित है, आहार सेवन करने के लिये सब से उत्तम पात्र कांसी तथा पीतल व भरत की धातु के हैं, पीतल तथा भरत के पात्रों को कलई करा कर प्रयुक्त करना चाहिये, एलुमीनिअम (Aluminium) के बर्तन अत्यन्त हानिकारक हैं, इसी प्रकार पत्थर के कोले (चाहे कितना भी शुद्ध किया हुआ हो), तथा सर्पिट (Spirit) इत्यादि की अग्नि पर भोजन बनाना भी स्वास्थ्य के लिये लाभकारी नहीं है, भोजन करने से पहिले यदि मुख तथा हाथ पैर धो लिये जायें, तो मनुष्य का मन शान्ति प्रतीत करता है, और इस के पश्चात् यदि मूत्र विसर्जन कर दिया जाये, तो गुर्दे का रोग प्रायः नहीं होता, और पाचन क्रिया भी सुगम हो जाती है, भोजन के पश्चात् यदि चलना हो तो धीरे २ चलना लाभकारी होगा।

उपरोक्त सब नियम मनुष्य सामान्य जीवन व्यतीत करते हुये ही जीवन में धारण कर सकता है, किन्तु आपतकाल के समय मनुष्य को कभी इन नियमों का भंग करना भी पड़ जाता है, इस के अतिरिक्त विशेष प्रकार के रोग में मनुष्य को इस में यथोचित परिवर्तन करना पड़ता है, और जहां इन नियमों का पालन करना ही असम्भव है, वहां उस देश तथा अवस्था के अनुसार यथासंभव इन को जीवन में धारण करने का यत्न होना चाहिये।

मल विसर्जन (Evacuation.)

प्राय: लोग मल विसर्जन को इतना आवश्यक प्रतीत नहीं करते, जितना कि भोजन सेवन करने को, दिन में चाहे कितनी बार खाते रहें, यदि एक बार कुछ मल शोधन हो जाये तो उन के लिये पर्याप्त है, इस विषय में कई लोग कहा करते हैं कि, "एक बार योगी, दो बार भोगी, तीन बार रोगी", उन के विचार में कोई मनुष्य दिन में खाता चाहे कई बार रहे, यदि एक बार उस के मल की निवृत्ति हो जाये तो वह योगी है, किन्तु मैं समझता हूं, कि योगी वह है, जो मिताहार करता हुआ पूर्णतया मल का शोधन करता है, चाहे वह दो बार में हो या तीन बार में, क्योंकि योगी का मलविसर्जन दो बार तो स्वयमेव होगा,और एक दो बार योगिक क्रिया द्वारा रहे सहे मल का भी शोधन हो जायगा, योग के आसन तथा प्राणायाम आदि का अभ्यास न करते हुये मिताहारी जनों को, प्रात: व सायंकाल, दो बार अवश्य ही मल की शुद्धि होनी उचित है।

मनुष्य का आहार लगभग एक घण्टा पीछे क्षुद्रान्त्र के प्रथम विभाग (पक्काशय) में धीरे २ जाने लगता है, वहां से इस के मध्यम व अन्तिम विभाग में क्रमानुसार प्रवेश करता जाता है, जब चार पांच घण्टे में आमाशय आहार शून्य हो जाता है, तो उस समय आहार रस से पृथक हुआ २ मल क्षुद्रान्त्र के अन्तिम विभाग से पतले विष्ठे के रूप में बृहद् अन्त्र के

प्रथम विभाग में प्रवेश करना आरंभ करता है, और चार पांच घण्टे तक करता रहता है, यहां विष्ठा में से जल का अंश धीरे २ सूखते हुये मल बृहद्-अन्त्र के भिन्न २ भागों से होता हुआ जब लग भग तीन घण्टों में वस्तिगह्वर में पहुंचता है, तो कुछ गाढ़ा हो जाता है, यहां से इस की गति अत्यन्त धीरे २ होती है, और जल के अंश को सूखने के लिये भी यहां अधिक अवसर मिलता है, यहां से मलाशय में पहुंचने के लिये इस को प्राय: पांच छै घण्टे लगते हैं, और यहां पहुंचते २ यह बहुत गाढ़ा हो जाता है, यह समय मनुष्य की प्रकृति और भोजन के प्रकार के अनुसार न्यून अधिक भी हो जाता है, जब विष्ठा मलाशय में पहुंचता है, तो उस समय मनुष्य को मल निवारण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है, यदि उस समय इस को रोका जाये, तो जितना दीर्घकाल तक रुका रहेगा उतना ही अधिक कठिन होता जायगा, और उस में सड़ान्द बढ़ती जायगी, जिस से कब्ज़ी का प्रादुर्भाव होगा, और कई प्रकार के रोग उत्पन्न होंगे।

यदि मनुष्य दिन के बारह बजे और सायंकाल आठ बजे भोजन करे, तो उस को प्रात: व सायंकाल चार से छै बजे तक मल शोधन कर लेना चाहिये, किन्तु लेटे हुये या बैठे हुये मनुष्य को इस के लिये आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी, उठ कर खड़े होने पर ही कुछ दबाव पड़ने से मल को निवृत्त करने की इच्छा होती है, परन्तु जो जन अधिक सोया रहे या बैठा रहे, उस का विष्ठा मलाशय में पड़ा रहने से शुष्क होता जायगा, जिस का परिणाम यह होगा,

कि उस के मल शोधन में जितना विलम्ब होगा, उतना ही अधिक वह कब्ज़ी को अनुभव करेगा, यही कारण है, कि हिन्दुओं में प्रातःकाल जागृत होने की महिमा और दिन को सोने की निन्दा की गई है, जो लोग प्रातःकाल उठकर कब्ज़ी को दूर करने के लिये जल पान करते हैं, उन पर उस का प्रभाव यथोचित नहीं होगा, रात्रि को सोने से पहिले और दिन को कई बार जल पान करने से तो यह लाभ हो सकता है, कि उस जल का कुछ अंश बृहद्-अन्त्र में प्रवेश करके, मल को गीला रखने में कुछ सहायता करे. यह प्रभाव तत्काल नहीं पड़ सकता, हां जल पीने से आन्तों पर कुछ प्रभाव पड़ने से हो सकता है, कि कुछ नाम मात्र प्रभाव पड़ सके, किन्तु यह पूर्ण उपयोगी नहीं होगा, जो लोग बहुत दिन चढ़े जागने वाले हैं, उन पर रात्रि को जल पीने का भी प्रभाव नहीं पड़ सकेगा, और वह प्रायः कब्ज़ी में ग्रस्त रहेंगे, एक ही स्थान में घण्टों लगातार बैठे रहने या खड़े रहने से भी यही प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि इस से हमारी पाचन क्रिया यथोचित न होने के कारण मल का शोधन भी पूर्ण रीति से होना कठिन होगा।

मल निवृत्ति का स्थान नगर या ग्राम के बाहिर खुली वायु में इतनी दूरी पर होना चाहिये, जिस से नगर वासियों पर उस का बुरा प्रभाव न पड़ सके, बड़े २ नगरों में जहां यह कठिन है, वहां घरों में मल विसर्जन के स्थान ऐसे हों, जो खुली वायु तथा प्रकाश युक्त हों, जिनका शोधन भी पूर्ण रीति से होता रहे, ताकि लेशमात्र भी वहां दुर्गन्ध प्रतीत न हो, और

घर में एक न्यारे स्थान में बनाये जायें, इन के एकत्रित मल को दूर किसी ऐसे स्थान में और इस प्रकार से फैंकने का प्रबन्ध किया जाये, जिस से इस का प्रभाव लोगों पर न पड़ सके, इस मल को नदी या खेतों इत्यादि में डालना हानिकारक है, फ्लश की विधि (Flush System) बहुत लाभकारी प्रतीत होती है, और इस से सण्डास में भी किसी प्रकार की दुर्गन्ध प्रतीत नहीं होती, किन्तु नलों के भूमि के भीतर रहने के कारण मल का इस प्रकार पूर्ण शोधन नहीं हो सकता, जैसा कि सूर्य की किरणों द्वारा भूमि के नीचे ऐसे ही पड़े रहने से, इसका शोधन हो सकता है, मल विसर्जन के लिये जो अंग्रेज़ी ढंग के शौच कूप (Water closet) वर्ताव में लाये जाते हैं, जिन पर मनुष्य कुरसी के समान बैठ कर मल विसर्जन करता है, वह अत्यन्त हानिकारक हैं, इस को मैं नीचे लिखे प्रमाण द्वारा पाठकों के सन्मुख प्रकट करने का यत्न करता हूं :—

"The weakest part of the abdominal wall is that part just above each groin-in that part where ruptures usually occure. In the natural squatting position the upper front aspects of the thighs are pressed against and give splendid support to these weak places, thereby tending to prevent the occurrence of rupture. In the modern w. c. the body is at a right angle with the thighs, and the belly unsupported by them".

(The Culture of the Abdomen by Hornibrook, Page 55).

अर्थ :—"उदर का सब से निर्बल भाग प्रत्येक उरु-संधि के ऊपर विद्यमान है, जहां कि प्रायः भेद उपस्थित हो जाते हैं, स्वभाविक अवस्था में उत्कट आसन के समान पैरों पर बैठे हुये, उरुओं के ऊपर के भाग का उदर पर दबाव पड़ने से, यह निर्बल स्थान सुरक्षित रहते हैं, जिस से वहां भेद उत्पन्न होने नहीं पाते, वर्तमान काल के शौच-कूप में शरीर का ऊपर का भाग उरुदेश पर समकोण रेखा में स्थित होने के कारण, उदर का भाग आश्रय रहित रहता है"। (हार्णब्रुक)

"It is no overstatement to say that the adoption of the squatting attitude would in itself help in no small measure to remedy the greatest physical vice of the white race, the constipation that has become a contentment". (ibid. Page 56).

अर्थ :-यह कथन करना अत्युक्ति न होगी कि उत्कट अवस्था की स्थिति पश्चिमी जातियों के सब के बड़े शारीरिक दोष को दूर करने में अत्यन्त सहायकारी सिद्ध होगी— अर्थात् उनकी कब्ज़ा को जोकि उन के लिये सन्तोष जनक बन गई है"। (हार्णब्रुक)

इस शौच-कूप का प्रयोग मनुष्य की अन्त्र-स्रंस अथवा हर्निया (Hernia) की व्याधि का भी मुख्य कारण है, इस से स्पष्ट सिद्ध होता है, कि शौच निवृत्ति का ढंग जो प्राचीन

समय से भारतवर्ष में चला आता है, वही सब से उत्तम तथा उपयोगी है।

शौच के निवृत्त होने के पश्चात् जल से गुदा को भलि भान्ति शुद्ध करना उचित है, केवल बाहिर से ही नहीं, प्रत्युत हाथ की अंगुली गुदा के भीतर डाल कर जल का प्रयोग करते हुये, भीतर से भी शुद्ध करना आवश्यक है, और मूत्र मार्ग को भी बाहिर तथा भीतर से जल द्वारा शुद्ध करना योग्य है, जिस समय भी मूत्र किया जाये, उसी समय मूत्र मार्ग को जल से शुद्ध करना चाहिये, मूत्र तथा मल विसर्जन करने की जब भी इच्छा प्रतीत हो, उस की निवृत्ति में तनिक भी विलम्ब नहीं होना चाहिये, अन्यथा कई प्रकार के रोग उत्पन्न होने का भय होगा।

दन्तधौति (Purification of the teeth)

मनुष्य के दान्त उस की शोभा बढ़ाने के अतिरिक्त भोजन की पाचन क्रिया में एक आवश्यक भाग लेते हैं, इस लिये योग इन के शोधन पर भी आवश्यक ध्यान देता है, इस की दृष्टी में दन्तधौति में दान्त, कण्ठ, जिह्वा, और काणों का शोधन भी सम्मिलित है।

दन्तशोधन—प्रातःकाल चार और पांच बजे के मध्य में जागृत हो कर, और मलशोधन से निवृत्ति प्राप्त करके, मनुष्य फ्लाहा, किक्कर, तेजबल, व खादिर इत्यादि पूति-नाशक (anti-ceptic) वृक्षों की १२ अङ्गुल के करीब लम्बी, दातुन का सिरा बारीक चबा कर रखले, जल का भरा हुआ पात्र भी पास रखा हो, एक रत्ति भर घर का बारीक पिसा हुआ पञ्जाब का श्वेत नमक और छे माशे शुद्ध कच्ची घानी का सरसों का तैल मिला कर, अपने दायें हाथ के अंगूठे तथा इस के साथ की अंगुली से दान्तों के बाहिर व भीतर तथा मसूड़ों पर धीरे २ दबा कर मले, और दो चार बार, जल का एक २ घूण्ट मुख में डाल कर, दान्तों का मर्दन करे, इस के पीछे दो माशे तैल में उस दातुन के बारीक चबाये हुये भाग को भगो कर, दान्तों के भीतर तथा बाहिर मले, और पहिले के समान जल का सेवन करते हुये दातुन से दांतों को एक २ करके भीतर तथा बाहिर से धीरे २ दबाव डालते हुये शुद्ध

करे, जब दान्त भलि भान्ति शुद्ध हो जायें, तो उसी दातुन के चबाये हुये सिरे को धोकर और झाड़कर उस की तारों को एकत्र करके, धीरे २ जहां तक होसके कण्ठ के भीतर ले जाकर उसको भीतर व बाहिर गति देते हुये जिह्वा पर दबाव डाले, इस से कण्ठ में से विरस अशुद्ध जल व कफ निकलने लगेगा, और यदि आमाशय में भी कुछ मल होगा तो उस का भी शोधन हो जायगा, जो जन दातुन को कण्ठ के भीतर ले जाकर आमाशय में से कड़वा जल निकालते हैं, वह वास्तव में जिगर के पित्त को बाहिर निकाल कर पाचक शक्ति को कम करते हैं, यह कण्ठ शोधन की क्रिया दातुन को बाहिर निकाल कर और प्रत्येक बार धोकर, दो चार बार करनी चाहिये, इसके पश्चात् दातुन को चीर कर दो टुकड़े करके, व उसके प्रत्येक टुकड़े के सिरे को जिह्वा पर धीरे २ मलकर उसका शोधन करे, फिर जल को मुख में डाल कर ऊपर मुख करते हुये कण्ठ को बन्द करके दो चार बार गरारे करे, और अन्त में प्रत्येक हाथ की सब से छोटी अङ्गुली को जल से गीला करके, उस के द्वारा कर्ण के छिद्र को यथा संभव भीतर से शुद्ध करे, यह सब क्रम योग की परिभाषा में दन्तधौति कहलाता है।

दान्तों की पूर्ण रक्षा करने के लिये भोजन इत्यादि सेवन करने से पहिले तथा पश्चात, अङ्गुलियों से जल द्वारा दान्तों को भीतर तथा बाहिर से दबाव डालते हुये मलकर दो चार बार शुद्ध किया जाये, जब कभी भी कोई खाद्य पदार्थ (फल, दूध इत्यादि) भक्षण किया जाये, उसी समय दान्तों का जल द्वारा शोधन होना

चाहिये, नहीं तो धीरे २ दान्त ख़राब होकर उन में कीड़ा इत्यादि लगने तथा पीप इत्यादि पड़ने के रोग पैदा होजायेंगे।

गरम भोजन पर शीतल जल सेवन करने से लोग जहां दान्तों को निर्बल कर लेते हैं, वहां कण्ठ के रोग में ग्रस्त हो जाते हैं, चूने तथा कत्थे से युक्त पान खाने तथा तमाकु व अधिक मीठा सेवन करने से भी दान्त दूषित हो जाते हैं।

यदि उक्त प्रकार से दातुन का नित्य सेवन किया जाये तो दान्तों तथा कण्ठ के रोग प्रायः दूर हो जाते हैं, कफ के रोग से भी साधारण अवस्था में निवृत्ति हो जाती है।

जो लोग कई प्रकार के दान्तो के चूर्ण (tooth-powder) और दन्त-कूर्चन (brush) इत्यादि का प्रयोग करते हैं, उन के दान्त बाहिर से तो बड़े शुद्ध दिखाई देते हैं, किन्तु इन से धीरे २ प्रभाव पड़ते हुये दन्त-वेष्ट (enamel) जाता रहता है, दान्त हिलने लगते हैं, और उन में कई प्रकार के दोष आजाते हैं, जिन्हों ने इनका कई वर्ष लगातार प्रयोग किया हो, वह इसके दुष्परिणाम को अनुभव कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं कि जिनके दांत अशुद्ध हो चुके हों, वह इनको सेवन करने से लाभ प्रतीत करते हैं, किन्तु समय व्यतीत होने पर उनको इनकी हानि का ज्ञान होता है, कूर्चन में एक दोष यह भी है, कि उसी एक को प्रतिदिन प्रयोग में लाना पड़ता है, परन्तु

दातुन को हम प्रतिदिन नई व ताज़ी प्राप्त कर सकते हैं, कूर्चन से मसूड़ों, कण्ठ तथा जिह्वा इत्यादि का शोधन नहीं हो सकता, परन्तु दातुन तथा लवण मिश्रित तैल का प्रयोग इनके लिये भी उपयोगी है, विशेष २ प्रकार की दातुन जो दन्त-शोधन के लिये सेवन की जाती है, वह पूति-नाशक भी है, किन्तु दन्त-कूर्चक में यह गुण नहीं, इस के साथ जो लेप(Paste) इत्यादि का प्रयोग किया जाता है, उन के लिये कहा जाता है, कि वह पूतिनाशक हैं, किन्तु दीर्घकाल का अनुभव इस के विपरीत सिद्ध होता है।

मैंने अपने अनुभव से जो लाभ, लवण, सरसों के तैल और दातुन को उक्त प्रकार से सेवन करने में प्रतीत किया है, वह किसी दूसरे प्रकार से नहीं हुआ, मेरे दो तीन दान्त कीड़ा लगने से झड़ गये थे, जब से मैंने इस का प्रयोग आरम्भ किया है, इस के पीछे अब तक मुझे कई वर्ष हो गये कुछ हानि नहीं हुई, इस लवण मिश्रित तैल को हाथ की अङ्गुली व अङ्गूठे के द्वारा मसूड़ों के भीतर तथा बाहिर की ओर भी मलना आवश्यक है, क्योंकि दान्तों के रोग प्रायः मसूड़ों के द्वारा उत्पन्न होते हैं, इन पर लवण व तैल मलने से दान्तों के रोगों का भय नहीं रहता, दातुन का प्रयोग करते हुये भी जो दान्त ख़राब हो जाते हैं, इस का कारण यह है, कि तैल व लवण का मसूड़ों पर प्रयोग नहीं किया जाता।

मैंने यह भी अनुभव किया कि अधिक मात्रा में नमक लगाने से दान्त भुरभुरे होने लग जाते हैं, इस लिये इस को अत्यन्त थोड़ी मात्रा में तैल में मिला कर प्रयुक्त करना चाहिये, और इसके बुरे प्रभाव को नष्ट करने के लिये इस के पीछे यथोक्त प्रकार से तैल में लिथड़ी हुई दातुन का सेवन करना उचित है, बाज़ार से शुद्ध तैल मिलना कठिन है, इसलिये स्वयं पीली सरसों का तैल अपने निरीक्षण में निकलवा कर सेवन करने से ही पूर्ण लाभ हो सकता है।

स्नान (Bath.)

मनुष्य की त्वचा द्वारा निरन्तर निकलने वाले विष को सब से अधिक मात्रा में बाहिर निकलने का अवसर निद्रा की अवस्था में प्राप्त होता है, क्योंकि इस दशा में शरीर को, अत्यन्त निश्चेष्ट होने के कारण, शारीरिक क्षय की पूर्ति करने का पूर्ण अवकाश मिलता है, जिस से बहिष्करण और आत्मीकरण पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं, इस लिये जब मनुष्य प्रातःकाल जागृत होता है, तो उस को शौच तथा दन्तधावन से निवृत्त होने के पश्चात् त्वचा की शुद्धि के लिये नित्य स्नान करना भी परमावश्यक है, सब से उत्तम लाभ कूप अथवा स्रोत के ताज़े तथा शुद्ध जल से स्नान करने का है, शीतकाल में इन का जल उष्ण-प्राय शीतल, और ग्रीष्म ऋतु में शीतल होता है, जो आनन्द इस जल में प्रतीत होता है, वह किसी दूसरे में नहीं, शीत ऋतु में गरम जल से स्नान करने की अपेक्षा शीतल जल का स्नान अत्युत्तम, लाभदायक और मनोरञ्जक है, ठण्डे जल में स्नान करने से जहां मनुष्य में सहन शीलता बढ़ती है, वहां स्नान करने के पश्चात् शीत का प्रभाव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि त्वचा के कम हुये २ तापपरिमाण को उस की पूर्व दशा में लाने के लिये रक्त का प्रवाह वहां अधिक मात्रा में आने लगता है, जिस के लिये हृदय, फुफुस तथा चेतना नाड़ियों के चेष्टायुक्त होने से मनुष्य शरीर में साहस तथा ओज प्रतीत

करता है, त्वचा विष से शुद्ध हो जाती है, रोम खुल जाते हैं, मनुष्य शरीर में हलकापन तथा प्रसन्नता अनुभव करता है, किन्तु गरम जल से स्नान करने के पश्चात् मनुष्य अधिक शीत, सिर पर कुछ दबाव, और शरीर में कुछ भारीपन सा प्रतीत करता है, अत्यन्त शीतल तथा धूली इत्यादि युक्त जल में स्नान करना भी हानिकारक है, साबन का प्रयोग करने के साथ सरसों का शुद्ध तैल भी लगाना उचित है, भिन्न २ प्रकार के सुगंधित तैल लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि वह सरसों के तैल के समान त्वचा को कोमल रखने वाले तथा विष घातक नहीं।

स्नान करते हुये शरीर का यथोचित मर्दन करना, और इसके पश्चात् शुद्ध वस्त्र द्वारा शरीर को पूर्ण रीति से सुखा कर वस्त्र धारण करना कल्याणकारी होगा।

यदि कूप अथवा स्रोत का जल प्राप्त न होसके तो मनुष्य यथा संभव शुद्ध जल का सेवन करे, नदी इत्यादि के खुले जल में भी स्नान करना तथा तैरना अच्छा है, यदि उसमें मल इत्यादि मिले हुये न हों, किन्तु यदि कोई व्याधि में ग्रस्त हो, या निर्बल हो, तो उस को अपनी शारीरिक अवस्था के अनुसार स्नान करना अथवा न करना योग्य है, बालकों को भी स्वस्थावस्था में ठण्डे जल से स्नान करना लाभदायक है।

वर्तमान काल में मनुष्य के शरीर को वायु तथा प्रकाश का सेवन करने का समय नहीं मिल सकता, इस लिये उस को वायु स्नान (Air-bath) तथा सूर्यस्नान

(Sun-bath) कराये जाते हैं, ताकि वह अपने शरीर को नग्न करके प्रति दिन किसी समय वायु तथा सूर्य के प्रकाश को भी कुछ समय के लिये शरीर के साथ पूर्ण रीति से स्पर्श करने का अवसर प्रदान करे, किन्तु प्राकृतिक अवस्था में जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य को इस की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उस का जीवन ही अधिकतर खुली वायु तथा प्रकाश में व्यतीत होता था, जैसा कि इस समय भी प्रायः ग्राम के लोगों में दृष्टिगोचर होता है।

वेष तथा स्वास्थ्य

(Dress and health).

मनुष्य के स्वास्थ्य पर वेष का एक विशेष प्रभाव पड़ता है, यह मानवी सभ्यता का मुख्य भाग बन गया है, नग्न रहने वाला मनुष्य असभ्य समझा जाता है, किन्तु इस में संदेह नहीं हो सकता, कि जब से इस ने वस्त्र धारण किये, इस की शारीरिक शक्ति तथा ओज धीरे २ कम होते गये, और अब यह बिना वस्त्रों के निर्वाह नहीं कर सकता, गरमी तथा सर्दी को सहन करने की शक्ति इस में बहुत कम है, और वस्त्र जो शरीर को शीत तथा उष्णता से बचाने के अभिप्राय से धारण किये गये थे, इस समय समाज की मर्यादा को पालन करने के उद्देश्य, व अपने सौंदर्य को बढ़ाने के भाव से पहिने जाते हैं, स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से धारण नहीं किये जाते।

शारीरिक स्वास्थ्य को सन्मुख रखते हुये यदि वस्त्र धारण किये जायें, तो मनुष्य के ध्यान में मुख्य बात यह होनी आवश्यक है, कि शरीर के सब भागों में बिना रोक टोक वायु का यथोचित स्पर्श होसके, जिस से शरीर से निरन्तर बहने वाले पसीने को वायु के स्पर्श से बाहिर निकलने और त्वचा को वायु के सेवन करने का पूर्ण अवसर निरन्तर प्राप्त होता रहे, इस के साथ ही सूर्य के प्रकाश का भी यथायोग्य

स्वस्थ प्रभाव पड़ता रहे, यह लाभ तभी प्राप्त हो सकता है, यदि मनुष्य के धारण करने के वस्त्र जहां ढीले और खुले हों, वहां इतने कम हों, कि उन से शरीर को ढांपा जा सके और वायु के लिये भी किसी प्रकार की रुकावट न हो, उस मनुष्य की क्या गति होगी, जो जुराबों, बूट, पतलून, बमयान, कमीज़ (पतलून के भीतर घुसी हुई), वासकट, कोट, टाई और कालर इत्यादि से शरीर को भूषित किये हुये, त्वचा के साथ वायु को स्पर्श करने के लिये लेश मात्र अवकाश ही नहीं छोड़ता, गरमी हो या सरदी, उस का यही वेष है, वह मानों त्वचा को अपने आहार से वञ्चित रखता है, जिस से उस का वर्ण फीका पड़ जाता है, शरीर के बाल निर्बल होजाते हैं, पसीने का विष त्वचा पर लगे रहने से रोम प्रायः बन्द हो जाते हैं, ग्रीष्म ऋतु में अधिक मात्रा में पसीना निकलने के कारण जुराबों और बूटों के भीतर बन्द हुई २ पैरों की अंगुलियां प्रायः कई लोगों की गल जाती हैं, प्रतीत होता है, कि मनुष्य ने स्वयं शरीर को बन्दीगृह में डाल रखा है, शीत काल में तो वस्त्रों का बोझ और भी अधिक हो जाता है, और इस को जीवन के लिये परमावश्यक समझा जाता है, परन्तु वास्तव में मनुष्य का शरीर दिन प्रति दिन निर्बल तथा ओज रहित होते जाने के कारण, शीत इत्यादि को सहन करने के असमर्थ होता जाता है, इतने वस्त्र धारण करने पर भी इसको अग्नि तापने की आवश्यकता होती है, ग्रीष्म ऋतु में वह धूप को सहन नहीं कर सकता, तनिक धूप में चलना पड़े तो उसका मन घबराता है, पंखे तले भी कई अवस्थाओं में घबराने लगता है,

इसके अतिरिक्त लाखों और क्रोड़ों रुपये मनुष्य की आवश्यकता से अधिक वस्त्र इत्यादि में व्यर्थ नष्ट हो रहे हैं।

मनुष्य को शीत तथा उष्णता से रक्षा करने वाली, और इन को सहन करने की शक्ति पैदा करने वाली वस्तु इस के शरीर में ओज के रूप में प्रकृति ने प्रदान की है, किन्तु वह इसको सुरक्षित करने के स्थान में केवल वस्त्र इत्यादि धारण करने में ही अपना कल्याण अनुभव करता है, और वह भी इतनी अधिक मात्रा में और इस ढंग से, कि जो इसके शरीर को लाभदायक होने के स्थान में हानिकारक सिद्ध हो रहे हैं, संसार में असंख्य ऐसे जन हैं, जिन को धारण करने को उनकी आवश्यकता के अनुसार भी वस्त्र प्राप्त नहीं होते, और वह अधिक स्वस्थ अवस्था में दृष्टिगोचर होते हैं।

मनुष्य का ओज उस की वीर्य रक्षा में गुप्त है, यदि वह इस की यथोचित रक्षा कर सके, तो उसको अधिक वस्त्र धारण करने की भी आवश्यकता न रहे, और वीर्य रक्षा के लिये मुख्य साधन योगाभ्यास की ठीक विधि है, जैसाकि इस पुस्तक में अपने अनुभव के आधार पर वर्णन किया गया है।

मेरे विचार में स्त्री तथा पुरुष के लिये सब से उपयोगी वेष यह है कि एक खुला कुड़ता वा क़मीज़ ऊपर के भाग के लिये, और एक धोती नीचे के भाग के लिये, पैरों में लकड़ी की या स्वयं मरे हुये पशु के चर्म की चप्पली (Sandals) बिना जुराबादि के पहिनी जाये, यदि बहुत ही अधिक शीत हो, तो ऊपर से एक मोटी चादर ओढ़ ली जाये, स्त्री के सिर पर धोती और पुरुष का सिर नंगा



The author in his usual dress.

रहे, या आवश्यकता पर हल्की सी पगड़ी धारण कर ली जाये।

वस्त्र यदि रुई के मोटे सूत्र के श्वेत वर्ण के धारण किये जायें, तो सब से लाभदायक सिद्ध होंगे, यह मनुष्य की, शीत तथा ग्रीष्म, दोनों अवस्थाओं में रक्षा कर सकते हैं, और मैंने इस बात को अपने अनुभव द्वारा प्रतीत किया है, कि जहां मुझे शीतकाल में बड़े २ गरम वस्त्र धारण करते हुये भी शीत लगता था, और सूक्ष्म वस्त्रों के पहिनने पर भी गरमी कष्ट देती थी, अब सदा एक ही प्रकार के वस्त्रों में आनन्द रहता है, अत्यन्त शीत हो जाये तो ऊपर से एक चादर ओढ़ लेता हूं, नहीं तो इनहीं वस्त्रों में रहता हूं, जैसा कि सन्मुख के चित्र से प्रतीत होता है इस के अतिरिक्त मेरे पैरों में लकड़ी की चपली होती है, इसी अवस्था में बड़े २ शीत प्रधान पहाड़ी प्रदेशों में भ्रमण करने का भी अवसर होता रहता है।

इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है, कि इस वेष में मनुष्य में फुरतीलापन नहीं हो सकता, किन्तु मैं तेज़ चलने में और काम करने में इससे कोई रुकावट प्रतीत नहीं करता, और ऐसा ही तेज़ी और फुरती से काम कर सकता हूं, जैसा कि दूसरे प्रकार के वेष में, और यदि आसन इत्यादि का अभ्यास करने के समान विशेष प्रकार का काम करना हो, तो इस प्रकार का कछेरा पहिन लेता हूं, जैसा कि आसनों के चित्रों में दृष्टि गोचर होता है, जिन पुरुषों के काम धन्दे इस प्रकार के हों, कि धोती उन के कार्य

में बाधा डालती हो, वह इस के स्थान पर कछैरे का प्रयोग कर सकते हैं।

भारतवर्ष में प्रायः उक्त प्रकार का वेष अत्यन्त अनुकूल हो सकता है, और दूसरे देशों के लोग भी आशा है, कि इस को अपनाने में कठिनाई प्रतीत नहीं करेंगे, यदि किसी प्रकार से उन को अनुचित प्रतीत हो, तो कम से कम वह अपने २ वेष को इस प्रकार का बनायें, जो स्वास्थ्य की दृष्टि से लाभकारी हो, और इस पर अधिक व्यय करने की भी आवश्यकता न पड़े, स्वस्थ बालकों को एक लम्बा तथा खुला कुड़ता धारण कराना पर्याप्त होगा, नग्न रहें तो उस से भी उत्तम है।

नेत्र-रक्षा

The Protection of eyes.

नेत्रों के दोष जितने शिक्षित-वर्ग में दृष्टिगोचर होते हैं, उतने अशिक्षित वर्ग में दिखाई नहीं पड़ते, ग्रामीण लोगों की अपेक्षा नगर वासियों में प्रायः इस प्रकार के रोग अधिक पाये जाते हैं, मैं यहां केवल संक्षेप से उनके कारणों का वर्णन करते हुए कुछ साधारण बातें निवेदन करूंगा, जिन पर आचरण करने से हम अपने नेत्रों को सुरक्षित रख सकते हैं।

स्कूल, कालेज, दफ़्तर तथा घर में बैठे पढ़ने लिखने का काम करते हुए हमारी दृष्टि लगातार पत्रों तथा पुस्तकों पर लगी रहती है, जब कभी दृष्टि उठती भी है, तो समीप की दीवार पर पड़ती है, इस प्रकार प्रायः समीप ही देखते रहने से नेत्र की दूर देखने की शक्ति धीरे २ कम हो जाती है, यदि हम जहां तक हो सके खुली वायु में पढ़ने लिखने का काम करें, कमरे के भीतर भी इस प्रकार से बैठें, कि हमारी दृष्टि दीवार पर अटकने के स्थान पर बाहिर दूर तक जा सके, थोड़ी २ देर पीछे नेत्रों को उठाकर दूर तक देखें. इस प्रकार यदि हरे २ वृक्षों पर भी हमारी दृष्टि पड़ती रहे, तथा नेत्रों को अधिक बार फरकने का अवसर देते रहें, और जब शिर पर वा नेत्रों पर लेश मात्र भी दबाव प्रतीत हो, तब पढ़ना लिखना बन्द करके

एक दो क्षण नेत्रों को बन्द रक्खें, तो हम प्रायः इस प्रकार के रोगों में ग्रस्त नहीं होंगे।

जो लोग घण्टों ही नेत्रों को लगातार पढ़ने, लिखने, सीने परोने इत्यादि कामों में लगाए रखते हैं और बीच में उनको किसी प्रकार का विश्राम नहीं देते, उनको चाहिए कि वह जब नेत्रों पर बोझ प्रतीत करें,तो उनको उतने समय तक विश्राम दें,जब तक कि वह बोझ दूर न हो ले,इस के अतिरिक्त लोग उदर, पृष्ठ या किसी पक्ष (side) पर अथवा तिरछे लेटे हुए नेत्रों को लिखने पढ़ने के कार्य में प्रयुक्त करते हैं, वह यदि काम करते हुए किसी प्रकार की शरीर में थकावट प्रतीत करें, तो लेटे हुए नेत्रों से कार्य लेने के स्थान पर, कुछ समय शरीर को विश्राम देकर श्रान्ति दूर हो जाने पर काम करना आरंभ करें, साथ ही सिर और गर्दन को अधिक नीचे झुका कर पढ़ने लिखने इत्यादि का काम करने के स्थान पर पुस्तक इत्यादि को ऊपर उठाकर काम करें, और शिर को जितना उचित हो ऊपर उठाकर पीठ को सीधी रक्खें, तो वह नेत्रों को सुरक्षित रख सकते हैं।

नेत्रों की शक्ति का स्रोत, मनुष्य के मस्तिष्क में, इन से संबंध रखने वाली चेतना नाड़ियां है,उनकी निर्बलता तथा शक्ति पर नेत्रों की निर्बलता तथा शक्ति निर्भर है, और इन नाड़ियों की शक्ति स्त्री पुरुष के ब्रह्मचर्य पर आश्रित है,जिन मनुष्यों का किसी प्रकार से वीर्य व्यर्थ नष्ट होता रहता है, उनको उसका प्रभाव सबसे प्रत्यक्ष नेत्रों पर प्रतीत होने लगता है, जब कि उनके नेत्रोंमें गढ़े पड़ने लगते हैं,नेत्र भीतर घुसने आरंभ हो जाते हैं,और

दृष्टि निर्बल होती जाती है, जो मनुष्य अपने नेत्रों की रक्षा करना चाहता है उसके लिये ब्रह्मचर्य की रक्षा अत्यन्तावश्यक है।

ऐसे प्रकाश में पढ़ना लिखना उचित है, जो न धीमा हो और न ही तीव्र हो, सूर्य के प्रचण्ड और बिजली के तीव्र प्रकाश में काम करना जैसे नेत्रों के लिए हानिकारक है, वैसे ही कम प्रकाश भी दोष पैदा करता है, जिस प्रकाश में नेत्र घबरा जायें या उनको अधिक परिश्रम करना पड़े, उससे हानि होगी, सूर्य तथा बिजली का प्रकाश प्रायःपीठ की ओर से पुस्तक इत्यादि पर उतनी मात्रा में पड़ना चाहिए, जितना उपयोगी हो, बिजली इत्यादि का प्रकाश ढांप कर रक्खा जाए, ताकि नेत्रों पर उसका बुरा प्रभाव न पड़े, जब लोग इस देश में सरसों के तैल को जला कर प्रकाश करते थे, तो इस प्रकार के नेत्रों के रोग उनको नहीं होते थे, जैसे बिजली के प्रकाश से हो रहे हैं ।

भिन्न २ प्रकार से उड़ने वाली गर्द तथा धुयें के नेत्रों में पड़ने से भी नेत्र दूषित हो जाते हैं, इनके हानिकारक परिणाम से बचाने के लिये इनसे बचने की आवश्यकता है, प्रातःकाल स्नान के समय व रात्रि को शयन करने के समय नित्य प्रति इन को मुख सहित जल से धोना उचित है, यदि किसी प्रकार से किसी समय नेत्रों में गर्द या धुयां प्रवेश कर जाये, तो इन को उसी समय जल से शुद्ध कर लेना चाहिये ।

किसी लक्ष्य पर टिकटिकी लगा कर देखते रहने से भी नेत्रों में विकार आ जाता है, लोग त्राटक का अभ्यास करते हुए किसी लक्ष्य पर लगातार दृष्टि लगाए रखने से प्रायः नेत्रों की दृष्टि को हानि पहुंचा लेते हैं, इसलिए इस प्रकार के अभ्यास करने से मनुष्य को बचना ही चाहिए, योग शास्त्र का त्राटक ही आजकल का हिप्नाटिज़म (Hypnotism) है, जिस का अभ्यास, मेरे अनुभवानुसार, बिना दृष्टि लगाने के शीघ्र सफल हो सकता है।

निद्रा तथा स्वास्थ्य (Sleep and Health)

मनुष्य के दिन भर चेष्टा करते रहने से शरीर की सेलों तथा तन्तुओं में जो तोड़ फोड़ होता रहता है, उसकी पूर्ति करने के लिये बहुत कम अवकाश मिलता है, इस लिये शरीर के श्रान्त हो जाने से मनुष्य को आवश्यकता प्रतीत होती है, कि वह पूर्ण विश्राम द्वारा उस कमी को पूरा करने के लिये अवसर प्राप्त कर सके, साथ ही यदि किसी प्रकार के शारीरिक रोग तथा मानसिक क्षोभ से उस के चित्त पर अशान्तमय प्रभाव पड़े हुये हैं, तो उस अवस्था में उन से भी मनुष्य निश्चिन्त हो कर शान्त दशा में प्रवेश करता है, उस की शारीरिक बाह्य चेष्टायें ही नहीं, प्रत्युत उस के अन्तःकरण के व्योपार भी स्थगित हो जाते हैं, या यूं कहो कि मस्तिष्क का रक्त भार (blood-pressure) अतीव कम होजाने से नाड़ी केन्द्रों के गति शून्य होजाने के कारण मनुष्य संज्ञा रहित हो जाता है, और हम इस को निद्रा कहते हैं, जिस के मस्तिष्क का रक्त-भार अधिक बढ़ जाता है, उस को विनिद्रा (sleeplessness) का रोग हो जाता है, जिस को दूर करने के लिये उस के पैर तथा टांगों को बर्फ़ इत्यादि द्वारा शीतल करके, अथवा उन का मर्दन (massage) करके रक्त को नीचे की ओर प्रवाहित करने से मस्तिष्क के रक्त भार को कम करने का यत्न किया जाता है, इस रोग के कई कारण हैं, किन्तु

मुख्य कारण कब्ज़ी, तथा ओज (Vitality) की कमी है, इस लिये इस का सब से उत्तम उपाय योग की दृष्टि से मिताहार का सेवन, और कब्ज़ी को दूर करने वाले तथा ओज को बढ़ाने वाले आसनों का अभ्यास है, जिन का विधान आगामी पृष्ठों में किया गया है।

स्वस्थावस्था में यौवन काल में मनुष्य के लिये प्रायः छै सात घण्टों की निद्रा पर्याप्त है, इस से अधिक शयन करना मनुष्य के आलस्य अथवा शारीरिक दोष को प्रकट करता है, अधिक से अधिक रात्रि के नौ दस बजे से प्रातःकाल चार पांच बजे तक सोना अत्युत्तम और कल्याणकारी प्रभाव पैदा करता है, देर करके सोने तथा देर करके जागृत होने वाले मनुष्य चाहे दस बारा घण्टे भी सोये रहें, तो इतना लाभ नहीं उठा सकते, जितना कि उक्त समय पर सोने तथा जागने वाले प्राप्त कर सकते हैं।

रात्रि को सोने से पहिले नित्य मूत्र विसर्जन कर के, मुख तथा हाथ और पैर ताज़े जल से धो कर शयन करना अत्यन्त गुणकारक है, इस से गुर्दों तथा मूत्राशय के रोग नहीं होते, और रात्रि को प्रायः मूत्र करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, नेत्रों का शोधन होने के अतिरिक्त पैरों के ठण्डा होने से निद्रा सुखदायक तथा शीघ्र आती है, और पैरों के धूलि इत्यादि के मल से शयन-वस्त्र भी दूषित नहीं होते।

सोने के समय इस ओर ध्यान देना भी परमावश्यक है, कि मनुष्य का मुख खुला हुआ न रहे, पृष्ठ तथा उदर पर कभी शयन न किया जाये, दायें पक्ष पर शयन करना सब से उत्तम

है, क्योंकि इस से हृदय पर भी दबाव नहीं पड़ता और आमाशय से पक्वाशय में भोजन को जाने में सुगमता होती है, और निद्रा भी शान्ति पूर्वक आती है, यदि थकावट प्रतीत हो तो बायें पक्ष पर या कभी थोड़े से समय के लिये पृष्ठ पर भी लेट लिया जाये, किन्तु पेट पर किसी अवस्था में भी शयन नहीं करना चाहिये, छाती पर हाथ रखकर सोने से हृदय तथा फुफुस पर अत्यन्त भार पड़ जाता है, कई बार सोये हुये मनुष्य की इस अवस्था में चीखें निकल जाती हैं, मुख को ढांप कर, शीत काल में कमरे के भीतर अग्नि जला कर या द्वार बिलकुल बन्द करके, अथवा एक ही कमरे में बहुत मनुष्यों के एकत्रित हो कर,तथा मच्छरों से बचने के लिये ग्रीष्म ऋतु में मसहरी तान कर, सोने से मनुष्य को शुद्ध प्राण वायु प्राप्त नहीं हो सकती, बाहु सिर के पीछे की ओर फैला-कर, जाह्नु इकट्ठे कर के, या शरीर को किसी प्रकार से संकुचित करके सोना भी हानिकारक है, एक पक्ष पर सोये हुये भी दोनों बाहु इस प्रकार से फैलाने चाहियें, कि न तो कोई बाहु शरीर के नीचे दबने पाये और न ही इस का दबाव हृदय इत्यादि मर्म स्थानों पर पड़े, न ही किसी बाहु को सिर के नीचे रख कर सोया जाये, इस से इस में पीड़ा होने लगेगी, और रक्त प्रवाह भी ठीक प्रकार से नहीं होसकेगा, यदि थोड़े से समय के लिये रुचि होने पर बाहुओं को सिर की ओर फैला कर रख लिया जाये, तो कोई हानि नहीं, सिर के नीचे सरहाना ऊंचा रखने से हृदय को अधिक चेष्टा करनी पड़ेगी, और रक्त यथोचित मात्रा में ऊपर के भाग की ओर नहीं

जासकेगा, इस लिये सरहाना केवल इतना ही ऊंचा हो, जिस से सिर न ही नीचे झुका हुआ हो, और न ही ऊपर को उठा हो, इन बातों की ओर दिन को विश्राम करते हुये भी ध्यान देना आवश्यक है, और माता पिता का यह कर्तव्य है, कि वह बाल्यावस्था से ही बालकों में यह संस्कार डालें, क्योंकि बड़ी आयु में इन को ठीक करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, जो माता पिता छोटे बालकों को इस प्रकार से सुलाते हैं, कि जिस से उनकी पृष्ठ धनुष के समान हो जाये, या किसी प्रकार से टेढ़ी होती रहे, समय व्यतीत होने पर बालकों की पीठ में दोष पैदा हो जाता है।

कई समझते हैं, कि मनुष्य के शयन करने के लिये लकड़ी का तख़्तपोष या इस प्रकार की कोई सख़्त चीज़ होनी चाहिये, नरम नरम वस्त्र इत्यादि पर सोना ठीक नहीं, किन्तु मेरी सम्मति में न ही तो मनुष्य को सख़्त स्थान पर और न ही ढीली चारपाई पर शयन करना ठीक है, प्रत्युत ऐसी चारपाई पर, जो पीठ को झुकने न दे,इस के ऊपर वस्त्र केवल इतने बिछाये जायें जो शरीर को चारपाई की रगड़ से बचा सकें, और शीतकाल में भी केवल उतने ही वस्त्र होने चाहियें, जो मनुष्य को शीत से सुरक्षित रख सकें, ऊनी वस्त्रों की अपेक्षा रुई से भरे हुये मोटे सूत्र के वस्त्र अधिक उपयोगी हैं।

वायु तथा प्रकाश और स्वास्थ्य

(Air and light ; and health.)

भोजन तथा जल से भी बढ़ कर मनुष्य जीवन का आधार शुद्ध वायु तथा प्रकाश है, जिन के बिना क्षण भर भी जीवन की स्थिरता असंभव प्रतीत होने लगती है, किन्तु वर्तमान काल का सभ्य मनुष्य इन से पूर्ण लाभ उठाने से वञ्चित रक्खा जाता है, बड़े २ नगरों के ऊंचे २ तथा विशाल भवन जो निवास-गृहों, विद्यालयों (Schools and colleges), कार्यालयों (Offices), दुकानों तथा मण्डियों के रूप में मनुष्य की रक्षा, उन्नति तथा आर्थिक सिद्धि के लिये निर्मित किये गये हैं, जो देखने में बड़े सुन्दर, मनोरञ्जक व शुभायमान प्रतीत होते हैं, स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक हैं, जहां मनुष्य को शुद्ध वायु व सूर्य का प्रकाश आवश्यकतानुसार प्राप्त होना कठिन है, हमने इन विशाल मन्दिरों को निर्माण करते हुए, इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया, कि इसके भीतर निवास तथा कार्य करने वाले जन की क्या गति होगी, क्या बिजली के पंखे और अग्नि के ताप उस में वह अमृतमय जीवन का सञ्चार करने में समर्थ हो सकेंगे, जो कि ओज से भरी हुई शीतल व शुद्ध खुली वायु, और शक्ति की स्रोत,सूर्य की किरनों के सेवन तथा स्पर्श में विद्यमान है ! नगर से बाहिर खुले स्थानों में बनी हुई कोठियों के ढंग भी प्रायः इस प्रकार के हैं, कि इन के प्रत्येक कमरे में वायु तथा प्रकाश को पूर्ण रीति से प्रवेश करने का अवकाश

मिलना दुष्कर है, इस अवस्था में रहते हुए जो अवसर वायु को सेवन करने के लिये मिलता भी है, उस में भी प्रायः हम धूम्रपान(smoking)करते हुए तमाकु के नेकोटीन(Necotine) द्वारा इस को विषात्मिक बनाने से, रक्त में विष का सञ्चार करके, इस को हृदय के सुपुर्द करते हैं, हम शुद्ध वायु को सेवन करने के लिये भ्रमणार्थ बाहिर निकलते हैं, तो वहां भी सिगरिट को सेवन करते हुये यह समझते हैं, कि हम शुद्ध वायु से पूर्ण लाभ उठा रहे हैं, किन्तु वास्तविक लाभ केवल इस में नहीं, कि हमारे चारों ओर कितनी शुद्ध वायु विद्यमान है, प्रत्युत इस में कि हम उस को फुफुस में आये हुये अशुद्ध रक्त को शुद्ध करने के लिये कितना उपयोगी बनाते हैं ।

हमारे निवास स्थान इत्यादि वह अत्यन्त लाभदायक नहीं हो सकते, जिन पर हज़ारों तथा लाखों रुपये ख़र्च करके उन को एक प्रकार का कारागार बना लिया हो, प्रत्युत जिन के निमार्ण करने में यह ध्यान रखा जाये कि किसी भी एक मकान का प्रभाव दूसरे मकान के वायु तथा प्रकाश को रोकने में न पड़े, इस के द्वार तथा खिड़कियां व रोशनदान अधिक उस ओर बनाये जायें, जिधर से सूर्य का प्रकाश तथा वायु का प्रवाह बिना रोक टोक भीतर प्रवेश कर सके, मकान के कमरे भी इस प्रकार से निर्माण किये जायें, कि कोई कमरा भी दूसरे के मार्ग में बाधक सिद्ध न हो सके, इस के साथ ही वह मनुष्य की प्रचण्ड धूप, शीत तथा वर्षा इत्यादि में भी रक्षा करने में पूर्ण उपयोगी हो ।

हमारे देश में यदि गृह-द्वार तथा खिड़कियां पूर्व, पश्चिम

तथा दक्षिण की ओर अधिक रखी जायें, तो सूर्य का प्रकाश तथा धूप को पूर्ण मात्रा में प्रवेश करने का अवकाश मिलेगा, धूप प्रायः शीतकाल में मकान के भीतर दूर तक पहुंचेगी, और ग्रीष्म ऋतु में कम, क्योंकि ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की गति भूकक्षा (Equator) के उत्तर की ओर होने के कारण सूर्य की किरणें पृथवी पर सीधी पड़ती हैं, और शीतकाल में इस के दक्षिण की ओर होने के कारण इस की किरणें तिरछी पड़ती हैं, इस लिये ज्यूं २ ग्रीष्म का आगमन होता जायगा, किरणें मकान के भीतर कम से कम प्रवेश करने लगेंगी, और शीत के प्रादुर्भाव से किरणों का प्रवेश अधिक से अधिक होने लगेगा।

मकान में वायु प्रवेश के लिये पूर्ण उपयोगी उसी अवस्था में हो सकता है, यदि इस में चारों ओर खिड़कियां इत्यादि हों, क्योंकि वायु का प्रवाह भिन्न २ ऋतुओं में भिन्न २ दिशाओं की ओर से चलता रहता है।

इसी प्रकार विद्यालय तथा कार्यालय इत्यादि निर्माण करते हुये भी जहां उक्त बातों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है, वहां यह भी परमावश्यक है, कि उन में मनुष्य को दिन में तीन चार घण्टों से अधिक काम न करना पड़े, ताकि उस के स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव न पड़ सके, किन्तु यहां प्रश्न पैदा होगा, कि इस प्रकार संसार का कार्य कैसे चलेगा ? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है, कि विद्यालयों में विद्यार्थियों के लिये पुस्तकों की संख्या और विषयों की भिन्नता को कम करने, और उन को अपनी मातृ-

भाषा में उपयोगी शिक्षा देने, तथा परीक्षाओं के कड़े नियमों को ढीला करने, पुस्तकों को घोटा लगवाने के स्थान में उन की स्वतन्त्र ज्ञान शक्ति को बढ़ाने के अभिप्राय से शिक्षा प्रदान करने से विद्यालयों में थोड़े समय में अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है, और कार्यालयों में काम करने वालों की संख्या बढ़ाने, तथा दुकानों के खुलने का समय नियत करने से उस कार्य में किसी प्रकार का बाधा भी नहीं हो सकता और उन के स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ सकता।

इस के अतिरिक्त प्रकाश तथा वायु की उपयोगिता को अनुभव करते हुये, मनुष्य को स्वयं भी जितना अधिक अवसर मिल सके वह खुली वायु तथा प्रकाश का सेवन करने का यत्न करे।

क्रियात्मिक योग
(PRACTICAL YOGA)
योग तथा सामाजिक व्यवहार
(Yoga and Social-Intercourse.)

पश्चिमी क्रीड़ाओं के पक्षपाती इनके गुण वर्णन करते हुये, इन की प्रशंसा में प्रायः कहा करते हैं, कि "यह मनुष्य को अच्छा नागरिक (A good citizen) बनने, आत्मत्याग करने, जीवन को नियम में बांधने, और विरुद्ध पक्ष के गुणों की प्रशंसा करने, तथा उस के प्रति मित्रभाव रखने की उत्तम शिक्षा देती हैं किन्तु योग मनुष्य को अत्यन्त एकान्त जीवन व्यतीत करना सिखलाता है," पर यदि गंभीर दृष्टि से देखा जाये, तो ज्ञात होगा कि मनुष्य का जीवन बनाने के लिये अन्तःकरण पर लगातार शुद्ध संस्कारों के प्रभाव डालने की आवश्यकता है, यह हो सकता है कि अपने उद्देश को सिद्ध करने के लिये दोनों पक्षों के खिलाड़ी कुछ समय के लिये अपने आप को विशेष प्रकार के नियमों के बन्धन में बान्ध लें, किन्तु यह कठिन है, कि वह अपने जीवन की प्रत्येक घटना में अपने आप को उसी प्रकार के गुणों का भण्डार सिद्ध कर सकें, और उन के आचार तथा व्यवहार में सरलता तथा पवित्रता निरन्तर विद्यमान रहे, एक खिलाड़ी के लिये यह आवश्यक नहीं, कि

वह शुद्धाचारी भी हो, अन्यथा उसके लिये खेल में सम्मिलित होने का द्वार बन्द होगा, जो कोई भी अमुक प्रकार की खेल में रुचि रखता हो. वह इस में सम्मिलित होकर पूर्ण योग्यता तथा निपुणता प्राप्त कर सकता है,किन्तु योग का अभ्यास करने के लिये यह परमावश्यक है,कि वह यमों तथा नियमों का पालन करते हुये ही आसन तथा प्राणायाम इत्यादि के अभ्यास में सफल हो सकता है, और इन चारों की सफलता पर प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि की सफलता निर्भर है, इसी कारण महर्षि पतञ्जली इन आठों को योगरूपी शरीर के अङ्ग प्रकट करते हैं, योग का पहिला अङ्ग यम मनुष्य को शिक्षा देता है, कि उस का सामाजिक जीवन किस प्रकार का होना चाहिये, अर्थात् वह इस संसार में रहता हुआ दूसरे प्राणियों से किस प्रकार का सम्बन्ध रखे, और उन के प्रति किस प्रकार का वर्ताव तथा व्यवहार करे, इस अवस्था में यदि कोई यह कहे, कि योग मनुष्य को संसार से पृथक् रहने की शिक्षा देता है, तो यह उस की भूल है. हां यह सत्य है, कि योग मनुष्य को स्वार्थ का जीवन व्यतीत करने और दूसरों पर अत्याचार करने की शिक्षा नहीं देता, वह सत्य व्यवहार करना सिखलाता है, इस को स्पष्ट करने के लिये मैं महर्षि पतञ्जली के शब्दों में यमों का वर्णन करते हुये, उन की संक्षिप्त व्याख्या करने का यत्न करता हूं :—

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः" ॥२—३०॥

अर्थः—"(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह, यह पांच यम कहलाते हैं।'

१. अहिंसा (Abstention from injury.)

महर्षि वेदव्यास उक्त योग सूत्र पर भाष्य करते हुये लिखते हैं:—"कभी भी किसी प्रकार से किसी प्राणी के प्रति द्रोह न करना अहिंसा कहलाता है," और महाराज भोजदेव अपनी टीका में अहिंसा का लक्षण करते हुये कथन करते हैं :—

"प्राणों का वियोग करने के अभिप्राय से किया हुआ कर्म हिंसा कहलाता है, और इस के विपरीत कर्म को अहिंसा कहते हैं।"

योगसोपान में अहिंसा का लक्षण इस प्रकार किया गया है:-

"कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः ॥"

अर्थः—"शरीर से, मन से, तथा वाणी से कभी भी किसी प्राणी को क्लेश न पहुंचाना, इस को योगी लोग अहिंसा कहते हैं।"

उक्त तीनों प्रकार के अहिंसा के लक्षणों में से मुझे महर्षि वेद-व्यास का कथन सब से उत्तम और सर्वव्यापी (All compre-hensive) प्रतीत होता है, क्योंकि यदि योगसोपान और महाराज भोजदेव के विचार को सत्य मान लिया जाये, तो विरले मनुष्य ही संसार में इस पर आचरण कर सकते हैं, यदि किसी प्राणी का हनन करना ही हिंसा है, तो फिर

आत्मरक्षा के लिये किसी अत्याचारी का हनन करना, अथवा न्यायाधीश का किसी अपराधी को प्राणदण्ड देना इत्यादि कर्मों के करने वाले पापी समझे जा सकते हैं,और यदि योग सोपान के अनुसार चला जाये तो वैद्य तथा डाक्टर इत्यादियों के लिये किसी रोगी के प्रति चिकित्सा-प्रयोग ही असम्भव हो जायें, किन्तु यह बात तो प्रत्येक मनुष्य कर सकता है, कि वह मन, वाणी तथा शरीर द्वारा कभी भी कोई कर्म अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये किसी के प्रति द्वेषभाव से न करे।

किन्तु इस का तात्पर्य यह नहीं कि महर्षि व्यास किसी का हनन करने तथा किसी को क्लेश पहुंचाने की अनुमति देते हैं,क्योंकि यदि यह कर्म मनोकामना की पूर्ति के लिये किये जायें,और न्याय की स्थिति तथा दूसरे का हित इनका उद्देश न हो, तो यह हिंसा कोटि में आते हैं, चाहे मनुष्य इन को अविद्या तथा भूल से भी क्यों न करें, योग की दृष्टि से यह हिंसात्मिक कर्म हैं।

केवल यही नहीं कि किसी का हनन करना हिंसा है, प्रत्युत मन द्वारा किसी को हानि पहुंचाने का चिन्तन करने, वाणी से किसी के प्रति अनुचित शब्दों का प्रयोग करने, तथा शरीर से किसी पर अत्याचार करने का नाम भी हिंसा है, मनुष्य हो, या कोई पशु पक्षी, इन के विरुद्ध जो मनुष्य भी अनुचित व्यवहार करता है, वह हिंसक है।

किन्तु एक पक्ष संसार में ऐसा है, जिसका विचार है कि, "ऐसा कोई भी कर्म हिंसा नहीं कहा जा सकता,क्योंकि हम प्रकृति

में देखते हैं, कि जीवन को स्थिर रखने के लिये निरन्तर जीवन संग्राम (Struggle for existence) हो रहा है, और उस में प्रकृति का नियम मत्स्य-न्याय (Survival of the fittest) के रूप में अपना काम कर रहा है, मनुष्य भी उसी नियम में बन्धे हुये हैं, जैसे छोटी मछलियां बड़ी मछलियों को भक्षण कर जाती हैं, इसी प्रकार और जीवों की स्थिति है. जो बलवान् है, वह निर्बल को अपना भोजन बनाता है, तभी वह अपनी जीवन सत्ता को स्थिर रख सकता है।"

इस में सन्देह नहीं कि यह नियम हम संसार में काम करता हुआ देखते हैं, किन्तु यह एक रूप में काम करता हुआ दिखाई नहीं देता, कई जीव ऐसे हैं, जो अपनी जाति को छोड़ कर दूसरों को भक्षण करते हैं, कई अपनी जाति को भी अपना भोजन बना लेते हैं, और कोई अपनी सन्तान को भी नहीं छोड़ते, और कई ऐसे भी हैं, जो केवल वनस्पति पर ही जीवन व्यतीत करते हैं, साथ ही हम यह भी देखते हैं, कि जिस जाति (Species) में जो क्रम चला आता है, उस में कोई विशेष परिवर्तन प्रतीत नहीं होता, और जो कुछ वह जातियां करती हैं, वह स्वभाविक हो रहा है, उस में न ही बुद्धि का प्रवेश है, और न ही वहां पाप तथा पुण्य का विवेक है।

अब प्रश्न यह है,कि मनुष्य, जिस में बुद्धि है, जो परिवर्तनशील है, और जो पुण्य तथा पाप का विवेचन कर सकता है, उस का कल्याण किस में है ? क्या हिंसक प्राणियों की कोटि में सम्मिलित होने में, अथवा अहिंसक प्राणियों के समान

जीवन व्यतीत करने में ? मनुष्य स्वभाव से हिंसक प्राणियों के समान जीवन व्यतीत करने के लिये मजबूर नहीं, और न ही इसे अपने जीवन को स्थिर रखने के लिये मत्स्य न्याय का अनुकरण करने की आवश्यकता है, मनुष्य का कल्याण तथा उन्नति इस बात में है, कि वह प्रकृति में सहयोग के नियम को दृष्टि गोचर करे, कि विश्व में प्रत्येक वस्तु दूसरे के हित के लिये विद्यमान है, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के सहयोग से इस विश्व में जीवन और भिन्न २ प्रकार के दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं, यदि इन में असहयोग हो जाये तो संसार की क्या गति हो ? इस के अतिरिक्त सूर्य और चन्द्र का प्रकाश दूसरों के हित के लिये है, उन का स्वार्थ सिद्ध करने के लिये नहीं, इसी प्रकार हम देखते हैं, कि सूर्य अपनी किरणों के प्रभाव से जल को वाष्परूप में ऊपर खींच कर मेघ के रूप में अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये आकाश मण्डल में एकत्र नहीं करता, प्रत्युत भूमि के लाभ के लिये, वृक्षों का जीवन भी परोपकार के लिये है, अपने लिये नहीं, यदि हम विश्व को इस रूप में देखें, तो प्रतीत होगा कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु दूसरे के लिये है, यदि आज इस के विरुद्ध होने लगे, तो जीवन की समाप्ति हो जाये, इसी प्रकार मनुष्य मात्र की उन्नति तथा कल्याण उन के परस्पर सहयोग तथा परोपकार का जीवन व्यतीत करने में है, यदि प्रत्येक मनुष्य अपना जीवन दूसरे के हित के लिये अर्पण कर दें, तो सब का जीवन सुख तथा आनन्द से पूर्ण हो जाये, यदि प्रत्येक विद्वान् अपनी विद्या, धनवान् अपना धन, बलवान् अपना बल, और सेवक अपनी सेवा, दूसरों के कल्याण के लिये

प्रतीत करे, तो संसार के आर्थिक प्रश्न जो इस समय जगत् को पीडित कर रहे हैं स्वयमेव सिद्ध हो जायें, और जो शक्तियां एक दूसरे के विरुद्ध प्रयुक्त हो रही हैं, वह एक दूसरे की उन्नति तथा कल्याण के अर्पण हो जायें, इसी नियम के आधार पर प्राचीन समय में इस देश में चारों वर्णों का विभाग किया गया था, जो मिल कर मनुष्य समाज रूपी शरीर के अङ्ग समझे जाते थे, यह परोपकार का भाव मनुष्य में पैदा करने के लिये सब से पहिले उस में अहिंसा का भाव उत्पन्न होने की आवश्यकता है, इसी लिये योगशास्त्र ने अहिंसा को सब से प्रथम और मुख्य पदवी दी है।

२. सत्य (Truthfulness)

महर्षि वेदव्यास के योग दर्शन में इसपर किये हुये भाष्यको अपने शब्दों में नीचे उपस्थित करता हूं:–' जैसा किसी ने प्रत्यक्ष अनुभव किया हो, या उस को अनुमान द्वारा ज्ञात हुआ हो, वैसा ही मन में उसका चिंतन करने और वाणी द्वारा प्रकाशित करने को सत्य कहते हैं, अपने मन के भाव को दूसरे पर प्रकट करने के लिये प्रयुक्त की हुई वाणी यदि छल व कपट युक्त (deceitful) न हो, न ही भ्रान्तिकारक (misleading) हो, और न ही ऐसी हो, जिस से कि अपने मन का भाव दूसरे पर पूर्ण रीति से स्पष्ट न हो सके; और साथ ही वह प्राणिमात्र के हित के लिये प्रयुक्त की गई हो, न कि उन के नाश के लिये, तो यह सत्य कहलाता है, यदि उक्त प्रकार के गुणों से युक्त

होते हुये भी यह वाणी प्राणियों का नाश करने वाली हो, तो यह सत्य नहीं पाप ही है, क्यों कि वह पुण्य के मिथ्या वेष तथा रुप में घोर पाप है. इस लिये पूर्ण परीक्षा करके ऐसा सत्य का भाषण करे, जिस का परिणाम प्राणिमात्र का हित तथा कल्याण हो।"

उक्त भाष्य से प्रतीत होता है, कि मनुष्य सत्य भाषण करते हुये, यह भलि भान्ति ज्ञात कर ले, कि क्या उस के सत्य भाषण से किसी को हानि तो नहीं होगी, और क्या यह प्राणि-मात्र के लिये हितकारी सिद्ध होगा ? यदि उस में किसी का हित न हो, प्रत्युत हानि ही हो, तो वह सत्य नहीं, चाहे वह वचन, मन के भाव को ठीक २ प्रकट करने वाले ही क्यों न हों, इस का तात्पर्य यह नहीं कि मनुष्य असत्य भाषण करते हुये इस प्रकार अपने आप को दोष से मुक्त करने का यत्न करे, कि, "मैं ने जो कुछ किया है, वह दूसरों के हित के लिये किया है, इस लिये मैं निरपराध हूं", प्रत्युत इस का तात्पर्य यह है, कि यदि उस के सत्य के व्यवहार तथा भाषण में दूसरों की उन्नति तथा कल्याण नहीं, तो वह सत्य नहीं।

अस्तेय (Abstention from theft)

योगसोपान में अस्तेय का लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

"कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषु निस्पृहः ।
अस्तेयमिति सम्प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥"

अर्थ--"मन, वाणी तथा शरीर द्वारा दूसरे के द्रव्य ग्रहण करने की लालसा न करने को तत्त्वदर्शी ऋषि अस्तेय कथन करते हैं।"

वेदव्यास के भाष्यानुसार, "धर्मशास्त्र के विधान के प्रतिकूल दूसरे से द्रव्य को स्वीकार करना स्तेय (चोरी)कहलाता है. इसके विपरीत दूसरे से किसी प्रकार के द्रव्य को प्राप्त करने की लालसा अथवा लोभ न करने को अस्तेय कहते हैं।"

योगशास्त्र के अनुसार किसी को धोखा देकर, किसी पर डाका डालकर, अथवा किसी की अनुपस्थिति में, उसके द्रव्य को अपहरण करना तो कहां इस का मन में चिन्तन करना, अथवा वाणी से कथन करना भी स्तेय (चोरी) कहलाता है, धर्मशास्त्र के अनुसार किसी भी वस्तु को अन्याय से प्राप्त करने का किसी को भी अधिकार नहीं है किसी जाति पर आक्रमण करके अथवा किसी प्रकार के छल कपट से, उस के देश को अपने आधीन करने वाला मनुष्य तथा जाति भी चोर तथा डाकू हैं, किसी की अनुमति से भी, धूर्तता तथा पाखण्ड द्वारा, किसी का धन इत्यादि अपहरण करना,अथवा किसी की मूर्खता के कारण अपना स्वार्थ सिद्ध करना, इत्यादि प्रकार के कर्म भी स्तेय की गणना में आते हैं।

ब्रह्मचर्य तथा अक्षय सौंदर्य

Life of continence and undecaying beauty

महर्षि व्यास ब्रह्मचर्य के स्वरूप को इस प्रकार वर्णन करते हैं :—स्त्री तथा पुरुष की गुप्त जनन-इन्द्रियों की रक्षा को ब्रह्मचर्य कहते हैं" योगसोपान में इस को इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

"कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ॥
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥"

अर्थ:—"मन,वाणी तथा शरीर से प्रत्येक अवस्था तथा स्थान में, सदैव मैथुन (Sexual intercourse) का त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है।"

उक्त प्रकार का ब्रह्मचर्य अविवाहित स्त्री पुरुषों के लिये है, गृहस्थों के ब्रह्मचर्य को नीचे का श्लोक प्रकट करता है :—

"ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः ।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासीनाम् ॥"

अर्थ:—"विधानपूर्वक (शारीरिक रचना के नियमानुसार) उचित ऋतुकाल में निज धर्मपत्नी से मैथुन करने को गृहस्थों का ब्रह्मचर्य कहते हैं।"

इस प्रकार ब्रह्मचर्य को धारण करने से क्या लाभ होगा इस पर महर्षि पतञ्जली कथन करते हैं :—"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।" २-३८ ॥

अर्थः-"ब्रह्मचर्य में स्थित होने से शारीरिक तथा आत्मिक शक्ति की प्राप्ति होती है।

हठयोग प्रदीपिका में लिखा है : —

"एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरण बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात ॥"

अर्थः-"इस प्रकार (ब्रह्मचर्य के द्वारा) जो योगी वीर्य की रक्षा करता है, वह मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, क्योंकि (स्त्री पुरुष के) वीर्य के पतन में मृत्यु और इस को धारण करने में जीवन है।"

उपरोक्त कथन कहां तक सत्य है,इस की समालोचना करने के लिये मनुष्य के शरीर-व्यवछेद(Anatomy)तथा शरीर-रचना के संबन्ध में कुछ विषयगत बातें संक्षेप से उपस्थित करने की आवश्यकता है।

महर्षि व्यास के कथनानुसार मनुष्य के आन्तरिक जनन इन्द्रियों (Internal generative organs) की रक्षा करने का नाम ब्रह्मचर्य है, इन की रक्षा करने का तात्पर्य क्या है, और वह कैसे हो सकती है, इसको भली भांति समझने के लिये मनुष्य के जनन इन्द्रियों का कार्य (function), स्थान (Place of location) तथा परस्पर संबंध क्या है और मनुष्य शरीर पर उनका प्रभाव किस प्रकार पड़ता है, इन बातों को संक्षेप से नीचे वर्णन करने का यत्न करता हूं।

पुरुष की जनन-इन्द्रियां तथा उनके कार्य

पुरुष की जनन इन्द्रियां जो बाहिर से दिखाई देती हैं, वह बाह्य जननेन्द्रियां कहलाती हैं, और यह शिश्न तथा अण्डकोष (scrotum) में लटके हुए अण्ड (testicles) हैं, और जो वस्ति-गह्वर के भीतर स्थित हैं, किन्तु बाहिर से दृष्टिगोचर नहीं होतीं, उनको अन्तरीय जननेन्द्रियां कहते हैं, इनमें शुक्र प्रणाली, शुक्राशय, प्रोस्टेट तथा शिश्नमूल ग्रन्थि सम्मिलित हैं।

शिश्न (penis) के अगले भाग को मुण्ड अथवा मणि या शिश्नाग्र कहते हैं,इसका छिद्र,जिसमें से मूत्र अथवा वीर्य बाहिर निकलता है, मूत्र-वहिर्द्वार कहलाता है. मणि के पीछे एक खाई (मणिखात) में, त्वचा के नीचे कुछ ग्रन्थियां हैं, जिन में से श्वेत वर्ण की एक लेस वाली वस्तु निकलती है, जिसको शिश्न-गूथ कहते हैं,यदि शिश्न को नित्य जल से शुद्ध न किया जाये, तो यह वहां एकत्र होते रहने से मणि के ऊपर आ जाता है, और कभी २ इस के सड़ने के कारण वहां फुन्सियां हो जाती हैं।

मणि और विटप देश (pubic region) का मध्यम भाग शिश्न-शरीर और अण्डकोष से ढका हुआ शेष भाग शिश्नमूल कहा जाता है।

शिश्न श्वेत तथा पीले सौत्रिक तन्तुओं तथा अनैच्छिक मांस से बने हुए,दो शिश्न के ऊपर की ओर और एक नीचे की ओर, तीन बेलनाकार दण्डों से बना है,नीचे के दण्ड को मूत्रदण्डिका कहते हैं, और यह एक नली से युक्त है, जिसे मूत्रमार्ग कहा

जाता है, ऊपर के दोनों दण्डे शिश्न-दण्डिका कहलाते हैं, इन के भीतर छोटे २ कोष हैं, और इन के ऊपर, नीचे तथा बीच में एक अन्तर रहता है, ऊपर के अन्तर में दो धमनियां, एक शिरा और दो चेतना-नाडियां विद्यमान हैं, शिश्न-मूल में एक शिश्नप्रहर्षिणी पेशी है, जिस समय धमनियों द्वारा दण्ड-कोष्ठों में रक्त का प्रवाह अधिक मात्रा में आने लगता है, तो उस समय इस पेशी के संकोच करने से शिरा का मार्ग बन्द हो जाने के कारण रक्त वापस लौट नहीं सकता, कोष्ठों में भरा रहता है, जिस से दण्डों में दृढ़ता तथा स्थूलता आ जाती है, और शिश्न प्रहृष्ट अवस्था (Erected state) में होता है, जब यह पेशी प्रसरण करती है, तो रक्त के शिरा द्वारा लौट जाने के कारण शिश्न शिथिल हो जाता है ।

शिश्नमूल में मूत्रमार्ग के दोनों ओर, प्रोस्टेट के शिखर के नीचे श्रोणि-आधार (Pelvic floor) में मटर के दाने के समान पीले वर्ण की दो छोटी २ ग्रन्थियां विद्यमान हैं, जिन को शिश्नमूल-ग्रन्थियां (Cowper's glands) कहते हैं, इन का रस भी, प्रोस्टेट के रस के समान, दो नलियों द्वारा मूत्र-मार्ग में शुक्र (Semen) के साथ मिल जाता है ।

पुरुष के शुक्र में कीट के तुल्य सूक्ष्म जीव होते हैं, जिन की लम्बी पुच्छ और मोटा सिर होता है, इनकी गति सिर की ओर होती है, और शुक्र के तरल में बड़ी तेज़ी से तैरा करते हैं, इनको शुक्राणु अथवा शुक्र-कीट कहते हैं, यह सन्तान उत्पन्न करने के लिए परमावश्यक हैं, जिस पुरुष के शुक्र में यह निर्बल हों, तो इन में गति बड़ी धीरे २ होती है, और उसकी सन्तान भी प्रायः

निर्बल होती है, जिस के शुक्र में यह होते ही नहीं, उस के सन्तान का पैदा होना ही असम्भव है, चाहे वह मैथुन क्रिया करने में कितना भी समर्थ हो, एक बार की मैथुन क्रिया में शुक्र द्वारा कई कोटि शुक्र-कीट निकल जाते हैं, किन्तु स्त्री में गर्भ स्थित करने के लिए एक शुक्र-कीट की आवश्यकता होती है, पुरुष की १४–१५ वर्ष की आयु में प्रायः शुक्र-कीट बनने आरम्भ होते हैं, और २५ वर्ष की आयु में पूर्ण पक्व अवस्था को प्राप्त कर के बलवान् तथा स्वस्थ सन्तान उत्पन्न करने के समर्थ होते हैं, जो इस से पहिले इन से सन्तान उत्पन्न करने का कार्य लेते हैं, उन की सन्तान निर्बल होती है ।

जो शुक्र शुक्र-ग्रन्थियों में बनता है, वह इतना गाढ़ा होता है कि उस में शुक्रकीट पूर्ण रीति से गति नहीं कर सकते। इन ग्रन्थियों से चलते हुए मार्ग में शुक्र प्रणाली की श्लैष्मिक कला (Mucous membrane) का रस, तथा शुक्राशय का रस इस में मिल कर इसको पतला कर देता है ।

डाक्टरों की सम्मति में शुक्र ग्रन्थियां शुक्र के अतिरिक्त एक और प्रकार का रस भी निरन्तर बनाती रहती हैं, जो रक्त प्रवाह द्वारा सारे शरीर की वृद्धि तथा उन्नति करने, और इस का पालन पोषण करने में प्रयुक्त होता है, जब पुरुष मैथुन अधिक करे, तो यह ग्रन्थियां शुक्र अधिक बनाने लगती हैं, और दूसरे रस को बनाने का उन को कम अवसर मिलता है, इस लिये मनुष्य को शरीर में निर्बलता प्रतीत होने लगती है, इस रस की २५ वर्ष की आयु तक शरीर के पालन पोषण के

लिये अत्यन्त आवश्यकता होती है, यदि इस समय से पहिले पुरुष का शुक्र मैथुन द्वारा अथवा स्वप्न दोष (Nocturnal emissions) या हस्त मैथुन (Masterbation) इत्यादि द्वारा नष्ट होना आरम्भ हो जाय, तो उसका शरीर पूर्ण वृद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि शुक्र-ग्रन्थियों को शुक्र बनाने के कार्य में अधिक समय देने के कारण इस रस को बनाने के लिए कम समय मिलता है, यदि पुरुष इन से किसी प्रकार से अधिक शुक्र बनाने का काम न ले, तो वह रस भी पूर्ण मात्रा में बनता रहेगा, और शुक्र को भी, यथोचित रीति से बन कर शुक्राशय में एकत्र होने पर, बाहिर निकलने की आवश्यकता नहीं होगी, किंतु यदि मास में एक दो बार मैथुन द्वारा, अथवा स्वप्न द्वारा बाहिर निकल भी जाय, तो कोई हानि नहीं, बाल्यावस्था में शुक्र बहुत ही कम बनता है, इस लिये इस के निकलने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

एक दूसरे विचार के अनुसार शुक्र-ग्रन्थियां शुक्र को केवल उस समय बनाती हैं; जब पुरुष को मैथुन की इच्छा होती है, अथवा जब उसमें विषय कामना उत्तेजित होती है (स्वप्न में, या हस्त मैथुन इत्यादि के समय), उस समय वह दूसरा रस बनाने का काम नहीं करतीं, इस लिये उनसे किसी प्रकार वीर्य बनाने का अधिक कार्य कराने से धीरे २ शरीर में निर्बलता आ जाती है।

यदि पहिले विचार को ठीक समझा जाये, तो जो रस शुक्र-ग्रन्थियों द्वारा बन कर शुक्राशय में चला गया है, इसको किसी न किसी समय अवश्य किसी प्रकार बाहिर निकलना चाहिये,

नहीं तो भीतर रहने से हानिकारक सिद्ध होगा, जब मनुष्य की १४-१५ वर्ष की आयु में शुक्र बनना आरम्भ हो जाता है, और अभी पूर्ण पक्व अवस्था को नहीं पहुंचता, उसी समय से उस का कुछ न कुछ शुक्राशय में जाना, तथा बाहिर निकलना अनिवार्य होगा, इस अवस्था में उसको सन्तान उत्पत्ति के लिये प्रयुक्त करना भी हानिकारक है, चूंकि उस का शरीर अभी तक पूर्ण वृद्धि को प्राप्त नहीं हुआ, इस लिये उस का किसी प्रकार से बाहिर निकलना शारीरिक उन्नति में बाधक होगा, और साथ ही यह भी असम्भव प्रतीत होता है, कि मनुष्य शुक्राशय में गये हुये शुक्र को किसी दूसरे प्रकार से प्रयुक्त करके उस को उपयोगी बना सके, हम यह भी देखते हैं, कि कई नवयुवकों का शुक्र १८-२० वर्ष तक, और अनुकूल अवस्था में कम से कम २५ वर्ष तक भी सुरक्षित रह सकता है, इस लिये उक्त प्रकार का विचार युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता, किन्तु यदि दूसरे विचार को सत्य स्वीकार किया जाये, तो इस प्रकार की आपत्ति नहीं आती।

इन के अतिरिक्त एक विचार यह भी है, कि शुक्र से ही दूसरे प्रकार का रस बन कर शरीर के पोषण में लगा रहता है, और मैथुन इत्यादि के समय यह रस बनना बन्द हो जाता है, और यह भी कहा जाता है, कि वीर्य (शुक्र) ही दोनों प्रकार के कार्य करता है, अर्थात् जो शुक्र इन ग्रन्थियों में निरन्तर बनता रहता है, वह शुक्र प्रणाली द्वारा शुक्राशय में पहुंचता रहता है, और रक्त द्वारा सारे शरीर में विभक्त होता रहता है, विशेष अवस्था में शुक्रस्रोत के द्वारा मूत्र मार्ग में

प्रवेश करके बाहिर निकल जाता है।

इस प्रकार के कितने भी भिन्न २ विचार हों, किन्तु एक बात में सब सहमत हैं, कि शुक्र-ग्रन्थियों के रस का शरीर के पालण पोषण से गहरा सम्बन्ध है, और वीर्य के दुरुपयोग से पुरुष शक्ति हीन होने लगता है।

डाक्टरों तथा वैद्यों की सम्मति में पुरुष एक सीमा तक इस की रक्षा कर सकता है, उस से अधिक नहीं, यदि वह इस के लिये यत्न भी करेगा, तो इस को सुरक्षित नहीं रख सकेगा, और यदि हठपूर्वक इस को भीतर रोकेगा तो यह हानिकारक सिद्ध होगा।

योग की दृष्टि से पुरुष इस की पूर्ण रक्षा कर सकता है, गृहस्थ में इस को विधिपूर्वक सन्तान उत्पन्न करने में प्रयुक्त करे, तो इस को किसी प्रकार की हानि नहीं होगी, किन्तु यदि वह चाहे, तो योग की क्रियाओं द्वारा उस के लिये इस को पूर्ण रीति से सुरक्षित रखना असम्भव तथा हानिकारक नहीं, इस का तात्पर्य यह नहीं कि उस को हठ से इसे रोकने का अभ्यास करना होगा, प्रत्युत योग के अभ्यास से उस के शरीर के भीतर इस के लिये मांग के अत्यन्त बढ़ जाने ,तथा विषय कामना की उत्तेजना के अत्यन्त कम हो जाने से,विना पुरुष के किसी प्रकार प्रयत्न करने के स्वयमेव इसकी रक्षा होने लगेगी, और स्वप्नदोष इत्यादि के द्वारा इस का पतन सर्वथा रुक जायगा, इसी को योग शास्त्र पुरुष का ब्रह्मचर्य या गुप्तेन्द्रिय का संयम कथन करता है।

नारी की वाह्य जननेन्द्रियों की रचना तथा उनके कार्य

जिस स्थान में पुरुष की वाह्य जननेन्द्रियां शिश्न तथा अण्डकोष स्थित हैं, वहां स्त्री में जो अङ्ग बाहिर से दृष्टि गोचर होते हैं, उन सब का नाम भग (Vulva or Vagina) है, भग के दरार के बीच दोनों ओर दो २ पाट होते हैं, बाहिर के दोनों ओर के दो मोटे पाट बृहद्-भगोष्ठ, और इनके भीतर दोनों ओर के पतले दो पाट क्षुद्रभगोष्ठ कहे जाते हैं, दरार में एक ऊपर और एक नीचे दो छिद्र विद्यमान हैं, ऊपर का छिद्र मूत्रमार्ग का छिद्र है, जो मूत्र बहिर्द्वार कहलाता है, इस में से मूत्र बाहिर निकलता है, दूसरा इस के नीचे बड़ा छिद्र योनिद्वार है, इसी के द्वारा स्त्री का मासिक स्राव, बालक का जन्म, तथा मैथुन के समय पुरुष के शिश्न का प्रवेश होता है।

अक्षत-योनि (Virgin) स्त्री के योनिद्वार पर एक पतला सा त्वचा का परदा होता है, जिस के छिद्र में से प्रतिमास आर्तव (Menses) स्राव करता है. प्रथम मैथुन के समय यह फट जाता है, और उस समय से स्त्री क्षत-योनि कहलाती है, सख्त चोट लगने से भी यह परदा कभी २ फट जाता है।

बृहद्-भगोष्ठ के दोनों ओष्ठों के ऊपर आकर मिलने के उभरे हुये स्थान को कामाद्रि कहते हैं, इस स्थान पर युवावस्था में स्त्री के बाल पैदा हो जाते हैं, दोनों बृहद्-ओष्ठों के भीतर कामाद्रि और मूत्र बहिर्द्वार के बीच में स्थित एक छोटे से अङ्कुर को भगनासा कहते हैं, मानो यह स्त्री का शिश्न है, परन्तु इस में से मूत्र वा वीर्य के सदृश कोई वस्तु नहीं निकलती, इस में

चित्र १७.

I. नर जननेन्द्रियां—Male generative organs.



1. मूत्राशय—Urinary bladder.
2. शुक्र प्रणाली—Seminal duct.
3. शुक्राशय—Seminal vesicle.
4. प्रोस्टेट ग्रन्थि—Prostate gland
5. मूत्रमार्ग—Urethra
6. मूत्र प्रणाली—Ureter.

दो दण्डिकायें हैं, जिन को भगनासा-दण्डिका (Corpus cavernosum clitoridis) कहते हैं, इन दोनों के मेल से भगनासा बनती है, प्रत्येक दण्डिका से भगनासा-प्रहर्षिणी (उत्थापिका)पेशी लगी है, भगनासा का सिरा भगनासाग्र कहा जाता है, यह विना छिद्र के मानो शिश्न-मुण्ड है, इसकी त्वचा क्षुद्रोष्ठों की त्वचा से मिली रहती है, और ऊपर को हटाई जा सकती है।

पुरुष के शिश्न के समान मैथुन अथवा काम वासना की उत्तेजना के समय भगनासा, रक्त से भर जाने के कारण, दृढ़ हो जाता है, और उसकी समाप्ति पर शिथिल हो जाता है,मैथुन के समय शिश्न और इस की परस्पर रगड़ से स्त्री पुरुष को क्षणिक आनन्द प्रतीत होता है।

नारी अन्तरीय जननेन्द्रियों की रचना तथा उन के कार्य

स्त्री के वस्तिगह्वर में दाईं तथा बाईं ओर दो डिम्ब-ग्रन्थियां (Ovaries) विद्यमान हैं, इनकी पृष्ठ में स्थित सेलों की एक तह के भीतर सौत्रिक तन्तु तथा सेलों से निर्मित बहुत सी छोटी व बड़ी थैलियां या आशय हैं, जिनको डिम्बकोष कहते हैं, इनके भीतर एक बड़ी सेल रहती है, जिसे डिम्ब (Ovum) कहते हैं, इस के चारों ओर चिपटी हुई सेलों की कई तहें होती हैं, जिस को डिम्ब-वेष्ट कहा जाता है,बड़े डिम्ब-

कोषों में तरल भरा रहता है, कहा जाता है, कि दोनों डिम्ब-ग्रन्थियों में डिम्बकोषों की संख्या ७२००० के लगभग हैं।

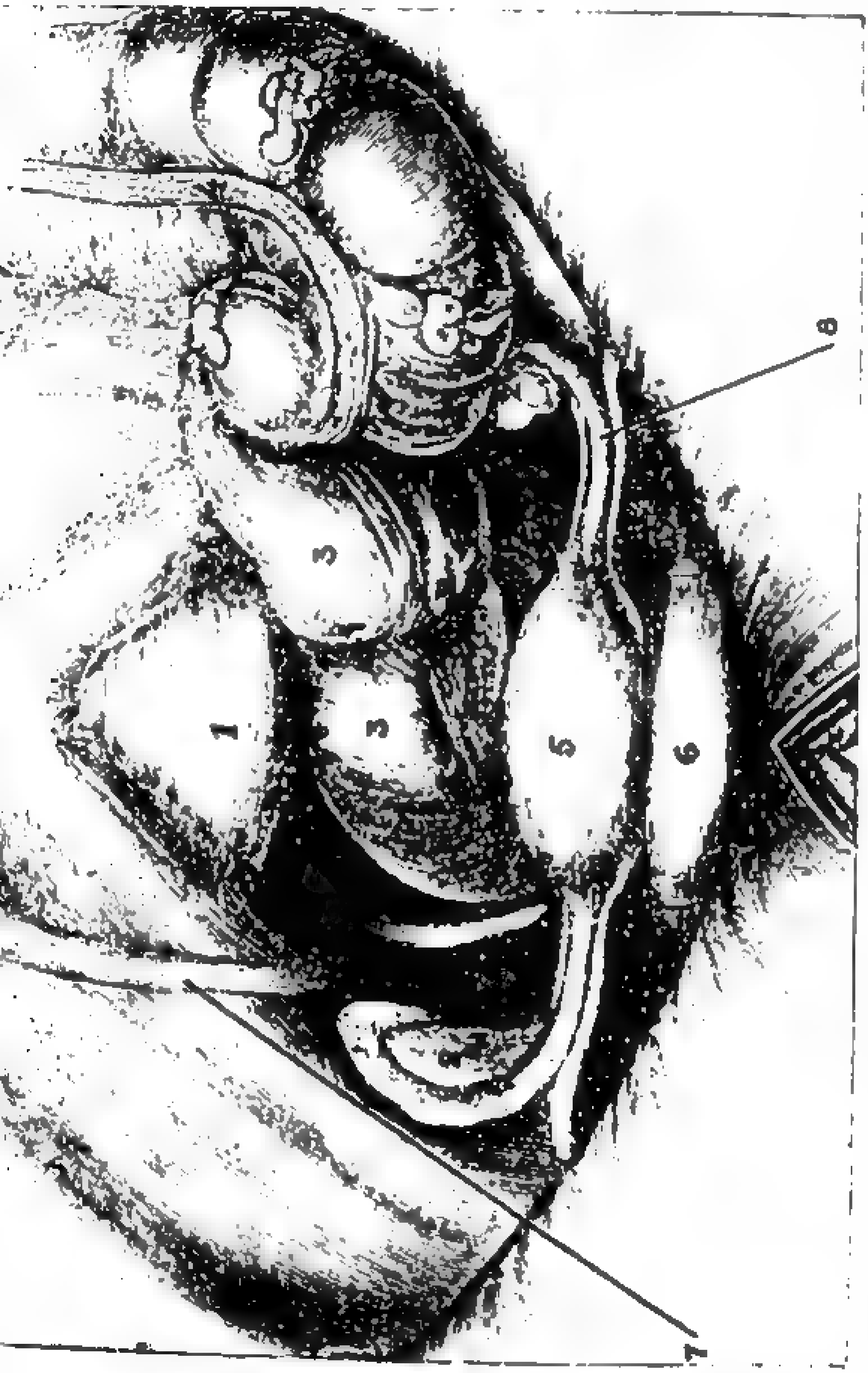
डिम्ब-ग्रन्थियों से कुछ नीचे, मलाशय के सामने और मूत्राशय के पीछे **गर्भाशय** स्थित है, इस के दायें और बायें ओर से दो प्रणालियां निकल कर दोनों ओर की डिम्ब-ग्रन्थियों से मिल जाती हैं, चूंकि डिम्ब-ग्रन्थि में से डिम्ब निकल कर इनमें स्थित होता है, इस कारण इनको **डिम्ब-प्रणालियां** कहते हैं।

जब कोई छोटा डिम्बकोष बढ़ते २ परिमाण अर्थात पकावस्था को प्राप्त होता है वह केन्द्रिक भाग (Central part) से बहिःस्थ भाग (Exterior part) में पहुंच कर पृष्ठ के नीचे आ जाता है, जिस से यह भाग उभर जाता है, तब पृष्ठ फटता है, और तरल के दबाव से डिम्बकोष फट कर, अपने चारों ओर की सेलों सहित कोष से बाहिर निकल कर डिम्ब-प्रणाली (Fallopian tube) में चला जाता है, तत्पश्चात् डिम्ब-ग्रन्थि का पृष्ठ फिर अपनी पहिली अवस्था में आ जाता है, किन्तु वहां एक गढ़े का सा चिह्न रह जाता है, जितने डिम्ब दोनों ग्रन्थियों से निकलते जाते हैं, उतने ही वहां गढ़े पड़ते जाते हैं, प्रत्येक ग्रन्थि में से बारी २ प्रतिमास प्रायः मासिक-स्राव के होने पर एक २ डिम्ब निकला करता है।

डिम्ब-कोष में से डिम्ब निकलने के पश्चात्, उस में रक्त भर जाता है, और कुछ समय पीछे वहां पीतांग नामक पीले

चित्र २०.

I. नारी जननेन्द्रियां—Female generative organs.



2. डिम्ब ग्रन्थि — Ovary.
3. श्रोणिगा बृहद् अन्त्र—Pelvic colon.
4. अवरत्नुदान्त्रगा बृहद् अन्त्र—Iliac colon.
5. गर्भाशय—Uterus.
6. मूत्राशय—Urinary bladder.
7. मूत्रप्रणाली—Ureter.

चित्र २६.

iii. नारी जननेन्द्रियां—Female generative organs.



1. जिगर—Liver. 2. आमाशय—Stomach. 3. गुर्दा—Kidney.
4. क्षुद्रान्त्र—Small Intestines. 5. वस्तिगह्वर—Pelvis. 6. गर्भाशय—Uterus.
7. योनि—Vagina. 8. मलाशय—Rectum. 9. मूत्राशय—Urinary bladder.

वर्ण का पिण्ड बन जाता है, यदि पुरुष के शुक्रकीट तथा स्त्री के डिम्ब के संयोग से गर्भ स्थिति हो जाए तो इसकी वृद्धि हो जाती है, अन्यथा यह सुकुड़ कर श्वेत वर्ण हो जाने से श्वेतांग कहलाता है।

कन्या की १२-१४ वर्ष की आयु में उस के गर्भाशय से कुछ काला सा लाल वर्ण का रक्तमय स्राव निकलना आरम्भ होता है, इस को रजोदर्शन (Appearance of the menses) कहते हैं, शीत प्रधान देशों में यह १४-१५ वर्ष की आयु में होता है, इस के प्रति मास निकलने को आर्तव अथवा ऋतु कहा जाता है, ऋतु काल में वह कन्या वा स्त्री ऋतुमती या रजस्वला कहलाती है, और वह ४०-५० वर्ष की आयु तक प्रति मास रजस्वला होती रहती है, आर्तव का परिमाण एक से ४ छटांक तक कहा जाता है, और यह प्राय: तीन दिन तक होता रहता है, इन दिनों में मैथुन करने से कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मासिक स्राव के दिनों में जो डिम्ब प्रणाली में पहुंचता है, वह इस के पश्चात् दस पन्द्रह दिन तक शुक्रकीट की प्रतीक्षा करता रहता है, यदि इस समय तक शुक्रकीट का मेल इस के साथ न हो, तो वह नष्ट हो जाता है, इस लिए गर्भ स्थिति की सम्भावना आर्तव के पीछे उन १५ दिनों में ही अधिकतर हो सकती है।

गर्भाशय के योनि से जुड़े हुए निचले पतले भाग को ग्रीवा और ऊपर के मोटे भाग को गात्र कहते हैं, ग्रीवा की श्लैष्मिक

कला से एक रस योनि में आता है, वैद्य लोग इस को स्त्री का वीर्य कथन करते हैं, किन्तु डाक्टरों की सम्मति यह नहीं है, क्योंकि इस में सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नहीं, यह रस योनि की दीवारों को केवल नर रखने के लिये प्रयुक्त होता है, ताकि शिश्न के इस में प्रवेश करने पर, इसे किसी प्रकार की हानि न पहुँचे, इसी प्रकार से एक रस योनि की दीवारों में स्थित दो ग्रन्थियों द्वारा भी निकल कर इस को तर रखता है, चूँकि इन रसों के अधिक मात्रा में निकलने से स्त्री में कुछ निर्बलता आने लगती है, विषय कामना की उत्तेजना, मैथुन क्रिया की अधिकता तथा गर्भाशय या योनि के दोषों के कारण यह रस अधिक निकलता है,और स्वप्न में भी पुरुष के वीर्य के समान इसका पतन होता है,इन कारणों से इसको स्त्री का वीर्य कहा जा सकता है, मैथुन के समय जब पुरुष का शिश्न स्त्री की योनि में प्रवेश करता है, तो शिश्नमुण्ड गर्भाशय के मुख के समीप पहुंच जाता है, कुछ काल पीछे मूत्रबहिर्द्वार से बड़े वेग से निकलकर शुक्र गर्भाशय के समीप ही गिरता है किसी समय तो गर्भाशय तत्क्षण उस को भीतर खींच लेता है, शुक्रकीट गर्भाशय में कई दिनों तक जीवित रह सकते हैं, यह वहां से धीरे २ उस ओर की डिम्ब-प्रणाली में पहुंचते हैं, जिस में डिम्ब होता है, और सभी डिम्ब पर धावा करते हैं, किन्तु उन में से वही डिम्ब तक पहुंच सकते हैं, जो अत्यन्त प्रबल होते हैं, और वहां पहुंच कर डिम्ब के चारों ओर से उस की सेलों द्वारा भीतर प्रविष्ट होने का यत्न करते हैं, उन में से भी जो सब से अधिक बलवान् होता है, वह सब से पहिले भीतर चला

जाता है. गर्भ स्थिति के लिये केवल एक ही शुक्रकीट की डिम्ब के साथ संयोग की आवश्यकता होती है. और यहां गर्भाधान कहा जाता है।

यदि कभी दो शुक्रकीटों का एक डिम्ब से संयोग हो जाये. तो दो जुड़े हुये शरीर पैदा होते हैं, किन्तु वह अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकते यदि किसी समय दो शुक्रकीटों का दो डिम्बों से संयोग हो जाये, तो दो बालक उत्पन्न हो जाते हैं. ऐसे ही कभी २ तीन भी हो जाते हैं, किन्तु इस प्रकार के बालक दीर्घायु तथा प्रबल नहीं होते।

यदि पुरुष का शुक्र अधिक मैथुन द्वारा किसी प्रकार से निर्बल होने के कारण योनि तथा गर्भाशय में प्रवेश न कर सके तो गर्भ स्थिति नहीं होती. यदि रोग के कारण योनि में अमल रस विद्यमान हो, तो भी गर्भाधान नहीं हो सकता, क्योंकि इसके प्रभाव से शुक्रकीट जीवित नहीं रह सकते, अन्यथा शुक्र का अंश मात्र भी भीतर रहने से गर्भ स्थित हो जाता है, यदि शुक्रकीट तथा डिम्ब के मेल से गर्भ स्थित हो जाए, तो यह गर्भ-सेल अथवा भ्रूण-सेल कहलाता है, जो शीघ्र ही गर्भाशय में आ जाता है, और प्रकृति के नियम तथा क्रम अनुसार प्रायः ९-१० मास में बालक का जन्म होता है।

उपरोक्त शारीरिक रचना के ज्ञान से ज्ञात होता है, कि स्त्री पुरुष के मैथुन का उद्देश्य सन्तान पैदा करना है, विषय भोग का आनन्द प्राप्त करना नहीं, इस में सन्देह नहीं, कि मनुष्य इस में आनन्द अनुभव करते हैं, यदि ऐसा न होता तो

सन्तान उत्पत्ति के लिये किसी के मन में रुचि ही न होती, किन्तु इस आनन्द सम्भोग को मुख्य रखते हुए सन्तान उत्पत्ति को गौण (Secondary) स्थान प्रदान करना मनुष्य की भूल है, क्योंकि इस से स्त्री पुरुष में परस्पर मैथुन की अधिक प्रवृत्ति होने के कारण केवल सन्तान के स्वास्थ्य पर ही नहीं, प्रत्युत माता पिता के स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है, और जितने भी गुप्त रोग पुरुषों को तथा स्त्रियों को होते हैं, वह प्रायः इसी कारण से होते हैं, जिस से कई बार उनका जीवन भी संशय में पड़ जाता है ।

सब से उत्तम काल स्त्री के रजोदर्शन का उसकी १५-१६ वर्ष की आयु और पुरुष के वीर्य (शुक्र) के परिपक्व होने का उस की २५ वर्ष की आयु है, कम से कम इस समय तक यदि युवतियों तथा युवकों में किसी प्रकार की काम वासना उत्तेजित न हो, और इस प्रकार अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करते हुए गृहस्थ में प्रवेश करके भी पति पत्नी परस्पर ऋतुगामी हों, तो तभी वह सच्चे अर्थों में माता पिता कहलाने के योग्य हो सकते हैं, अन्यथा कामाग्नि को तृप्त करने के उद्देश्य से संभोग करने वाले सन्तान के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनकी सन्तान तो उन के काम का अनिवार्य परिणाम है, इस में सन्देह नहीं कि यौवन काल में मनुष्यों में काम चेष्टा का प्रादुर्भाव स्वयमेव होने लगता है, किन्तु काम के वशीभूत हुआ २ मनुष्य धीरे २ स्वयं नष्ट हो जाता है, और इसको अपनी मर्यादा में रखने से वह (काम) आज्ञाकारी सेवक के समान काम करता है ।

मनुष्य की काम वृत्ति को पूर्ण यौवन काल मे पहिले उत्पन्न करने और उस मे इसकी प्रचण्ड उत्तेजना को पैदा करने के कई कारण हैं, किन्तु मुख्य कारण निम्न लिखित हैं :—

१. जो बालक कामी माता पिता की सन्तान हैं. २. जिनका आहार उत्तेजक पदार्थ हैं, ३. जो कामी जनों की सङ्गति में रह कर कामात्मिक बातें करते तथा सुनते रहते हैं, ४. जो कामवृत्ति को उत्तेजित करने वाले दृश्य देखते रहते हैं, ५. जिनको इसी प्रकार का साहित्य विद्यालयों मे पढ़ाया जाता है,या स्वयं इसका अध्ययन करते रहते हैं, ६. जो आलस्य युक्त तथा कार्य रहित जीवन व्यतीत करते हैं, और किसी प्रकार का परिश्रम तथा उपयोगी व्यायाम इत्यादि नहीं करते, और ७. जो मन में उत्तेजित करने वाले विचारों का चिन्तन तथा मनन करते हैं, उनकी काम ज्वाला छोटी आयु से ही प्रजवलित होने लगती है, और जब तक धातुओं के क्षीण हो जाने से उनकी शारीरिक शक्तियां अत्यन्त शिथिल नहीं हो जातीं, वह विषय भोग रूपी घृत की आहुति डाल कर उस (ज्वाला)को शांत करने की धुन में लगे रहते हैं, और इसको शान्त करते २ स्वयं ही उस में धीरे २ दग्ध होने लगते हैं।

एक किसान यह तो समझता है, कि उसकी खेती उत्तम फल तभी दे सकती है, जब कि भूमि तथा बीज पूर्णतया अनुकूल गुणों से सम्पन्न हों, जल वायु इत्यादि भी उनकी वृद्धि तथा पालन पोषण के लिये अनुकूल हों,भूमि बीज ग्रहण करने के योग्य हो, और बीज विधिपूर्वक अनुकूल ऋतु में आरोपण किया जाये,

तत्पश्चात् खेती की रक्षा इत्यादि सावधान हो कर की जाये, ताकि उस पर बाहिर से किसी प्रकार का हानिकारक प्रभाव न पड़ सके, वह यह भी जानता है, कि जब तक खेती की फ़सल कट जानेपर भूमि दूसरी वार वीज ग्रहण करने के योग्य न हो जाए, उस में किसी प्रकार का वीज आरोपण करना अनुचित है, किन्तु उस की समझ में यह आना कठिन है, कि सन्तान रूपी खेती के लिये भी इसी प्रकार के नियमों का अनुकरण करने की आवश्यकता है, जो पशु मनुष्य के स्पर्श में आने से प्राकृतिक अवस्था से पतित भी हो गए हैं, विवेक शून्य होने पर भी वह प्रायः ऋतुकाल के विना परस्पर सम्भोग नहीं करते, किन्तु बुद्धि प्रधान मनुष्य प्रतीत करता है, कि उस को इस प्रकार के कड़े नियम पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं, एक माली को वाटिका लगाने से पहिले वनस्पति शास्त्र (Gardenning) का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है, किंतु सन्तान पैदा करने के लिये मानो मनुष्य की मनोकामना ही प्रमाण है, बड़े २ बुद्धिमान् भी इस प्रकार की शिक्षा प्रदान तथा ग्रहण करने को लज्जा का विषय प्रतीत करते हैं, छोटे २ बालक इधर उधर के भ्रान्तिमूलक विचारों से प्रभावित हो कर गुप्त प्रकार से चाहे धीरे २ अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर लें, किन्तु इनको उपयोगी शिक्षा देना घोर अपराध समझा जाता है, क्योंकि यदि उन को काम-विज्ञान (Sexual-Science) का बोध हो गया, तो कहा जाता है, कि वह पतित हो जायेंगे, यदि इस प्रकार की शिक्षा उनके पतन का हेतु हो सकती है, और इस से वञ्चित

रखने में भी उनका कल्याण दृष्टिगोचर नहीं होता, तो फिर अविद्या द्वारा उन का नाश होने की अपेक्षा अच्छा है, कि वह विद्यासम्पन्न होते हुए स्वयं अपने क्षय के लिए उत्तरदायी हों, किन्तु इस बात की ओर ध्यान देना परमावश्यक है, कि उन की शिक्षा उन की आयु तथा अवस्था के अनुसार इस ढंग से दी जाय, कि यथासम्भव उन पर इसका कल्याणकारी प्रभाव पड़े, यह शिक्षा जैसी नवयुवकों के लिए आवश्यक है, वैसे ही युवतियों के लिए भी उपयोगी है, सब से अच्छा तो यह है, कि शिक्षित माता पिता बाल्यावस्था से ही धीरे २ अपने जीवन तथा शुद्ध विचारों के द्वारा उन के मस्तिष्क पर पवित्र संस्कार डालते हुए इस प्रकार से शिक्षा दें, जिससे उनकी आयु वृद्धि के साथ २ उनको धीरे २ काम सम्बन्धी उपयोगी ज्ञान से पूर्ण परिचय हो जाए; और विद्यालयों में भी इसकी शिक्षा का विशेष प्रकार से यथोचित प्रबन्ध किया जाए, ताकि उनको भली भान्ति ज्ञात हो जाए, कि स्त्री पुरुष का संयोग काम वृत्ति की पूर्ति के लिए नहीं, प्रत्युत सृष्टिक्रम की स्थिरता, स्वजातीय रक्षा तथा वृद्धि के निमित्त है, परन्तु प्रकृति ने इस परमावश्यक कार्य में मनुष्य को प्रवृत्त करने के लिए इस में एक विशेष आनन्द सम्मिलित कर दिया है, और साथ ही नियम का उल्लङ्घन करने वाले कामी जनों को मर्यादा के भीतर रहने की शिक्षा देने के लिये जननेन्द्रियों के दुरुपयोग का मूल्य भी जहां उन के शारीरिक क्षय के रूप में अत्यन्त महान् रखा है, वहां उनकी भावी सन्तान को भी इसका भागी ठहराया है, जिस से उन के दुर्गुणों का फल उन की सन्तान को भी भुगतना पड़ता है।

वृक्ष पर लगे हुए फल का पालन पोषण प्रकृति के नियमानुसार धीरे २ होने से उस को पकने में जितना समय लगता है, उस से बहुत कम समय, उसको पकने से पहिले वृक्ष से उतार कर बाहिर के ताप द्वारा पकाने में लगता है. किन्तु जो ओज, स्वाद तथा लाभ वृक्ष पर पके हुए फल में है, वह नीचे उतार कर पकाये हुए फल में नहीं, चाहे देखने में वह कितना सुहावना, और खाने में कितना भी स्वादु प्रतीत हो, इसी प्रकार जब स्त्री-पुरुष बाल्यावस्था से मिरची, मसाले, मांस, अण्डे इत्यादि उत्तेजक पदार्थों का आहार करने लगते हैं, तो उनका रजोदर्शन तथा शुक्र उचित काल से पहिले ही पूर्ण परिमाण को पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं, युवावस्था से पहिले ही उन में कामात्मिक चेष्टाओं का प्रादुर्भाव होने लगता है. और इस प्रकार के उत्तेजक पदार्थों का सेवन करने से बने हुए डिम्ब तथा शुक्र से जहां पैदा होने वाली सन्तान पर कामवासना का प्रभाव पड़ता है, वहां माता पिता का जीवन भी प्रायः विषय भोग का जीवन बना रहता है, किन्तु जिन मनुष्यों का आहार सात्विक होता है, वह स्वयं तथा उनकी सन्तान इस प्रकार के कामयुक्त प्रभावों से सुरक्षित रहते हैं।

मनुष्य को भिन्न २ प्रकार के शुभ तथा अशुभ, वैसे ही शारीरिक तथा मानसिक, कर्म करने के लिये भिन्न २ इन्द्रियों का आश्रय लेना पड़ता है, जो दो प्रकार की हैं, एक बाह्य (External), दूसरे आन्तरिक (Internal), जिन को बाह्यकरण (External Senses) और अन्तःकरण (Internal

Senses) कहते हैं, हमारे कर्ण, त्वचा, नेत्र, रसना (जिह्वा) और घ्राण (नासिका) यह पांच वाह्यकरण या इन्द्रियां कही जाती हैं, और यथाक्रम श्रवण करने, स्पर्श करने,देखने, स्वाद प्रतीत करने, और गंध को सूंघने का कार्य करती हैं, जिस वस्तु अथवा पदार्थ से किसी इन्द्रिय का मेल होता है, वह इस इन्द्रिय का विषय (Object of the sense) कहलाता है, यह विषय असंख्य होते हुए भी मुख्यतः पांच प्रकार के हैं, और हमारा मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार यह चारों मिल कर अन्त:करण बनता है, पांच इन्द्रियों के पांच प्रकार के विषयों से मेल होने पर मनुष्य के अन्त:करण पर भिन्न २ प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं, जिस से वह भिन्न २ प्रकार के कर्म करने में प्रवृत्त होता है।

जब किसी विषय (Object of sense) का किसी इन्द्रिय से संयोग होने से, उस इन्द्रिय की सांवेदनिक नाड़ियों द्वारा उसके नाडी-केन्द्र पर प्रभाव पड़ता है, तो वहां की नाडियां बृहद्-मस्तिष्क के बुद्धि-केन्द्र को इसकी सूचना देती हैं, जिस पर बुद्धि-केन्द्र का जो विशेष सेल-समूह उसके सम्बन्ध में चिन्तन करने लगता है, उसे मन (Mind) कहते हैं, यहां से नाड़ियां मन के चिन्तन के परिणाम को बुद्धि-केन्द्र के दूसरे भाग को पहुंचा देती हैं, जो मन के विचारों पर तरक (Reasoning) द्वारा निर्णय कर के उस इन्द्रिय-विषय की उपयोगता तथा अनुपयोगता को ज्ञात करता है, इसे बुद्धि कहा जाता है, बुद्धि के परिणाम को शरीर पर राज्य करने

वाला और इसकी गतियों तथा चेष्टाओं को मर्यादा में रखने वाला अहङ्कार रूपी लघु मस्तिष्क ग्रहण करके और इसके निर्णय पर समालोचना करके अपने अन्तिम निर्णयके अनुसार शरीरके इष्ट-प्रदेश में चालक नाड़ियों द्वारा आज्ञा भेज देता है, और उसके अनुसार विशेष पेशी समूह में विशेष प्रकार की चेष्टायें होने लगती हैं, जिन को **शारीरिक-कर्म** कहा जाता है, और जब वाह्य-इन्द्रिय का किसी विषय से संयोग होने के बिना अन्तः-करण में चिन्तन इत्यादि की क्रियायें होती हैं तो यह मानसिक कर्म कहलाता है।

इसके साथ ही मनुष्य की वाह्य-इन्द्रियां, मन, तथा बुद्धि पृथक्२भी लघु-मस्तिष्क में स्थित चित्त नामक विशेष भाग पर अपना २ प्रभाव डालते रहते हैं, जिन को **संस्कार** (Unconscious impressions) कहा जाता है,एक ही प्रकारके संस्कार बार २पड़ने से दृढ़ हो जाते हैं,जिनसे मनुष्य का स्वभाव बनता है,इसके अतिरिक्त मन तथा बुद्धि की क्रियायें पृथक्२ इन पर भी अपना संस्कार छोड़ जाती हैं,यह सब प्रकारके संस्कार मिलकर मनुष्य की स्मृति बनाते हैं, यह संस्कार तथा स्मृति ही मिल कर मनुष्य जीवन के संचालक हैं, और मनुष्य स्वप्न में जो भिन्न २ प्रकारके दृश्य देखता है,वह भी इनका ही परिणाम है।

उपरोक्त कथन से सिद्ध होता है,कि यदि मनुष्य कामात्मिक विचारों का चिन्तन, वर्णन तथा श्रवण और इसी प्रकार की पुस्तकों का पठन पाठन करता है, यदि कामोत्तेजक चित्र, नाटक, तथा सिनेमा (Cinema) इत्यादि के समान दृश्य

देखता है, तो संस्कार रूप में उन का प्रभाव मनुष्य के चित्त पर पड़ता रहता है, जिस से जागृत दशा में उस की काम वासना प्रज्वलित होने लगती है, और स्वप्न में इसी प्रकार के दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं, जिस से स्त्री पुरुषों के वीर्य का नाश होने लगता है, और वह कई प्रकार के जननेन्द्रियों के गुप्त रोगों में ग्रस्त हो जाते हैं, जो लोग यह समझते हैं, कि उन पर इस प्रकार के दृश्यों इत्यादि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह वास्तव में अपने आप को धोका देते हैं, जिन का यह विचार है, कि धार्मिक तथा शिक्षा दायक नाटक तथा सिनेमा देखने लाभकारी हैं, उन से भी मेरा मतभेद है, क्योंकि जब भी कोई घटना नाटक तथा सिनेमा के रूप में आती है, तो उस को मनोरञ्जक बनाने के लिये उस में शृङ्गार रस का आवेश करना ही पड़ता है, देखने तथा दिखलाने वाले मनुष्यों की निद्रा भङ्ग होती है, नेत्रों पर भी हानिकारक प्रभाव पड़ता है, और चित्त पर इनके उत्तेजक संस्कार पड़ते रहने से जहां मनुष्य को इनके देखने का व्यसन पड़ जाता है, वहां व्यर्थ धन का नाश होता है, और दुराचारी जनों को इन के द्वारा कई नवयुवकों तथा देवियों को पतित करने का अवसर मिलता है, इसी प्रकार उत्तम से उत्तम उपन्यासों तथा नाटकों इत्यादि की पुस्तकों के पढ़ने का भी प्राय: दुष्परिणाम होता है।

इन दिनों इस देश में बालकों तथा कन्याओं की स्कूलों तथा कालेजों में एक साथ शिक्षा पर बड़ा ज़ोर दिया जा रहा है, कहा जाता है, कि उन के एकत्र पढ़ने से उन के आचार

तथा विचार पर अत्युत्तम प्रभाव पड़ता है, पश्चिमी देशों में लोगों को जो अनुभव हुआ है, उस ने वहां के विद्वान् तथा विचारशील जनों को इस प्रकार की शिक्षा के विरुद्ध कर दिया है, किन्तु हम यहां एक नया अनुभव करना चाहते हैं यहां भी कई बुद्धिमान् जन ऐसे हैं, जो वर्तमान अवस्था को देखते हुए इस परिणाम पर पहुँचे हैं, कि इस देश में युवकों तथा युवतियों की एक साथ शिक्षा हानिकारक सिद्ध हो रही है, परन्तु पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित हुये २ हमारे नेता तथा शिक्षित जन इसी में देश तथा जाति का कल्याण प्रतीत करते हैं, और हमारी देवियां भी इसी में अपना लाभ समझती हैं, कि वह लड़कों के समान उन के साथ २ उसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करें, जो उन को (लड़कों को) दी जाती है, और सत्य यह है, कि उपयोगी शिक्षा से दोनों ही वञ्चित तथा कोरे रखे जाते हैं, मैं इस विचार से भी इन की पृथक शिक्षा को अधिक उपयोगी समझता हूं, कि उन को काम-विज्ञान की शिक्षा देने के लिये कन्याओं को स्त्रियां, और बालकों को पुरुष ही पूर्ण उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, और यह शिक्षा अधिक लाभकारी तभी सिद्ध हो सकती है, जब दोनों के लिये पृथक् शिक्षा का प्रबन्ध हो, इस से मेरा यह तात्पर्य नहीं, कि स्त्रियों को परदे में रखा जाये, और स्त्री पुरुषों को परस्पर मिलने का अवसर ही न दिया जाये, जो असम्भव तथा अनुचित है, मेरा यह विचार अवश्य है, कि जो लोग अपनी स्त्रियों को घोर परदे के भीतर रखते हैं, वह यदि परदे को उचित प्रतीत करते हैं, तो उन

पुरुषों के साथ परदा न रखने वाली स्त्रियों का मेल हानिकारक है, या तो वह अपनी स्त्रियों में से परदे को दूर करें, अन्यथा वह परदा-रहित स्त्रियों से मिलना भी पाप समझें, मैं उन लोगों से स्त्रियों का मेल भी हानिकारक समझता हूं, जो कामी तथा व्यभिचारी हैं, जिन की संस्कृति (Culture) उन को देवियों का आदर, मान, पूजा तथा रक्षा करना नहीं सिखाती, जो स्त्रियों पर अत्याचार करके भी अपनी काम वासना को तृप्त कर लेना पुण्य प्रतीत करते हैं. और जिन का सङ्कल्प यही है, कि वह दूसरों की कन्याओं तथा स्त्रियों को किसी न किसी प्रकार प्रलोभन देकर अपने वशीभूत करें, क्योंकि ऐसे ही पुरुष स्त्रियों को पतित करने वाले हैं, यदि पुरुष कामी वा दुराचारी न हों, तो स्त्रियों पर कुसंस्कारों का पड़ना कठिन है, इन दिनों ऐसी भी कई सभाएं सुनने में आती हैं, जिन्हों ने स्त्री पुरुषों के परस्पर मेल व स्वतन्त्रता, और भिन्न २ जातियों की एकता, के उद्देश्य को सन्मुख रखते हुये, विना रोक टोक युवक तथा युवतियों को परस्पर मिलने का अवसर दे रखा है, जो कामीजनों की काम वासना की तृप्ति का साधन बन रही हैं, इसी प्रकार उनका अपने बन्धुओं से पृथक् परस्पर मिल कर यात्रा करना, और नाटक इत्यादि के प्रयोगों में भाग लेना, इस प्रकार की बातें चाहे बड़े गौरव की प्रतीत हों, वास्तव में यह भी काम वासना की उत्तेजक, और कामी जनों की इच्छा पूर्ति का एक साधन हैं।

लोग प्रायः जननेन्द्रियों की उत्तेजना में शारीरिक शक्ति प्रतीत करते हैं, उनके विचार में जितनी अधिक इन में उत्तेजना होगी, उतना ही वह मनुष्य बलवान् होगा, इसलिये वह प्रायः ऐसे

भोज्य पदार्थ तथा औषधि इत्यादि का उपयोग भी करते रहते हैं, जिन से यह अधिक उत्तेजित हों, किन्तु इन उत्तेजक पदार्थों के सेवन करने से मनुष्य का रक्त उत्तेजित होकर नाडी-मण्डल को उत्तेजित करता है, जिससे अन्तःकरण पर काम वासना का तीव्र प्रभाव पड़ता है, अतएव जननेन्द्रियों में उत्तेजना पैदा होने से वहां रक्त का प्रवाह बड़े वेग से आने लगता है, जिस से शिश्न में (जैसा कि गत पृष्ठों में वर्णन किया जा चुका है) प्रहृष्टता (Erection) होती है, और पुरुष की शुक्र-ग्रन्थियां तथा शुक्र कोष, और स्त्री की गर्भाशय की श्लैष्मिक-कला तथा योनि-ग्रन्थियां उत्तेजित होने लगती हैं, उन में संभोग की कामना प्रचण्ड होती है, जिस का परिणाम मैथुन, स्वप्न-दोष, तथा हस्त-मैथुन इत्यादि के द्वारा वीर्य का पतन होता है, जिससे अत्यन्त उत्तेजित हुये २ नाडी-मण्डल के एकैक शिथिल हो जाने से मनुष्य शरीर में कुछ निर्बलता प्रतीत करता है, इस से ज्ञात होता है. कि स्त्री पुरुष के शिश्न की प्रहृष्टता रक्त प्रवाह के अधिक होने के कारण होती है, इसका मनुष्य की शक्ति से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं, जो जन परस्पर अधिक संभोग अथवा हस्तमैथुन करते हैं, या जिन की कामवासना के अन्तःकरण पर अतीव प्रभाव पड़ने से अतिमात्रा में स्वप्न-दोष होते रहते हैं. उन के शिश्न की शिरायें, धमनियां, तथा शिश्न प्रहर्षणी-पेशी के निर्बल हो जाने के कारण रक्त-प्रवाह में कोई रोक न होने से, शिश्न में प्रहृष्टता नहीं होती, और वीर्य के अति मात्रा में बहने के कारण शुक्र-ग्रन्थियां शुक्र बनाने का असाधारण काम करते २ निर्बल हो जाने से, वीर्य पतला पड़ जाता

है, और स्त्री पुरुष की जननेन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाली नाडियां शिथिल हो जाती हैं, जिस का अन्तिम परिणाम यह होता है, कि तनक काम वासना की उत्तेजना से वीर्य का पतन हो जाता है. कई वार तो केवल प्रोस्टेट-ग्रन्थि तथा शिश्न ग्रन्थियों का रस ही निकलता है, और लोग उस को भूल से वीर्य समझ लेते हैं, इससे सिद्ध होता है, कि शिश्न की प्रहृष्टता तथा मनुष्य की शक्ति का परस्पर कोई विशेष सम्बन्ध नहीं, शिश्न की प्रहृष्टता मूत्राशय तथा मलाशय में मल तथा मूत्र भर जाने के कारण भी हो जाती है, क्योंकि इन के दबाव पड़ने से शिश्न में रक्त का प्रवाह अधिक हो जाता है, और साथ ही इन का दबाव शुक्राशय तथा गर्भाशय पर पड़ने से थोड़ी सी स्वप्न इत्यादि में काम की उत्तेजना से वीर्य पतन की सम्भावना होती है, यही कारण है, कि मनुष्यों के शिश्न में रात्रि को शयन करते हुये प्रातःकाल चार बजे के लगभग प्रायः शिश्न में प्रहृष्टता होती है, यदि उस समय जागृत होकर मूत्र तथा मल विसर्जन कर दिया जाये, तो दबाव के दूर हो जाने से शिश्न स्वयमेव शिथिल हो जाता है, यही कारण है, कि स्वप्नदोष प्रायः प्रातःकाल चार बजे के समय होते हैं, इस से स्पष्ट होता है, कि इस समय जागृत होकर मल मूत्र विसर्जन करना कितना आवश्यक है, छोटे २ बालकों के शिश्न में जो प्रहृष्टता देखी जाती है, वह काम की उत्तेजना द्वारा नहीं, प्रत्युत मल-मूत्र के एकत्र हो जाने के कारण है, अधिक आहार द्वारा आमाशय भरे रहने से और कबज़ी के कारण भी बहुधा यही परिणाम होता है, किन्तु

इस का प्रभाव अधिकतर रात्रि के समय होता है, इसलिये मित आहार, दोनों काल भोजन से पहिले मल विसर्जन, और शयन के समय मूत्र त्याग करना वीर्य रक्षा के उद्देश्य से भी लाभदायक है, रात्रि को भी यदि कभी मल मूत्र त्यागने की चेष्टा पैदा हो, उस में लेश मात्र भी आलस्य करना उचित नहीं।

पृष्ठवंश पर दबाव पड़ने से जननेन्द्रिय सम्बन्धी नाड़ियों की उत्तेजना के कारण भी स्वप्न-दोष होने का भय है, इस कारण पृष्ठ पर शयन करना हानिकारक बताया जाता है।

इस समय तक मैंने कुछ ऐसे कारणों को प्रकट करने का यत्न किया है, जो ब्रह्मचर्य की रक्षा में विघ्न सिद्ध होते हैं, इन की ओर से सावधान रह कर मनुष्य वीर्य-रक्षा कर सकता है, किन्तु इन से पूर्ण रक्षा होना असम्भव है, क्योंकि शुक्र ग्रन्थियां और डिम्ब-ग्रन्थियां जो रस बनाकर रक्त प्रवाह द्वारा शरीर में विभक्त होने के लिये भेजती हैं, यदि शरीर में उसका पूरा २ आत्मीकरण न हो, तो यह ग्रन्थियां इस रस को कम बनाती हैं, और शुक्र इत्यादि बनाने में लगी रहती हैं, जिस से मनुष्य के शरीर में ओज कम और काम की उत्तेजना अधिक पैदा होती है, इस ओजस्वी रस का पूर्ण आत्मीकरण होने के लिये शरीर में इस की पूर्ण मांग होनी आवश्यक है, जितनी मात्रा में इस की मांग होगी उतनी मात्रा में योग द्वारा उसका आत्मीकरण होगा, चूंकि यह रस विशेषतः नाडी-मण्डल की उपयोगता के लिये प्रयुक्त होता है, इसलिये इन नाडियों में रक्त की मांग जितनी अधिक होगी, उतना ही रक्त द्वारा इस

रस का आत्मीकरण अधिक मात्रा में होगा, जिस के लिये इस प्रकार के उपयोगी व्यायाम की आवश्यकता है, जो नाडी-मण्डल पर गहरा तथा स्वस्थ प्रभाव डाल सके, और इस पुस्तक के पढ़ने से पाठकों को ज्ञात हो गया होगा, कि इस के लिये योगिक व्यायाम के समान कोई दूसरा व्यायाम लाभकारी प्रतीत नहीं होता, और मुझे स्वयं अनुभव द्वारा भी यही सिद्ध हुआ है।

मनुष्य की काम-वासना तथा जननेन्द्रियों पर, कण्ठ में स्थित चुल्लिका ग्रन्थि, अधिपति मर्म अर्थात् पिट्युट्री ग्रन्थि (Pituitary gland), जो लघुमस्तिष्क और बृहद् मस्तिष्क की सन्धि के स्थान में विद्यमान है, और बृहद् मस्तिष्क के अग्र भाग में स्थित पीनिअल ग्रन्थि (Pineal gland), इन तीनों का अत्यन्त प्रभाव पड़ता है, और साथ ही इन पर भी मनुष्य की अन्तरीय जननेन्द्रियों का प्रभाव पड़ता है, इन ग्रन्थियों में दोष आ जाने से स्त्री पुरुषों में कामाग्नि प्रज्वलित होने लगती है, और इन के यथायोग्य कार्य करने से मनुष्य जितेन्द्रिय होता है, जिससे यह ग्रन्थियां ओजसम्पन्न होती हैं, योग के आसनों द्वारा केवल यही नहीं, कि हम इन को ठीक अवस्था में रख सकते हैं, प्रत्युत यदि इन में किसी प्रकार का विकार आगया हो, तो उसको भी दूर कर के इनको फिर स्वस्थ अवस्था में ला सकते हैं।

लोगों का प्रायः यह विचार है, कि योग के आसन इत्यादि का अभ्यास करने से स्त्री-पुरुष सन्तान पैदा करने के अयोग्य

हो जाते हैं, परन्तु सत्य यह है, कि इनके कई प्रकार के जननेन्द्रियों के पुराने से पुराने गुप्त रोग भी योग द्वारा दूर हो सकते हैं, बांझ स्त्रियां तथा नपुंसक पुरुष सन्तान उत्पन्न करने के योग्य हो सकते हैं, यहां तक कि जो जन जन्म से ही माता पिता द्वारा जननेन्द्रियों की ओज सम्बन्धी निर्बलता लेकर पैदा हुए हैं, वह भी इस के अभ्यास से धीरे २ पूर्ण ओज सम्पन्न हो जाते हैं, किन्तु यह अवश्य है, कि योग द्वारा मनुष्य की काम वृत्तियां स्वयमेव नियमित अवस्था में आने लगती हैं, और काम उपभोग की प्रचण्ड उत्तेजना शान्त होने से स्त्री-पुरुषों के जननेन्द्रियों के रस विशेषतः शारीरिक-शक्ति की वृद्धि में प्रयुक्त होने लगते हैं नियमित गृहस्थ जीवन में उन को विषय भोग के जीवन की अपेक्षा अधिक आनन्द प्रतीत होता है, और वास्तव में ब्रह्मचर्य के निःसीम आनन्द को अनुभव भी वही कर सकता है, जिसने योग द्वारा इन्द्रियदमन से काम-वासना को वशीभूत कर लिया है, काम वृत्ति में लीन हुए २ जन इसकी महिमा का क्या अनुभव कर सकते हैं?

जहां योग अविवाहित जनों को अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करने योग्य बना देता है वहां गृहस्थों को ऋतु-गामी होने की शक्ति प्रदान करता है, जिसका तात्पर्य यह है, कि स्त्री के आर्तव से निवृत्त होने के पश्चात् पति पत्नी उत्तम गुणों से सम्पन्न सन्तान पैदा करने की इच्छा से शुद्ध भावों से प्रेरित होकर मास में केवल एक बार किसी दिन परस्पर संभोग करें, और दूसरे मास आर्तव होने से यह ज्ञान करके कि 'गर्भस्थिति नहीं हुई', फिर दूसरे मास उसी प्रकार संभोग करें, और यदि

आर्तव बन्द हो जाये, तो इसको गर्भाधान का चिह्न प्रतीत करते हुए उस समय तक मैथुन इत्यादि का कोई कर्म भी ऐसा न किया जाये जिस से कि भ्रूण (Embryo) को किसी प्रकार की हानि पहुंचे, माता अपने शुद्ध व पवित्र मानसिक विचारों से गर्भ-स्थित बालक पर शुभ प्रभाव डालने की चेष्टा करती रहे, उसका आहार पूर्ण सात्विक हो, इस प्रकार भावी बालक की यथायोग्य रक्षा करते हुए,माता पिता उस समय तक ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करें, जब तक कि बालक का जन्म हो कर माता पूर्ण शक्ति तथा बल को प्राप्त न कर ले, इस प्रकार जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थ भी ब्रह्मचारी कहलाते हैं, इसी को ऋतु गमन कहते हैं, और इस प्रकार का आचरण करने वाले स्त्री पुरुष ऋतुगामी कहे जाते हैं, किन्तु ऐसा कठिन संयम तभी हो सकता है, जब मनुष्य का आहार तथा आचार और विचार शुद्ध हों, योग के अभ्यास द्वारा जिनकी काम उत्तेजक वासना स्वयमेव शान्त हो गई हो, वही जन इसके असीम आनन्द को अनुभव कर सकते हैं, क्योंकि योगाभ्यासी स्त्री पुरुषों को बिना काम चेष्टा के परस्पर सहवास करने से जो अक्षय आनन्द प्राप्त होता है, मैथुन द्वारा उसकी उपलब्धी की कांक्षा करने वाले उस का स्वप्न भी नहीं देख सकते।

वर्तमान काल में एक विचार तरङ्ग, जिस को जन्म देने का सौभाग्य पश्चिम को प्राप्त हुआ है, इस प्रकार की चल रही है, जो मनुष्यों को ऐसे उपायों का प्रयोग करने की प्रेरणा करती है, जिन से उन की काम उपभोग की इच्छा भी तृप्त हो जाये,

और सन्तान उत्पत्ति भी न हो, जिसे वश की सन्तान, (Birth control) का नाम दिया जाता है, हमारे देश में भी कई लेखकों ने इस पर पुस्तकें लिखी हैं, किसी २ ने तो इस को ब्रह्मचर्य की पदवी दे दी है, और शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करने का यत्न किया है, कि प्राचीन पुस्तकों में भी इस का विधान मिलता है, हमारे देश की विदुषी स्त्रियां अपनी सभाओं में प्रस्ताव द्वारा यह अनुरोध कर रही हैं, कि उन के लिये इस की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाये, और यह इस हेतु से परमावश्यक समझा जाता है, कि लोगों की आर्थिक दशा ऐसी नहीं कि वह सन्तान का अधिक संख्या में पालन पोषण कर सकें, और साथ ही काम वासना को रोकना उनके लिये असम्भव है, तो फिर क्यों न वह ऐसी विधि का प्रयोग करें, जिससे सन्तान भी उत्पन्न न हो, और काम वृत्ति की भी पूर्ति हो जाये, किन्तु जिन्हों ने इन उपायों का प्रयोग किया है, उन का प्रायः यह अनुभव है, कि इस प्रकार के प्रयोगों द्वारा संभोग करने से मन को आनन्द की प्राप्ति नहीं होती, और सन्तान उत्पत्ति पर भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, यदि सन्तान उत्पत्ति को इन के द्वारा रोकना संभव भी हो, तो भी मनुष्यों की अवस्था संतोषजनक नहीं हो सकती, जब तक कि दुःखों की मूल आर्थिक दशा का सुधार न हो, क्योंकि आर्थिक प्रश्न तो दिन प्रतिदिन अधिक से अधिक भयानक रूप धारण करता चला जाता है, जिस से प्रतीत होता है, कि कोई समय ऐसा आजायगा कि मनुष्य को आत्मघात के विना दूसरा कोई मार्ग ही दृष्टिगोचर न होगा, और काम वासना को तृप्त करते २ ओज

के निरन्तर नष्ट होते रहने से मनुष्य का शारीरिक पतन भी पराकाष्ठा को पहुँच जायगा, सन्तान के पालन पोषण के कष्ट से मुक्त होने की इच्छा करने वाले मनुष्य की उस अवस्था में क्या गति होगी, इस का भी क्या किसी ने अनुमान किया है ? साथही इस दशा में जो भी सन्तान पैदा होगी उसकी निर्बलता का उत्तरदायी कौन होगा ? और इसका मनुष्य समाज तथा भावि सन्तान पर जो दुष्प्रभाव पड़ेगा, उस पाप का भागी कौन बनेगा ? क्या वह माता पिता अधिक दुःखी हो सकते हैं, जो स्वय पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये हृष्ट-पुष्ट तथा बलवान् सन्तान के जन्मदाता हों, अथवा वह जो स्वय विषयभोग में लीन हुए २ रुग्ण शरीर सन्तान पैदा करें ? जो लोग केवल सन्तान के जन्म को रोककर विषय-आसक्ति को ब्रह्मचर्य समझते और शास्त्रों के प्रमाणों अथवा युक्ति द्वारा इस को उपयोगी सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, उन को इस के दुष्परिणाम की ओर भी दृष्टि देना उचित है. इन्द्रिय संयम करते हुए कम से कम सन्तान पैदा करने में जो गौरव तथा आनन्द है, वह इन कृत्रिम उपायों के प्रयोगों में कहां ?

जहां काम वासना में लीन होना हानिकारक है, वहां मन में उत्तेजित होती हुई इस वासना को सर्वथा हठ पूर्वक दबाने का यत्न करना भी कई प्रकार के रोगों का मूल है. क्योंकि इस से मनुष्य नाडी-मण्डल तथा जननेन्द्रियों को उत्तेजित करके मानों उन में विषय भोग की अत्यन्त क्षुधा पैदा करते हुये, उन को आहार से वञ्चित रखता है, यदि इसी प्रकार

नित्य उत्तेजना होती रहे तो धीरे २ चेतना नाडियां निर्बल होती जायेंगी,जिस का परिणाम यह होगा कि शरीर के भिन्न २ विभाग अपना कर्तव्य पालन करने में असमर्थ होते जायेंगे, और कब्ज़ी मस्तिष्क की निर्बलता इत्यादि रोगों का प्रादुर्भाव होने लगेगा. इसी प्रकार बाह्येन्द्रियों को लोकलज्जा इत्यादि के कारण रोक कर मन में काम उत्तेजक विषयों का चिन्तन करना भी हानिदायक है. योगाचार्य इस को मानसिक मैथुन कहते हैं, याज्ञवल्क्य स्मृति में आठ प्रकार का मैथुन कहा गया है:—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
एतद्विरहितं रूपं ब्रह्मचर्यमुदाहृतम् ॥

अर्थः—

"विषय कामना के भाव से किसी व्यक्ति का मन में स्मरण करते रहना,उस के विषय में मित्रों से वार्तालाप करना,उस के प्रति उपहास इत्यादि क्रीड़ा करना,उस में दृष्टि लगाये रखना,उस के साथ एकान्त में कामात्मिक बातें करना,मन में परस्पर संभोग का दृढ़ निश्चय करना, मनोकामना की पूर्ति के लिये प्रयत्न तथा पुरुषार्थ करना, और विषय कामना को तृप्त करने के लिये परस्पर संभोग करना,बुद्धिमान् यह आठ प्रकार का मैथुन कथन करते हैं, इन उक्त बातों से रहित ब्रह्मचर्य कहलाता है।"

यदि मनुष्य काम चेष्टा को वशीभूत करना चाहता है, तो

उस के लिये उचित है, कि वह योग का अभ्यास करते हुये काम वासना को शुद्ध व पवित्र प्रेम तथा भक्ति में परिणत कर दे, और अपने आपको सदा सत्सङ्ग (Healthy environments) में लगाये रखे, चूंकि प्रेम तथा काम में अत्यन्त सूक्ष्म भेद है, इसीलिये कई विद्वान् प्रेम को भी काम निवृत्ति का एक प्रकार कथन करते हैं, उन के विचार में माता का सन्तान से प्रेम भी काम वासना की प्रेरणा का परिणाम है, क्योंकि उस का सन्तान के प्रति आलिङ्गन तथा चुम्मन इत्यादि क्रियाओं द्वारा आनन्द अनुभव करना वास्तव में काम ही है, इस में सन्देह नहीं, कि यदि हम केवल इन क्रियाओं को सन्मुख रखें, तो काम तथा प्रेम में कुछ भेद प्रतीत नहीं होता, किन्तु यदि हम माता के शुद्ध तथा पवित्र भाव और इन के परिणाम पर दृष्टि दें, तो इन दोनों में महान् अन्तर प्रतीत होता है, काम से प्रभावित होकर यह क्रियायें मैथुन के उद्देश्य से की जाती हैं, और इन का परिणाम मनुष्य के वीर्य तथा ओज का क्षय होता है, परन्तु प्रेम का अभिप्राय एक व्यक्ति का दूसरे के प्रति अपने मन की शुभभावना तथा सम्बन्ध की घनिष्ठता को प्रकट करता है, और यदि यह केवल इन्द्रिय सन्तुष्टि के लिये किया जाय, तो यह प्रेम के रूप में काम ही है, और लोग प्रायः इसी प्रकार का प्रेम करते हैं, एक और बात जो काम को इस से पृथक करती है, वह यह है, कि प्रेम परस्पर एक दूसरे की व्यक्तिगत उन्नति तथा रक्षा का और काम सन्तान उत्पत्ति द्वारा स्वजातीय रक्षा तथा उन्नति का हेतु है, यदि मनुष्य काम को केवल विषय उपभोग का साधन बनाता है,तो यह निकृष्ट प्रकार का काम है ।

जब प्रेम की मात्रा अत्यन्त पराकाष्ठा को पहुंच जाती है, और मनुष्य अपने आप को किसी महान् दिव्य गुणों से युक्त, निष्काम तथा परोपकारी व्यक्ति में आत्मिक उन्नति के हेतु लीन कर देता है, उस के जीवन तथा आत्मा को उच्च करने वाले आचरण को अपने जीवन में धारण करता है. और उच्च कोटि की अध्यात्मिक पुस्तकों के स्वाध्याय तथा योगाभ्यास में अपने आप को मग्न कर देता है, तो यह भक्ति कहलाती है, भक्ति, प्रेम तथा काम इन में एक सामान्य बात सदाचार है, जिस के विना यह तीनों निरर्थक हैं।

जो लोग लङ्गोट इत्यादि बान्ध कर ब्रह्मचर्य की रक्षा करना चाहते हैं, वह जननेन्द्रियों पर इस के द्वारा दबाव डालते हुये इन को शिथिल कर लेते हैं, किन्तु वीर्य रक्षा करने में सफल नहीं हो सकते, इस लिये मैं लङ्गोट बांधना हानिकारक प्रतीत करता हूं।

जिन को किसी न किसी प्रकार वीर्य का पतन होते रहने से शारीरिक निर्बलता होने के कारण चिन्ता लगी रहती है, वह दिन प्रतिदिन उन की अपेक्षा अधिक सत्ता-हीन होते जाते हैं, जो इस की चिंता नहीं करते, जो डाक्टर तथा वैद्य इत्यादि इन लोगों को भयानक बातें सुना २ कर भयभीत कर देते हैं, ताकि वह उन की औषधियों का प्रयोग करें, वह गुप्त रूप में उन के शत्रु हैं, मेरा यह दृढ़ निश्चय है, कि कोई औषधि भी मनुष्य के वीर्य की रक्षा नहीं कर सकती, हां वैद्य तथा डाक्टर इत्यादि अथवा इश्तिहारी और बाज़ारी झूठे वैद्य व डाक्टर कोई भी उत्तेजित करने वाली औषधि देकर

मनुष्य की जननेन्द्रियों में उत्तेजना भले ही पैदा कर दें, और मनुष्य इस को भूल से वीर्य की शक्ति प्रतीत करने लगे, किन्तु यह ओषधियें मनुष्य में ओज की स्थिरता तथा रक्षा नहीं कर सकतीं, और न ही वीर्य के नाश को स्थायी रूपमें सुरक्षित करने में सहायता कर सकती हैं, और भयभीत हुआ २ मनुष्य व्याकुल होने लगता है, किंतु इस को अपने आप को सावधान रखते हुये सर्वथा निश्चिन्त रहना चाहिये, चाहे उस के ओज, वीर्य, तथा शक्ति का कितना भी क्षय हो चुका हो, या हो रहा हो, परंतु इस का तात्पर्य यह नहीं कि वह निराश तथा पुरुषार्थ-हीन हो जाये, प्रत्युत यह कि वह योग के उपयोगी व्यायाम का अभ्यास करे, जनन इन्द्रिय में हस्त के स्पर्श इत्यादि द्वारा स्वयं उत्तेजना पैदा न करे, और दूसरी हानिकारक बातों का सर्वथा परित्याग करके योग के नियमानुसार अपना जीवन व्यतीत करे, इस प्रकार जीवन की ओर से निराश हुआ २ मनुष्य भी फिर यौवन काल के समान शक्ति तथा बल और अक्षय सौन्दर्य को प्राप्त कर सकता है।

कई लोगों का विचार है, कि स्त्री के आर्तव के समान पुरुष के वीर्य का मास में एक बार पतन स्वभाविक है, यदि यह यथार्थ है, तो आर्तव के समान इस का समय भी नियत होना चाहिये, और यदि दो चार मास पर्यन्त इस का पतन न हो, तो यह एक प्रकार का पुरुष का रोग समझा जाये, किन्तु ऐसा नहीं होता, इस लिये उक्त विचार सत्य प्रतीत नहीं होता, अनुकूल वायुमण्डल में जीवन व्यतीत करते हुये, योगिक नियमों का यथा योग्य अनुकरण करने से पुरुष पूर्ण रीति से वीर्य की

रक्षा कर सकता है, और आयु पर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करते हुये, जीवन को दूसरों के हित के लिये अर्पण करके वीर्य को मस्तिष्क की वृद्धि, दिव्य-शक्ति के विकाश, तथा शारीरिक व आत्मिक उन्नति में प्रयुक्त करके, इस को अधःपतन से बचा सकता है।

मनुष्य की वीर्य रक्षा के मार्ग में सब से बड़े विघ्नकारी वह कामात्मिक संस्कार हैं, जो दृढ़ होकर उस को विवश कर देते हैं, और वह घोर प्रयत्न करने पर भी उन से मुक्त होने के असमर्थ हो जाता है, विशेष करके रात्रि के समय यह अत्यन्त तीव्र रूप धारण कर लेते हैं, जितना वह इन से बचने की चेष्टा करता है, उतने ही वह प्रचण्ड वेग से अपना प्रभाव डालते हैं.सब से अधिक हानिकारक संस्कार स्त्री पुरुषों के हस्त-मैथुन वा स्वप्न-दोषके रूप में प्रकट होता है,जिसके दृढ़ होजाने से मनुष्य को इस का परित्याग असम्भव प्रतीत होने लगता है, और कई बार निराश होकर मनुष्य आत्मघात करने पर उद्यत हो जाता है. किन्तु इस प्रकार हताश होने के स्थान पर मनुष्य को इस से निवृत्त होने का उपाय ढूंडना उचित है, जिस से उस के दृढ़ संस्कार धीरे २ मस्तिष्क से क्षीण होते जायें, जिस का सब से उत्तम साधन उन के विरुद्ध अभ्यास करना है, इस का तात्पर्य यह नहीं. कि उनका विरोध किया जाये ऐसा करने से उन की स्मृति बनी रहने के कारण उन के प्रभाव से निवृत्त होना कठिन है, जब तक कि उन के जन्म देने वाली वासना का ह्रास न हो, जिसने अपने मन में विशेष

प्रकार की विषय-कामना की तृप्ति में ही अपना कल्याण तथा परमानन्द समझ रखा है, उस के लिये इस से मुक्त होने का केवल यह साधन है, कि उस विषय वासना को तृप्त करने से पैदा होने वाले अत्यन्त दुष्परिणाम का बार २ निरन्तर चिन्तन किया जाये, जिस से मन में धीरे २ उस विषय के त्याग का भाव पैदा होगा. जितना यह भाव दृढ़ होता जायगा, उतना ही मनुष्य में उस को सेवन करने में अरुचि बढ़ती जायगी, और उतना ही अन्तःकरण के संस्कार ढीले होते जायेंगे, जिस से अन्त में मनुष्य पूर्ण विजय को प्राप्त करेगा, किन्तु इस के लिये यह परमावश्यक है, कि मनुष्य धैर्य को स्थिर रखे. निराशता लेशमात्र भी उस के मन में न आये, जब तक उस का मनोरथ सफल न हो, तब तक बराबर उत्साह-पूर्वक प्रयत्न तथा पुरुषार्थ करता चले, इन संस्कारों पर विजय प्राप्त करने, ब्रह्मचर्य को स्थिर रखने, तथा भिन्न २ प्रकार के जननेन्द्रियों के रोग दूर करने के लिये परमोपयोगी आसनों तथा प्राणायाम का यथोचित उल्लेख आगामी पृष्ठों में आसन तथा प्राणायाम के प्रकरण में किया जायेगा।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहिले इस पक्ष की ओर ध्यान देना अनुचित न होगा, कि विवाह का गौरव इस बात में नहीं, कि इस को जीवन-पण्य (सौदा) बनाया जाये, प्रत्युत इस में, कि इस को पवित्र तथा अटूट सम्बन्ध समझा जाये, जिस कठिनाई को सन्मुख रख कर तलाक (Divorce) की आवश्यकता प्रतीत होती है, उस का दूर होना तो कहां, उस

के साथ और कई प्रकार के, उस से भी हानिकारक सामाजिक रोग पैदा हो गये हैं, इस पर विचार करने के लिये पश्चिमी देशों में कई महत्वपूर्ण सम्मेलन हुये, जिन में यह निश्चय किया गया, कि सामाजिक जीवन के आदर्श को उच्च करने, तथा विवाह के गौरव को बढ़ाने, और तलाक के दुष्परिणाम को रोकने के लिये इस का त्याग करना ही उचित है. इस में सन्देह नहीं, कि वर्तमान काल में हमारे गृहस्थ नरक के समान होरहे हैं. किन्तु इस का कारण गृहस्थधर्म सम्बन्धि अविद्या तथा वर्तमान अवस्था है. इसी कारण अपनी इच्छा पूर्वक सुशिक्षित वधू तथा वर परस्पर विवाह सम्बन्ध करके भी दुःखी हैं, और उन का गृहस्थ-जीवन क्लेशमय हो रहा है, विशेष करके स्त्रियों को अधिक आपत्ति तथा कष्ट सहन करने पड़ते हैं, इस से निवृत्ति का उपाय केवल सामाजिक सुधार और स्त्री पुरुषों की उपयोगी शिक्षा का प्रबन्ध है, न कि तलाक, कामवश होकर परस्पर इच्छा पूर्वक किया हुआ विवाह पहिले चाहे कितना भी मनोरञ्जक प्रतीत हो, अन्त में प्रायः दुःखदायी सिद्ध होता है।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है, कि स्त्री पुरुष का सम्बन्ध एक पवित्र तथा उत्तम उद्देश्य को पालन करने के लिये है, जिसका पालन पूर्णरीति से तभी हो सकता है, जब विवाह ब्रह्मचर्य की पूर्ण रक्षा करने वाले, यौवन दशा को प्राप्त, सौम्य गुणों से सम्पन्न, कन्या तथा वर की रुचि अनुसार माता पिता की सम्मति से नियत किया जावे, किन्तु उन में परस्पर दूर का भी कोई रक्त-सम्बन्ध न हो, उन के जन्म स्थान भिन्न २ हों, परन्तु देश, भाषा तथा संस्कृति एक हो, उन को गृहस्थधर्म

का यथा योग्य ज्ञान और काम विज्ञान से पूर्णपरिचय हो, किन्तु इस को इस प्रकार सामाजिक उत्सव न बनाया जाये, जिस से कि कन्या तथा वर के गुणों के स्थान में धन को प्रधानता दी जाये, और लोक लज्जा से बचने के लिये धन का व्यर्थ व्यय करना पड़े, जिस से निर्धन वर तथा कन्या का सम्बन्ध ही दुष्कर हो जाये, और धनहीन माता पिता के लिये विशेष करके कन्या का विवाह करना आपत्ति का हेतु बन जाये।

---

५. अपरिग्रह (Unattachment)

पातञ्जल दर्शन में इस पर भाष्य करते हुये महर्षि व्यास कथन करते हैं:-"विषयानामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह।"

अर्थ—"सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने, उन की रक्षा करने, तथा उन के क्षीण हो जाने में, उन में लीन होने तथा उन की प्राप्ति इत्यादि में हिंसा करने के कारण, दोषों को अनुभव करते हुये, उन पदार्थों को अपनी सम्पत्ति बनाने की चेष्टा न करना अपरिग्रह कहलाता है।

संसार में मनुष्य, जातियां तथा देश एक दूसरे पर अत्याचार इसीलिये करते हैं, कि वह संसार की वस्तुओं को अपने अधिकार में लाकर, उन को अपनी सम्पत्ति बनाये रखना चाहते हैं, यह अत्याचार बहुधा धर्म, जाति तथा देश के नाम पर किये जाते हैं, उन को अपने अधिकार में लाकर उन की

रक्षा करने में भी बहुधा कई प्रकार के उपद्रव करने पड़ते हैं, न्याय तथा पुरुषार्थ से भी प्राप्त किये हुए पदार्थों में आसक्त होने के कारण, उन के क्षय के समय मनुष्य अत्यन्त दुःख अनुभव करता है, यदि उस के जीवन में वह पदार्थ उस का त्याग न करें, तो उस को स्वयं किसी दिन उन को त्यागते हुये हमायून समराट् के समान शोक ग्रस्त हो अश्रु-धारा में स्नान करना पड़ता है, या महा-सिकन्दर के तुल्य शून्य हस्त परलोक गमन करना पड़ता है, किन्तु जो मनुष्य सांसारिक पदार्थों की असारता को दृष्टि गोचर करते हुए उन में आसक्त नहीं होता, वह किसी वस्तु को भी अपनी प्रतीत नहीं करता, अपने आप को निमित्त-मात्र समझते हुए उन पदार्थों की प्राप्ति तथा रक्षा दूसरों के हित के लिये करता है, उस का जीवन महाराज जनक के समान है, वह सम्पत्ति रखते हुए भी अपने आप को उस का स्वामी नहीं समझता, इसी को योग अपरिग्रह वा अनासक्ति कथन करता है।

महाव्रत (Great course of conduct)

महर्षि पातञ्जलि अहिंसा इत्यादि को विशेष जाति, देश, समय तथा काल तक सीमावद्ध नहीं करते,जैसा कि निम्न सूत्र से प्रकट होता है :—

"जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।२।३१

अर्थः—यदि अहिंसा इत्यादि यमों का प्रयोग किसी विशेष जाति, देश, समय तथा काल के लिये निश्चित न करते हुए

प्राणिमात्र के हित के लिये किया जाये, तो इस को महाव्रत कहा जाता है।

सरल शब्दों में इस का तात्पर्य यह है, कि यदि कोई मनुष्य मछली, शूकर, बकरे, अथवा कुकुट इत्यादि के विना किसी का हनन नहीं करता, या अपने सम्प्रदाय (Religion), राष्ट्र (Nation or country), तथा बन्धुओं इत्यादि को छोड़ कर किसी को हानि पहुंचाने में पाप प्रतीत नहीं करता, तो वह अहिंसा को विशेष जाति के लिए प्रयुक्त करता है, यदि कोई जन प्रतिज्ञा करता है, कि वह किसी तीर्थ अथवा पवित्र स्थान पर हिंसा नहीं करेगा, दूसरे स्थानों पर वह भले ही करे, तो उस की अहिंसा विशेष देश के लिए परिमित है, यदि किसी का निश्चय है, कि वह संक्रांति, पूर्णिमा, सूर्यग्रहण, इत्यादि पवित्र तथा शुभ दिनों के अतिरिक्त हिंसा का प्रयोग अनुचित प्रतीत नहीं करता, तो वह अहिंसा को विशेष काल के लिये नियुक्त करता है, और यदि वह समझता है.कि किसी इष्ट देव, महापुरुष या ब्राह्मण इत्यादि पूज्य व्यक्ति के लिये,अथवा ईश्वर के निमित्त हिंसा करना पुण्य का कार्य है अथवा क्षत्रिय के लिये युद्ध इत्यादि में हिंसा करना सर्वथा उचित है, तो यह अहिंसा का भाव विशेष समय के लिये है, इसी प्रकार दूसरे यमों के विषय में कहा जासकता है, परन्तु इन अहिंसा इत्यादि यमों का जाति, देश, काल तथा समय के इस प्रकार के बन्धनों से मुक्त होते हुये, प्रत्येक अवस्था में पालन करना योगशास्त्र का ध्येय है, बिना किसी प्रकार के अपवाद तथा सीमा के अहिंसा इत्यादि का प्रयोग, जीवमात्र के हित तथा कल्याण के लिये करने का प्रण महाव्रत कहलाता है।

योग तथा व्यक्तिगत जीवन

Yoga and Personal course of conduct of life.

यमों के रूप में सामाजिक जीवन-पद्धति का वर्णन करते हुये महर्षि पतञ्जलि मनुष्यों के व्यक्तिगत जीवन को चलाने के लिये पांच नियमों की व्यवस्था करते हैं. उनका यह सिद्धान्त नहीं कि मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन (Private-life) उसकी अपनी सम्पत्ति है, वह जिस प्रकार चाहे उसको व्यतीत करे,यदि उसका सामाजिक जीवन निन्दा के योग्य नहीं, तो उसके व्यक्तिगत जीवन से किसी को कोई हानि नहीं पहुंच सकती, योग की दृष्टि में मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन उस के सामाजिक जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध रखता है, और इन दोनों का परस्पर एक दूसरे पर विशेष प्रभाव पड़ता है, इसलिये मनुष्य का सामाजिक जीवन उसके व्यक्तिगत जीवन का परिणाम है, और साथ ही उस के व्यक्तिगत जीवन को बनाता है. इससे ज्ञात होता है, कि दोनों का परस्पर अटूट सम्बन्ध है, मानो एक के विना दूसरा अधूरा रह जाता है।

पातञ्जल योग-शास्त्र में नियम इस प्रकार वर्णन किये गये हैं:-

शौचसंतोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥२-३२॥

अर्थ—"१. शौच, २. सन्तोष, ३. तप, ४. स्वाध्याय और ५. ईश्वर प्रणिधान. यह पांच नियम हैं"।

१. शौच (Cleanliness)

शौच या शोधन दो प्रकार का है, १. वाह्य, और २. आभ्यन्तर।

१. निवासस्थान, धारणकरने के वस्त्रों, उपयोगी वस्तुओं तथा शरीर इत्यादि को मृत्तिका तथा जल इत्यादि द्वारा नित्य-प्रति शुद्ध रखना वाह्य-शौच कहलाता है।

२. अन्तःकरण को ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, तथा अभिमान इत्यादि दुर्गुणों से, और शरीर को भीतर के मल तथा विष इत्यादि से शुद्ध रखने को आभ्यन्तर-शौच कहते हैं।

२. सन्तोष (Contentment)

जीवन यात्रा का निर्वाह करने के लिये जो पदार्थ जितनी मात्रा में परमावश्यक हैं, उन से अधिक प्राप्त तथा सेवन करने की इच्छा न करना, तथा अपनी योग्यता के अनुसार उपस्थित साधनों द्वारा जो प्राप्त हो, उस से अधिक प्राप्ति का लोभ न करना सन्तोष कहलाता है।

३. तप (Life of discipline)

महर्षि व्यास के कथनानुसार शीत, उष्णता, दुःख सुख, क्षुधा तृषा, इत्यादि द्वन्द्वों को सहन करना तप कहा जाता है।

ऐश्वर्य के समय मनुष्य अहंकार तथा अभिमान युक्त न हो, और आपत्ति आजाने पर व्याकुल न हो, उस के ज्ञान तथा कर्म में किसी प्रकार का भेद न हो, जिस को वह सत्य तथा न्याय के अनुकूल प्रतीत करता है, किसी प्रकार के भी लोभ तथा भय अथवा प्रलोभन के कारण उसके विरुद्ध आचरण न करे, इस प्रकार जीवन व्यतीत करने का नाम तप है।

४. स्वाध्याय

ज्ञान में वृद्धि, जीवन में उच्चता, अन्तःकरण की शुद्धि, तथा आत्मा की उन्नति करने के निमित्त अनुभवी महापुरुषों तथा विद्वानों की रची हुई उपयोगी पुस्तकों का प्रतिदिन पाठ, और अपने अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रकृति रूपी पुस्तक का नित्य अन्वेषण करना स्वाध्याय कहा गया है।

५. ईश्वर-प्रणिधान

कर्म करते हुये इस का फल ईश्वर के अर्पण कर देना अर्थात् चाहे कर्म करना बहुत कुछ मनुष्य के आधीन है, किन्तु उस का फल प्राप्त करना उस की शक्ति से बाहिर है, इस लिये यथाशक्ति पूर्ण उत्साह तथा पुरुषार्थ से कर्म करने पर यदि फल प्रतिकूल भी हो,तो निरुत्साही न होना,और यदि सफलता हो जाये तो अहंकार का भाव मन में न आने देना, ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है।

इस प्रकार यमों तथा नियमों का पालन करता हुआ मनुष्य आसन तथा प्राणायाम का अभ्यास करने से सफल मनोरथ हो सकता है, इस का अर्थ यह नहीं, कि वह यमों तथा नियमों

को जब तक पूर्णरीति से जीवन में धारण न करे. तब तक वह आसन तथा प्राणायाम करने का अधिकारी ही नहीं हो सकता, प्रत्युत वह इन चारों को साथ २ क्रिया रूप में लाते हुये सिद्धि प्राप्त करने के योग्य होता जाता है, मानों इन चारों का परस्पर अटूट सम्बन्ध है,और यह एक दूसरे के सहायकारी हैं.हठयोग प्रदीपिका तथा योग सोपान में जो दस यम और दस नियम दिये गये हैं, वह सब प्राय: उपरोक्त पांच यमों और पांच नियमों के अन्तर्गत आजाते हैं, इसलिये उन के पृथक् वर्णन करने की आवश्यता नहीं। यही यम तथा नियम प्राय: बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म के मूल सिद्धान्त हैं, और जिस अहिंसा-धर्म का प्रचार इन्हों ने अपने समय में बड़े वेग से किया, वह महर्षि पतञ्जलि से भी पहिले इस देश में चला आता है।

———

योगिक-व्यायाम-पद्धति

(Yogic system of Exercise)

योगिक व्यायाम-पद्धति में आसन तथा प्राणायाम, दोनों सम्मिलित हैं, एक के विना दूसरे का अभ्यास इसी प्रकार निरर्थक है, जैसे आत्मा के विना शरीर, और शरीर के विना आत्मा, किन्तु योग-शास्त्र के क्रमानुसार पहिले आसन का वर्णन किया जाता है।

आसन का लक्षण

(Defination of yogic pose)

महर्षि पतञ्जलि आसन का लक्षण करते हुये लिखते हैं:—

"स्थिरसुखमासनम" ॥२-४६॥

अर्थ—"जिस के द्वारा शारीरिक तथा मानसिक स्थिरता और अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है, इस प्रकार भिन्न २ अङ्गों को गति देते हुए विशेष प्रकार के शारीरिक आकार को धारण करना आसन कहलाता है।"

इस सूत्र का अर्थ, जैसा कि लोग प्रायः समझते हैं, यह नहीं है, कि 'जिस में किसी प्रकार की गति न हो, और जिसके करने में सुगमता हो, उस का नाम आसन है।'

स्थिर-सुख शब्द का अर्थ गतिहीनता व सुगमता नहीं, प्रत्युत इस प्रकार की गति, जिसमें विना किसी प्रकार के क्षोभ के धीरे २ उपयोगी चेष्टा करते हुये शरीर को किसी ऐसी

विशेष प्रकार की निश्चल अवस्था में इतने समय तक स्थित किया जाये, जिस का परिणाम अक्षय आनन्द का लाभ हो, तो वह शारीरिक स्थिति की अवस्था आसन कही जाती है, किन्तु यदि 'स्थिर' शब्द को 'सुख' शब्द का विशेषण समझा जाये, तो इस सूत्र के केवल यह अर्थ हो सकते हैं, "जिस प्रकार की शारीरिक स्थिति में स्थायि आनन्द की प्राप्ति हो, उस को आसन कहते हैं, आसन शब्द का अर्थ किसी विशेष अवस्था में स्थित होना है।

इस में सन्देह नहीं कि 'योगदर्शन' में महर्षि पतञ्जलि ने भिन्न २ प्रकार के आसनों का वर्णन नहीं किया, किन्तु इस से यह सिद्ध नहीं होता, कि वह इस प्रकार के आसन करने के पक्ष में नहीं है, हो सकता है, कि उन के समय में आसन इतने प्रचलित हों, कि उन को इन के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता ही प्रतीत न हुई हो, या आसनों की पद्धति ने इस प्रकार उन्नति न की हो, जैसी कि हठयोग-प्रदीपिका इत्यादि के काल में, किन्तु महर्षि व्यास उक्त सूत्र पर भाष्य करते हुये कई प्रकार के आसनों के नाम कथन करते हैं, और इस भाष्य पर वाचस्पति मिश्र की टीका में उन आसनों की विधि बताई गई है, इन में कुछ ऐसे भी आसन हैं, जिन का वर्णन दूसरी योग की पुस्तकों में नहीं मिलता, जिस से प्रतीत होता है, कि महर्षि व्यास के समय में भी भिन्न २ प्रकार के आसन प्रचलित थे।

आसन-सिद्धि (Mastry over a Yogic posture)

आसन का लक्षण करने के पश्चात् महर्षि पतञ्जलि दूसरे सूत्र में इस की सिद्धि के लिये साधनों का वर्णन इस प्रकार करते हैं:—

"प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्" ॥२-४७॥

व्याख्या—"जब आसन का अभ्यास करते २ मनुष्य इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त कर ले, कि आसन करने में शरीर को किसी प्रकार का कष्ट तथा क्षोभ प्रतीत न हो अथवा अन्तः-करण में किसी प्रकार का विक्षेप न होने से मन एकाग्र तथा आत्मा विश्व-व्यापी अनन्तशक्ति में तन्मय हो जाये तो आसन सिद्ध होता है।'

आसन सिद्धि का फल

तत्पश्चात् निम्नलिखित सूत्र में आसन की सिद्धि के फल को बताते हैं:—

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥२।४८॥

अर्थ—"आसन के सिद्ध हो जाने पर मनुष्य को शीत उष्णता, सुख दुःख, इत्यादि द्वन्द्व प्रभावित नहीं कर सकते।"

हठयोग-प्रदीपिका में लिखा है

"हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते ।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम् ॥१।१७॥

अर्थ—हठयोग का प्रथम अङ्ग होने के कारण आसन को पहिले कथन किया जाता है, इसलिये मनुष्य अभ्यास द्वारा

पहिले आसन को स्थिर करे, इसके स्थिर होने पर शारीरिक तथा मानसिक रोगों की निवृत्ति होती है, और शरीर में लघुता आने से मनुष्य अपने में फुरती तथा हलकापन प्रतीत करता है।

आसनों के प्रकार

योग-शास्त्र की दृष्टि से केवल पद्म-आसन या सिद्ध-आसन के समान किसी विशेष प्रकार की अवस्था में स्थित होने का नाम ही आसन नहीं, प्रत्युत कोई भी प्राणी किसी प्रकार की उठने बैठने इत्यादि की शारीरिक अवस्था में क्यों न हो, वह आसन कहलाता है, किन्तु कौन से आसन मनुष्य के शारीरिक तथा आत्मिक विकाश के लिये परम-उपयोगी हैं, इस बात को सन्मुख रखते हुए प्राचीन योग-आचार्यों ने अपने अनुभव द्वारा विशेष प्रकार के आसनों का संग्रह कर के मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये योग-शास्त्र की रचना की।

शिव-संहिता में वर्णन है, कि जितनी जीवों की जातियां हैं, उतने प्रकार के आसन हैं, जिनकी ८४ लक्ष गणना की गई है, उन में से विशेष आसन ८४ हैं, और मनुष्य के लिये जो उपयोगी बताये गये हैं वह ३२ आसन, १५ मुद्रा और ५ बन्ध हैं, जिनका घेरण्ड-संहिता में वर्णन किया गया है. किंतु मैंने इस पुस्तक में केवल १३ आसन, १ बंध, १ मुद्रा और नौली, इन १६ का उल्लेख किया है, नौली, बन्ध तथा मुद्रा भी एक प्रकार के आसन ही हैं।

आसन करने का स्थान

आसनों का अभ्यास करने के लिये खुली वायु तथा प्रकाश

की आवश्यकता है, ग्रीष्म में शीतल छाया, और शीत में खुली धूप में अभ्यास करने से ही पूर्ण लाभ हो सकता है, वर्षा काल में ऐसे छते हुए स्थान में प्रयोग किया जाये, जो चारों ओर से खुला हो।

आसन करने की सामग्री

समान भूमि पर चटाई के ऊपर दरी बिछाकर और खादी का कछैरा पहनकर नङ्गे शरीर इनका अभ्यास करना उचित है, यदि शीत अधिक प्रतीत हो, तो एक खुली कमीज़ धारण करली जाये, चटाई तथा दरी की चौड़ाई इतनी हो, जिस पर लेट कर दोनों ओर के बाहु पूरे २ सीधे फैल सकें, लम्बाई शरीर की लम्बाई से डेढ़ गुना या कम से कम शरीर के बराबर हो, और दरी के ऊपर सूत्र का बना हुआ सफ़ेद मोटा वस्त्र बिछा लिया जाये, तो अधिक लाभकारी है।

समय

इन का अभ्यास करने के लिये सब से उत्तम समय प्रातःकाल है, जब कि मनुष्य शौच, दन्तधावन, व स्नान से निवृत्त हो चुका हो, और खान पान बिलकुल कुछ न किया हो, जितना उदर मल इत्यादि से शुद्ध तथा ख़ाली होगा, उतना ही आसनों का उत्तम प्रभाव पड़ेगा, थोड़ा सा भी आहार करके ठीक प्रकार आसन करने से वमन (Vomit) हो जाने, या पाचन क्रिया के यथायोग्य न होने से पाचक विभाग धीरे धीरे दूषित होने लगेगा, यदि प्रातःकाल समय का अभाव हो, तो सायंकाल शौच से निवृत्त होकर भोजन सेवन करने

से कमसे कम घण्टा पहिले आसन समाप्त करना लाभकारी होगा, प्रातःकाल इनसे निवृत्त होकर आध घण्टा पीछे गौ का दूध एक पाव से आध सेर तक पान करना उचित है, तत्पश्चात् प्रातःकाल का भोजन १२ बजे मध्याह्न काल में किया जाय, अन्यथा प्रातःकाल आसनों से कम से कम एक घण्टा पीछे भोजन करके सायंकाल चार पांच बजे दूध पान किया जाये, सब से लाभकारी तो यही है, कि प्रातःकाल आसन करके दूध पान किया जाये।

श्री स्वामी कुवलयानन्द जी योगमीमांसा तथा आसन नामक पुस्तक में आसनों का अभ्यास करने के लिये सायंकाल का समय उत्तम कथन करते हैं, क्योंकि उस समय पेशियों में अधिक लचक होती है, और आसन सुगमता पूर्वक ठीक रीति से हो सकते हैं, उनका यह भी विचार है, कि बिलकुल ख़ाली पेट आसनों का अभ्यास हानिकारक है, इन के आरम्भ करने से आध घण्टा पहिले प्रातः काल कुछ थोड़ा सा हलका आहार करना उपयोगी सिद्ध होगा, किन्तु मैंने अपने निरन्तर अभ्यास से अनुभव किया है, कि प्रातः काल निराहार आसन करने में सब से उत्तम लाभ होता है, क्योंकि उस समय उदय होते हुए सूर्य की किरणों के अमृतमय तेज से प्रभावित हुई २ शुद्ध वायु में जो ओजस्वी जीवन भरा है, वह सायं-काल के समय कहां प्राप्त हो सकता है ? इस के अतिरिक्त उस समय निराहार अवस्था में मनुष्य का मस्तिष्क, नाड़ी-मण्डल तथा शरीर विश्रान्त तथा क्षोभ रहित होने के कारण, आसन व

प्राणायाम द्वारा अधिक लाभ प्राप्त करने के योग्य होना है, प्रातः काल की अपेक्षा सायं काल सुगमता इसलिये प्रतीत होती है, कि दिनभर शरीर में चेष्टा होते रहने से पेशियें कुछ ढीली हो जाती हैं, किन्तु मैं ने इस पुस्तक में आसनों के आरम्भ में जो चार प्रकार के धनुरासन दिए हैं, इन से भिन्न २ पेशियों को गति देने से इन में ढीलापन आ जाता है, और आसन करने में भी कठिनाई प्रतीत नहीं होती।

आसनों के साथ अन्य व्यायाम

आसनों के साथ किसी दूसरे प्रकार का व्यायाम करना अत्यन्त हानिकारक होगा, यदि इन से किसी दूसरे समय पर कोई दूसरा व्यायाम किया जायगा, तो आसनों का पूरा २ लाभ नहीं होगा, हो सकता है कि उस से कुछ हानि भी हो जाये, पाठकों को इन पृष्ठों के पाठ से भली भान्ति ज्ञात हो गया है, कि आसन और दूसरी व्यायाम-पद्धतियें सर्वथा एक दूसरे के विरुद्ध मनुष्य शरीर पर प्रभाव डालती हैं, इसलिये आसनों को पूर्ण उपयोगी बनाने के लिये इनका पृथक अभ्यास करना ही कल्याणकारी है।

आसन के अधिकारी

आसन के अधिकारी स्त्री, पुरुष, बालक, युवक तथा वृद्ध, और व्याधित सभी हैं, किन्तु उनकी आयु, शारीरिक शक्ति तथा अवस्था के अनुसार आसन की विधि में भेद हो जाता है, और उनकी अवस्था के अनुसार विशेष प्रकार के उपयोगी आसनों का प्रयोग कराया जाता है, बालकों को यह आसन

धीरे २ कराने की आवश्यकता नहीं, स्त्रियों को ऋतुकाल में, या गर्भावस्था में आसन नहीं करने चाहिएं, ऐसी अवस्था में उनके लिये भ्रमण करना ही पर्याप्त है, या दो चार ऐसे सुगम से आसनों को शीघ्रता पूर्वक किया जाये, जिनसे भिन्न २ अङ्गों में साधारण सी गति हो सके, और उदर पर दबाव न पड़े, निम्नलिखित आसन सामान्य स्वस्थ्य मनुष्य के लिये हैं, रोगी मनुष्य के लिये बिना किसी अनुभवी शिक्षक के स्वयं इन का अभ्यास करना हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है, प्रारंभ-कर्ता भी यदि आरंभ करते समय प्रत्यक्ष रूप में शिक्षा प्राप्त कर सके, तो अधिक लाभदायक तथा गुणकारी होगा।

आवश्यक सूचना

जो स्त्री पुरुष इन आसनों के अभ्यास से पूर्ण लाभ उठाना और इन के हानिकारक परिणाम से सुरक्षित रहना चाहते हैं, उनको इस पुस्तक को आरंभ से लेकर अन्त तक सावधानता से पढ़कर इस में दी हुई विधि तथा नियम के अनुसार आचरण करना परमावश्यक है, अन्यथा नीचे दिए हुए आसनों को आरम्भ करना निरर्थक होगा, और जो इनके गुण तथा लाभ वर्णन किये गये हैं, उनकी प्राप्ति कठिन होगी, शारीरिक रचना आदि के विषय में जो लेख दिए गए हैं, उनके ज्ञान के विना आसनों की ठीक २ विधि और उनके वास्तविक गौरव तथा उपयोगिता को प्रतीत करना कठिन है, सम्भव है कि इन के ज्ञात किये बिना आसनों के अभ्यास से मनुष्य इनकी फल प्राप्ति से वञ्चित रहे, इसलिए पहिले एक बार सब पुस्तक को पूर्णरीति से पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है।

उपवास (Fasting)

आसन तथा प्राणायाम का अभ्यास करते २ नित्य विष तथा मल का पूर्ण शोधन होने से योगी के शरीर में कोई व्यर्थ पदार्थ लेशमात्र भी एकत्र होने नहीं पाता, उसकी आन्तें तथा बड़ा नल सर्वथा मल शून्य होता है, इस अवस्था में यदि वह उपवास करे, तो उस के लिये हानिकारक होगा, विशेष कारण से वह अधिक से अधिक तीन घण्टे तक उपवास कर सकता है, और यदि कभी दिन भर ही उपवास करना पड़े तो दूसरे दिन आसन तथा प्राणायाम का अभ्यास स्थगित किया जाए।

यात्रा (Travelling)

योगी के लिये पैदल यात्रा करना उतना ही उचित है, जिस से उसे श्रान्ति प्रतीत न हो, गाड़ी इत्यादि में भी एक ही वार लम्बी यात्रा कार्यक्रम में विघ्नकारी होने के कारण यथा सम्भव त्याज्य है, मार्ग में यथोचित स्थान करते हुए नित्य का अभ्यास यथा योग्य हो सकता है, सवारी करने से पैदल चलना अधिक उपयोगी है, वाईसिकल तथा मोटरसाईकिल इत्यादि की सवारी हानिकारक है।

दीक्षा-काल

आसन तथा प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ करने के लिये वह ऋतु सब से उत्तम है, जब कि न ही अत्यन्त शीत, और न ही अत्यन्त गर्मी हो, ऐसे भी अति शीत तथा गर्मी में इनका अभ्यास करने से पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं होता, इसी कारण इन का प्रयोग समयानुसार शीतल छाया तथा धूप में करना उपयोगी समझा गया है।

एकाग्रता (Concentration of mind)

आसन तथा प्राणायाम का अभ्यास करते हुए जिस क्रिया का शरीर के जिस भाग पर जिस प्रकार से सामान्य तथा विशेष प्रभाव पड़ता हुआ प्रतीत हो, उसकी ओर मन को नियुक्त किया जाये, और शवासन करते हुए भिन्न २ प्रकार से प्रभावित अङ्गों की वहिष्करण तथा आत्मीकरण क्रिया पर पूर्ण ध्यान दिया जाए, अभ्यास करते समय सब प्रकार के मानसिक क्षोभों से मुक्त हो कर प्रसन्नतापूर्वक हार्दिक लग्न तथा रुचि के साथ प्रवृत्त होने से ही मनुष्य यथार्थ लाभ का भागी हो सकता है।

विशेष सूचनाएं

१. प्रत्येक आसन तथा प्राणायाम करते समय मुख दान्तों तथा नेत्रों को बन्द रखना अति लाभदायक सिद्ध होगा, क्योंकि इस अवस्था में मनको एकाग्र रखने, और दृष्टि द्वारा क्षीण होनेवाली नाड़ीशक्ति को सुरक्षित करके, इसको शारीरिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए उपयोगी बनाने में सहायता मिलती है, विपरीत-करणी मुद्रा (शीर्षासन) करते समय नेत्रों को बन्द रखना परमावश्यक है, अन्यथा रक्त भार की अधिकता के कारण आसन नेत्रों के लिए हानिकारक सिद्ध होगा, और वृक्ष-आसन की अवस्था में नेत्र खुले रहने चाहियें, नहीं तो शारीरिक-तुलना (Balance of the body) को स्थिर रखना कठिन होगा।

२. इस पुस्तक में दी हुई विधि का पूरा २ अनुकरण करते

हुए मनुष्य को जो लाभ एक आसन द्वारा हो सकता है, वह विधि के त्याग तथा अधूरे प्रयोग से सब आसन कर लेने से नहीं हो सकता, इस लिए अभ्यासी को उचित है, कि अल्प समय में अधिक आसन करने की चेष्टा न करे, उसका ध्यान इस बात में न रहे, कि इतने समय में उसने सब आसन समाप्त करने हैं, प्रत्युत यह कि उस समय में जितने भी हो सकें, उन को पूर्ण रीति से विधिपूर्वक करना है।

३. इस पुस्तक में दिये हुए सब आसन करने में आरम्भ में प्रायः एक घण्टा लगेगा, एक वर्ष तक अभ्यास करते रहने से आसन सिद्ध हो जाने पर दो घण्टे के लगभग समय देना पड़ेगा, जितना मनुष्य का अभ्यास बढ़ता जायगा, उतना समय दीर्घ होता जाएगा और चार पांच वर्ष में केवल आठ दस आसन करने के लिये दो घण्टों की आवश्यकता पड़ेगी, उस समय आसनों के दो भाग करके दो दिन में सारे आसन समाप्त किये जाएं।

४. जो मनुष्य एक दो घण्टे नित्य अवकाश प्राप्त नहीं कर सकते, वह अपने समय के अनुसार आसनों की संख्या को कम कर के वारी २ थोड़े २ करते हुए तीन चार दिन में उन को समाप्त करें, और फिर उसी क्रम से आसन करने आरम्भ करें।

५. कम से कम पांच धनुरासनों में से नित्य कोई दो धनुरासन, गोरक्षासन, कोई एक पश्चिमोत्तान आसन, पूर्वोत्तानासन, उड्डियान-बंध, नौली, मयूरासन, कोई एक सर्वाङ्गासन, विपरीतकरणी मुद्रा, और शेष में से कोई दो

आसन, अर्थात् कुल १२ आसन कम से कम नित्य ही होने चाहियें।

६. जो इन से भी कम करना चाहे, वह एक धनुरासन, एक पश्चिमोत्तमासन, पूर्वोत्तानासन, तथा उड्डियान-बन्ध, नौली और मयूरासन, इन तीनों में से एक, एक सर्वाङ्गासन, विपरीतकरणी-मुद्रा, और शेष में से कोई दो, अर्थात् कुल आठ आसनों का नित्य अभ्यास करे।

७. यह भी स्मरण रहे, कि आसनों के अभ्यास का क्रम वही रहे, जैसा पुस्तक में दिया गया है, और जो आसन नित्य करने के लिये नहीं, उनको बारी २ बदल २ कर जिस क्रम से एक बार समाप्त किया जाए, उसी क्रम को निरन्तर जारी रखा जाए।

८. जो मनुष्य इस से भी कम समय देना चाहता है, वह अपनी अनुकूलता के अनुसार इनकी संख्या को इसी प्रकार और कम कर सकता है, उसे यह ध्यान रखना चाहिये, कि पाचक विभाग पर विशेष प्रभाव डालने वाले कुछ आसन तथा विपरीतकरणी-मुद्रा का अभ्यास नित्य अवश्य होना चाहिये।

९. इन आसनों का प्रभाव केवल स्वास्थ्य रक्षा, व्याधि को निवृत्त करने और शारीरिक बल तथा शक्ति को बढ़ाने पर ही नहीं पड़ता, प्रत्युत इनके निरन्तर अभ्यास से अध्यात्मिक विकाश स्वयमेव होता जाता है, जिस से यह आत्मिक उन्नति का भी साधन हैं।

१०. आरम्भकर्ता के लिये आसनों के अभ्यास का क्रम निम्नलिखित है :—

पहिले दो सप्ताह—पश्चिमोत्तानासन (तीसरा), प्रथम उपासन के सहित, और पूर्वोत्तानासन, उपासन के सहित, दोनों आसनों को उपासनों के साथ एक २ वार करके, उसी क्रम से दो वार और करना चाहिये।

तीसरा सप्ताह—इन से पहिले गोरक्षासन को सम्मिलित करके सब को उपरोक्त क्रम से तीन २ वार किया जाये।

चौथा सप्ताह—सब से पहिले चौथा धनुरासान और पश्चिमोत्तान के पश्चात् पांचवां धनुरासान मिला कर, इन सब को नित्य दो वार किया जाये।

इस प्रकार दो मास अभ्यास करने के पश्चात् इस पुस्तक में दिये हुये क्रमानुसार आरंभ से प्रति सप्ताह दो २ आसन साथ सम्मिलित करते हुये, प्रत्येक आसन केवल एक २ वार करना चाहिये।

इस प्रकार १४ सप्ताह में १६ आसन समाप्त हो जायेंगे।

११. नित्य-प्रति केवल उतने ही आसन किये जायें, जिन के करने से शरीर को किसी प्रकार का लेशमात्र भी खेद तथा श्रान्ति प्रतीत न हो, और आसन करते हुये तथा समाप्ति पर चित्त में प्रसन्नता तथा आनन्द प्रतीत होने लगे।

१२. आसनों का अभ्यास करते समय मौन धारण करना अत्यन्त आवश्यक है, यदि कभी कोई बात करनी ही पड़े, तो शवासन समाप्त करने के पश्चात् थोड़े ही शब्दों में कर ली जाये, सारे आसन समाप्त करके एक दो घण्टे शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम का कार्य नहीं करना चाहिये, ताकि रक्त-

प्रवाह को, आसनों द्वारा शरीर में पैदा हुई २ रक्त की मांग को पूर्ण करने का अवसर प्राप्त हो सके।

१३. आसन करते समय इस पुस्तक में दिये हुये आसनों के क्रम तथा विधि का पूर्ण रीति से प्रतिपदान करना परमावश्यक है, इन आसनों का चुनाव तथा संग्रह करने, और इन के अभ्यास करने के क्रम तथा विधि को निश्चित करने में कई उपयोगी परिवर्तन करने पड़े हैं, जो गत पांच वर्ष के निरन्तर अनुभव तथा वैज्ञानिक अन्वेषण का परिणाम हैं, इस समय तक जो बातें अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई हैं, उन को ही इस पुस्तक में लेख-बद्ध किया है।

१४. आसनों का संग्रह इस प्रकार किया गया है, कि यह शरीर के सब विभागों के लिये प्रत्येक प्रकार से पूर्ण उपयोगी सिद्ध हों, और कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग भी ऐसा न रहे, जिस पर इन का उत्तम प्रभाव न पड़ सके, इन की क्रम-रचना (Arrangement of order) करने और उप-आसनों को यथावश्यकता इनके साथ सम्मिलित करने में यह ध्यान रखा गया है, कि भिन्न २ अङ्गों पर प्रत्येक आसन तथा उप-आसन द्वारा भिन्न २ प्रकार से विरोधि तथा प्रतिविरोधि दबाव डाला जाये, ताकि किसी विशेष अङ्ग पर अधिक दबाव पड़ने से किसी प्रकार का अङ्ग-दोष पैदा न हो, यदि कोई व्यङ्ग-दोष भी पहिले हो, तो दूर हो सके, जहां प्रत्येक अङ्ग को यथा-सम्भव सब ओर गति दी जासके, वहां आवश्यकता से अधिक उन को चेष्टा करनी न पड़े, और इन सब चेष्टाओं तथा गतियों का उद्देश किसी विशेष भाग को उन्नत करना हो, इन की

विधि का प्रयोजन यह है, कि प्रत्येक आसन में प्रयुक्त सेल, तन्तु, तथा पेशी समूह को धीरे २ तनते, या उस पर दबाव डालते हुये, इन पर गहरा से गहरा प्रभाव डाला जाये, जिस से उन की संकोच क्रिया पराकाष्ठा को पहुंच जाये, और फिर उनको धीरे २ प्रसरण कर के कुछ समय के लिए विश्राम का अवसर दिया जाये, जिससे वहिष्करण तथा आत्मीकरण क्रिया यथा-संभव और यथावश्यकता पूर्ण मात्रा में होसके, और स्थूल पेशी से लेकर सूक्ष्म चेतना-नाडी तक उसका प्रभाव पड़ सके।

१५. उपरोक्त फल प्राप्त करने के लिये साधक को चाहिए, कि वह प्रति दिन धीरे २ अभ्यास की योग्यता को बढ़ाता जाये, अर्थात आरम्भ में आसनों को अपनी शक्ति के अनुसार कुछ शीघ्रता से करते हुए, नित्य धीरे से धीरे करने का प्रयत्न करता जाये, किन्तु अपनी शक्ति से बढ़ कर धीरे २ करने की कभी चेष्टा न करे, और तानिक-आसनों (Stretching-Poses) में ज्यों २ शरीर में लचक बढ़ती जाये, त्यों २ भिन्न २ अङ्गों को अधिक तनने का यत्न करता जाये।

आसन तथा प्राणायाम

प्राणायाम का विशेष विवर्ण तो उसके उचित स्थान पर किया जायगा, किन्तु यहां पर इतना कथन करना आवश्यक प्रतीत होता है, कि निम्न-लिखित आसनों का अभ्यास करते समय सहित-कुम्भक प्राणायाम, अर्थात पूरक (धीरे २ श्वास को, मुख बन्द करके, नासिका द्वारा जितना हो सके

भीतर खींचना), आन्तर-कुम्भक (विना किसी प्रकार के लेश मात्र कष्ट अथवा फुफुस पर दबाव प्रतीत करने के यथाशक्ति उसको भीतर ठहराना), रेचक (मुख बन्द करते हुए नासिका द्वारा धीरे २ श्वास को बाहिर निकालना), और बाह्य-कुम्भक (किसी प्रकार का कष्ट प्रतीत न करते हुए सुगमता पूर्वक यथाशक्ति श्वास को बाहिर ठहराना), इन चारों क्रियाओं का आसन करते समय, निरन्तर यथाक्रम उक्त विधि से बार२ प्रयोग करना परमावश्यक है, किन्तु आरम्भ में इस कुम्भक प्राणायाम को सुगमता पूर्वक पूर्ण रीति से करना कठिन प्रतीत होगा, और हठ पूर्वक करना हानिकारक सिद्ध होगा, इसलिये पहिले पहिल आसन करते हुए मुख बन्द करके नासिका द्वारा श्वास प्रश्वास को स्वाभाविक गति से चलने दिया जाये, और ज्यों २ आसन के करने में सुगमता प्रतीत होने लगे, त्यों २ पूरक तथा रेचक को धीरे २ करने का यत्न किया जाये, इन में कुछ सफलता प्रतीत होने पर, दोनों प्रकार के कुम्भक को भी यथाशक्ति क्षण-मात्र करना उचित है, जैसे २ आसनों के अभ्यास में सिद्धि प्राप्त होती जायगी, वैसे २ प्राणायाम भी सिद्ध होता जायगा, अन्त में इस पर पूर्ण अधिकार हो जाने पर, पूरक तथा रेचक जितना भी हो धीरे २ किया जाये, कुम्भक को हठ से अधिक समय तक करने की लेश मात्र भी चेष्टा न की जाये, पूरक तथा रेचक के लिये समय नियत करना भी हानिदायक होगा, स्वाभाविक रीति से धीरे २ अभ्यास करते हुए स्वयमेव वृद्धि होते २ जितना समय पूरक तथा रेचक करने में लग सके, और जितना

गहरे से गहरा श्वास सुगमता से लिया जा सके, उस से अधिक हठ से बढ़ाने की चेष्टा न की जाये, और कुम्भक करते समय श्वास को भीतर तथा बाहिर उतना ही स्थिर करने की चेष्टा की जाये जिस से कुछ कष्ट प्रतीत न हो।

आसन-स्थिति का नियम

इन आसनों को धीरे २ यथाशक्ति करने में जितना अधिक समय लगेगा वह गुणकारी होगा, किन्तु किसी आसन में स्थित रहने के लिये समय नियत करना हानिकारक सिद्ध होगा, चाहे वह दो तीन मिण्ट भी क्यों न हो, इस पुस्तक में दी हुई विधि के अनुसार अभ्यास करने से मनुष्य यत्न करने पर भी किसी आसन में कुछ क्षण (seconds) से अधिक स्थिर रहना अत्यन्त कठिन प्रतीत करेगा, जो लोग शीर्षासन को धीरे २ बढ़ाते हुये एक २. दो २, घण्टे तक उस में सिर पर खड़े रहते हैं, ताकि उन के सिर के बाल काले हो जायें, अथवा अधिक लाभ प्राप्त कर सकें, उनके नेत्र, कान, हृदय, तथा फुफुस इत्यादि में कई प्रकार के दोष आने लगते हैं, सिर का रक्त-भार बढ़ जाता है, कबज़ी का प्रादुर्भाव होने लग जाता है, इस आसन को पांच मिण्ट तक करने से भी किसी न किसी समय मनुष्य के शरीर में उक्त प्रकार के विकार आजाते हैं, श्री स्वामी कुवलयानन्द जी इस को बीस पच्चीस मिण्ट तक स्थित रहने के लिये योग-मीमांसा में समय नियत करते हैं, किन्तु अपनी नई आसन नामक पुस्तक में लिखते हैं, कि "शीर्षासन के लिये २०-२५ मिण्ट, इसको पृथक् करने में

दिये जायें, दूसरे आसनों के साथ करते समय इसको पांच मिण्ट तक किया जाये" किन्तु मेरे अनुभव के अनुसार दोनों ही प्रकार से करने में इससे लाभ के स्थान हानि होती है, पूज्य स्वामी जी योग-मीमांसा में आसनों को अधिक समय तक करने में नाडी-मण्डल की शक्ति व आत्मिक उन्नति का लाभ वर्णन करते हैं, और कथन करते है, कि "यदि यह कहा जाये कि एक आसन में अधिक समय स्थित होने मे शरीर के विशेष भाग को अधिक रक्त मिलने से, दूसरे भागों को रक्त उन की आवश्यकता से कम मिलेगा, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि रक्त-प्रवाह-शोधिनी नाडियां उस विशेष भाग में अधिक मात्रा में जाने वाले रक्त-प्रवाह को रोक देंगी, जिस से दूसरे भागों को आवश्यकता पूर्वक रक्त प्राप्त होगा, और उन को किसी प्रकार की हानि नहीं होगी,"

किन्तु मेरे विचार में तो रक्त-प्रवाह के नियमानुसार सभी भाग यथावश्यकता शवासन में ही रक्त प्राप्त करने के योग्य हो सकते हैं, यदि पूज्य स्वामी जी के उपरोक्त कथन को सत्य मान लिया जाये, तो शरीर के जिस विशेष भाग पर विशेष आसन की अवस्था में अधिक दबाव पड़ने से, रक्त की मांग अधिक बढ़ गई है, वहां पूर्ण मात्रा में रक्त न पहुंचने से उस भाग को हानि होगी, इस लिये मेरी सम्मति में तो किसी आसन में कुछ क्षण (Few seconds) से अधिक ठहरना पूर्ण उपयोगी सिद्ध नहीं होगा।

आसन तथा उनकी विधि ।

शवासन

विधि—सन्मुख पृष्ठ पर दिये हुए चित्र के समान पीठ पर लेट कर, बाहुओं को टांगों की ओर सीधे फैलाकर, हाथों के तलवों को भूमि पर टिकाकर, एड़ियों को परस्पर मिला कर, पैरों को खुला, और नेत्रों तथा मुख को दांतों सहित बन्द रखते हुए, सारे शरीर को मृतवत् पूर्ण रीति से सर्वथा ढीला कर के, इस अवस्था में सहित-कुम्भक प्राणायाम का प्रयोग किया जाये ।

नाम—इसे **शवासन** अथवा **मृतासन** इस लिये कहा जाता है, क्योंकि इस में मृत-शरीर के तुल्य सारा शरीर ढीला कर के भीतर के मृतपदार्थ का वहिष्कार किया जाता है, और मरे हुए तन्तुओं तथा सेलों के स्थान में नई रचना होने का पूर्ण अवसर मिलता है ।

फल—दूसरे आसनों का अभ्यास करने से असाधारण मात्रा में शरीर के तन्तुओं तथा सेलों के नाश से, भिन्न २ स्थानों में एकत्र हुए २ विष के कारण होने वाली शारीरि. श्रान्ति दूर हो कर, मनुष्य में नव जीवन का सञ्चार होता है, इस के यथोचित अभ्यास से मनुष्य में धीरे २ निवर्तन क्रिया की कमी और परिवर्तन की वृद्धि होते जाने से, योगी वृद्ध-अवस्था तथा व्याधि का नाश करते हुए, मृत्यु पर विजय प्राप्त

कर लेता है, और उसमें आत्मिक दिव्य-शक्ति का विकाश होने लगता है।

शवासन का प्रयोग नीचे दिए हुए प्रत्येक आसन तथा उपासन के पश्चात् करना परमावश्यक है, श्री स्वामी कुवलयानन्द जी ने इस आसन को भी दूसरे आसनों के समान योगमीमांसा तथा आसन नामक पुस्तक में, एक पृथक आसन वर्णन किया है, और किसी भी योग के आचार्य तथा शिक्षक ने प्रत्येक आसन के साथ इस के अभ्यास का विधान नहीं किया, किन्तु मैं ने अनुभव द्वारा ज्ञात किया है, कि इस का प्रत्येक आसन के पीछे अभ्यास करने से ही मनुष्य इस का उत्तम फल प्राप्त कर सकता है, और दूसरे आसनों को पूर्ण उपयोगी बना सकता है, सब आसनों की समाप्ति पर, अन्त में करने से इस का वास्तविक लाभ प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक आसन में साथ २ पूर्ण रीति से बहिष्करण तथा आत्मीकरण के न होने से, मनुष्य की सेलें तथा तन्तु, शुद्ध-रक्त ो आवश्यकता के अनुसार प्राप्त नहीं कर सकते, उनमें ओज तथा शक्ति का संचार पूर्ण रीति से होने के लिये, उन को यथोचित अवसर नहीं मिल सकता, औ शरीर आसन ि आसन के निरन्तर अभ्यास से श्रान्त होते जाने से, प्रत्येक आसन को यथायोग्य करने की शक्ति कम से कम प्रतीत करने लगता है, इसी बात को ज्ञात करते हुए श्री स्वामी कुवलयानन्द जी ने आसन नामक पुस्तक में यह स्वीकार किया है, कि "सब आसन एक ही बार नहीं करने

चाहियें, बीच २ में कुछ विश्राम भी करना उचित है" परन्तु इस प्रकार विश्राम करने से भी विहिष्करण तथा आत्मीकरण पूर्ण-रीति से नहीं होसकता, और यदि आसनों के अन्त में शवासन अथवा कपालभाति प्राणायाम किया जाये, तो भी लाभकारी नहीं होगा, कपालभाति के करने से तो उस अवस्था में उलटा हृदय तथा फुफुस पर हानिकारक प्रभाव पड़ेगा।

मेरी सम्मति में आसनों का अभ्यास आरंभ करते समय सब से पहिले शवासन का प्रयोग करना चाहिये, ताकि रक्त-प्रवाह सामान्य अवस्था में आजाये, किसी शारीरिक भाग में रक्त की असाधारण मांगन रहे, और विष का शोधन हो जाये, और साथ ही प्रत्येक आसन के पश्चात् इसको उतने समय तक किया जाये, जब तक रक्त-प्रवाह सामान्य अवस्था में आकर मनुष्य मानसिक प्रसन्नता तथा आनन्द अनुभव न करे, और शरीर में लेशमात्र भी श्रान्ति व खेद प्रतीत हो, किन्तु आसनों की समाप्ति पर इसको प्रायः दस पन्द्रह मिनट तक करना उचित है।

आसन करके शवासन में यदि श्वास शीघ्र चल रहा हो, तो उस को एक ही वार धीमा करने का यत्न न किया जाये, और जब धीरे २ स्वयमेव धीमा हो जाये, तो सहित कुंभक प्राणायाम को यथाशक्ति उक्त विधि से किया जाये, तो इस का अभ्यास शवासन में सुगमता से करने का अवसर मिल सकेगा, इस प्रकार अभ्यास करते २ समय आयेगा, कि मनुष्य आसन तथा प्राणायाम में सिद्धि प्राप्त कर लेगा, इस

अवस्थामें जहां शरीर की एक २ गति उसके आधीन होगी, वहा श्वास पर भी उसका पूर्ण अधिकार होगा, जिस से प्राण-शक्ति दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होगी, जिस का परिणाम यह होगा, कि कठिन से कठिन परिश्रम करने पर भी उस के हृदय की गति कम से कम तेज़ होगी, और आयु में वृद्धि होने पर हृदय-स्पन्द की संख्या में वृद्धि होने के स्थान पर न्यूनता प्रतीत होगी, इसको मैंने स्वयं अपने अनुभव द्वारा ज्ञात किया है, इस का फल यह होगा कि दिन प्रति दिन ओज की वृद्धि, आत्मिक-शक्ति का विकाश, वृद्धावस्था का अभाव, व्याधि का नाश, यौवन तथा वास्तविक सौन्दर्य का प्रादुर्भाव होने लगेगा, जिससे मनुष्य अक्षय आनन्द को उपलब्ध करेगा।

१. प्रथम धनुरासन

विधिः—आरम्भ में मनुष्य भूमि पर बैठ कर दाईं टांग को सीधा फैलाता है, और बाईं टांग को भी उसी प्रकार फैला कर दाईं टांग के ऊपर रख लेना है, बांये हाथ की तलि को जाह्नु के बराबर भूमि पर इस प्रकार रखता है, कि हाथ की अङ्गुलियां परस्पर मिली रहती हैं, तत्पश्चात् बायें पैर के अङ्गूठे को दायें हाथ से इस प्रकार दृढ़ पकड़ता है, कि उस के हाथ का अङ्गूठा नीचे की ओर रहते हुए बाहिर से, और अङ्गुलियां भीतर की ओर से, इसके इर्द गिर्द लिपट जाते हैं। (देखो चित्र, प्रथम धनुरासन, प्रथम आकार)

तब दायें पैर को धीरे २ बाहिर की ओर पूर्ण रीति से तन कर, बायें पैर को तनते हुये दायें हाथ से धीरे २ ऊपर को

उठाता है, और साथ ही बायें हाथ को तन कर ऊपर उठाता जाता है, जब दोनों बाहु दोनों स्कन्धों (shoulders) के बराबर आजाते हैं, तो इस अवस्था में धीरे २ पृष्ठ-वंश और सिर को ऊपर की ओर तनते हुये, स्कन्धों तथा सिर को पीछे की ओर तनता है, इस अवस्था में उस की टांगें और बाहु आगे की ओर और पृष्ठ (पीठ) पीछे की ओर पूर्ण रीति से तन जाते हैं। (देखो चित्र, प्रथम धनुरासन, अन्तिम आकार)

तत्पश्चात् बायें हाथ को तनकर दायें हाथ के बराबर लाते हुये, दोनों बाहु तथा स्कन्धों को एक रेखा में लाकर सारे शरीर को धनुष् के समान पूर्ण तान की अवस्था में कुछ क्षण रख कर, अत्यन्त धीरे २ सारे अङ्गों को यथाक्रम ढीला करते हुये आरम्भक अवस्था में आजाता है।

तब इसी प्रकार बायें हाथ से दायें पैर के अङ्गूठे को पकड़ कर, क्रम पूर्वक सब क्रियायें की जाती हैं।

नाम—इस में चूंकि शरीर को धनुष के समान तनने की क्रिया होती है, इसलिये इसको धनुरासन कहते हैं, इस प्रकार के चार धनुरासन और हैं, जिन में भिन्न २ प्रकार से शरीर तन जाता है।

फल—इस आसन के द्वारा दोनों टांगों तथा बाहुओं की पेशियों, और पृष्ठ-वंश के मोहरों तथा पसलियों को ऊपर की ओर तनने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है, उद्गामी-बृहदन्त्र, और अधोगामी-बृहदन्त्र की पेशियां भी इस से प्रभावित

३. तीसरा धनुरासन

अन्तिम आकार



III. Dhanur-Asana No. 3.

Final Position.

की ओर से, और अंगूठा बाहिर की ओर से पैर के अंगूठे के गिर्द लिपट जायें। (देखो चित्र,तीसरा अनुसन्धान,प्रथम आकार)

तत्पश्चात् धीरे २ दायें पैर को बाहिर की ओर, और ग्रीवा तथा पीठ के पीछे की ओर पूर्ण रीति से तनने की चेष्टा करें, साथ ही बायें पैर को दायें हाथ से भीतर की ओर खेंचते हुये, बायें जाहु को यथासंभव बाहिर की ओर तनें। (देखो चित्र, तीसरा धनुरासन, अन्तिम आकार)।

इस प्रकार पूर्ण तनी हुई अवस्था में शरीर को कुछ क्षण रख कर, धीरे २ ढीला करते हुये आरम्भक अवस्था में आजायें।

तब बायीं टांग को फैलाकर, और दाईं एड़ी को बायें उरु पर रख कर,हाथों का परिवर्तन करके,इनको उसी प्रकारसे पकड़ कर, पहिले के समान शरीर को तन कर, धीरे २ ढीला करें, अन्त में यथापूर्व शवासन करें।

फल—इस आसन में पहिले धनुरासन के समान भिन्न २ अंगों को तनने का जहां अधिक अवसर मिलता है, वहां ग्रीवा, सिर, कटि-प्रदेश, और अंगुलियों सहित हाथों तथा पैरों की पेशियों की विशेष प्रकार से तान क्रिया होती है, इन से सम्बन्ध रखने वाली भिन्न २ अस्थियों को पूर्ण रीति से तनने और नाड़ियों को प्रभावित होने का अवकाश प्राप्त होता है।

४. चौथा धनुरासन

विधि—भूमि पर बैठ कर, दाईं टांग और बायें बाहु को फैला कर, बायें हाथ से दायें पैर के अंगूठे को तीसरे धनुरासन में बताई हुई विधि के अनुसार पकड़ो, दायें बाहु की कोहनी

को झुका कर, दायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को दूसरे धनुरासन में बताई हुई विधि के अनुसार पकड़ो, और अपने आप को चौथे धनुरासन के प्रथम आकार में ले आओ (देखो चित्र, चौथा धनुरासन, प्रथम आकार)

दायें पैर को बाहिर की ओर, और पीठ को ऊपर की ओर तथा बाहिर की ओर पूर्ण रीति से तन कर, बायें जाहनु को नीचे दबा कर, दायीं कोहनी को धीरे २ ऊपर उठाते हुये, इसको दायें स्कन्ध के बराबर ले आओ। (देखो चित्र, चौथा धनुरासन, दूसरा आकार)

तत्पश्चात् दायीं कोहनी को धीरे २ पीछे की ओर ले जाते हुये, स्कन्ध से जितना परे ले जा सको ले जाओ, इस अवस्था में बायां जाहनु दायें बाहु से कुछ भीतर की ओर आजायेगा, और दायीं कोहनी दायें स्कन्ध से कुछ नीचे हो जायेगी, किन्तु सारा शरीर पूर्ण तान की अवस्था में होगा। (देखो चित्र, चौथा धनुरासन, अन्तिम आकार)

इस पूर्ण तान की अवस्था में कुछ क्षण स्थिर रह कर, धीरे २ शरीर को ढीला करते हुये, क्रमशः अपनी पूर्व दशा में आजाओ।

टांगों और बाहुओं में परिवर्तन करते हुए, इसी प्रकार इस आसन को दूसरी बार करो, इस के पीछे यथापूर्व शवासन में स्थित हो जाओ।

फल-इस आसन में जहां शरीर के भिन्न २ अङ्गों पर दूसरे व तीसरे आसन के समान प्रभाव पड़ता है, वहां दोनों बाहु

४. चौथा धनुरासन

प्रथम आकार



IV. Dhanur-Asana No. 4.

First Position.

४. चौथा धनुरासन

दूसरा आकार



IV. Dhanur-Asana No. 4.

Second Position.

४. चौथा धनुरासन

अन्तिम आकार



IV. Dhanur-Asana No. 4.

Final Position.

तथा टांगों की पेशियों व अस्थियों में भिन्न २ प्रकार की गति होती है।

उपरोक्त चारों धनुरासन प्रायः शरीर की सभी ऐच्छिक पेशियों तथा अस्थियों को भिन्न २ ओर से गति देकर भिन्न २ प्रकार से तनकर, इन पर प्रभाव डालते हैं.पृष्ठ-वंश के नाडी-केन्द्रों तथा शरीर में फैले हुये नाडी-सूत्रों की शक्ति को बढ़ाते हैं, उदर की अनैच्छिक पेशियों पर भी इनका भिन्न २ प्रकार से कुछ प्रभाव पड़ता है, अस्थियों तथा पेशियों में लचक स्थिर रखने तथा लुप्त हुई २ लचक को पैदा करने में भी उपयोगी सिद्ध होते हैं।

पहिले तीन आसन योग की पुस्तकों में नहीं मिलते. यह मैंने स्वयं आसन पद्धति में सम्मिलित किये हैं।

९. गोरक्षासन

विधिः—भूमि पर सीधा बैठकर दोनों टांगों को भीतर की ओर इस प्रकार मोड़ो, कि दोनों पैरों के तलवे एक दूसरे के साथ मिल जायें, तब दोनों हाथों की अंगुलियों को एक दूसरे के भीतर डालकर जुड़े हुए हाथों से, दोनों मिले हुये पैरों की अंगुलियों को ऊपर से इस प्रकार दबाओ, कि दोनों हाथों की तलियां दोनों पैरों को भीतर की ओर पूरा २ दबाव डाल सकें, इस अवस्था में शरीर के पूर्व भाग को सीधा तनते हुये बाहुओं को तन कर हाथों के दबाव से धीरे २ पैरों को भीतर की ओर ले जाते हुये, जुड़ी हुई एड़ियों को गुदा के सन्मुख जमा दो। (देखो चित्र, गोरक्षासन, प्रथम आकार)

तब कोहनियों को कुछ झुकाकर, पैरों की अंगुलियों को हाथों से दबाये रखो, और धीरे २ दोनों जाहुओं को नीचे झुकाते हुये भूमि पर लगाकर, इन को बाहिर की ओर तनों, जब कि शरीर का ऊपर का भाग सर्वथा सीधा रखा जाये (देखो चित्र, गोरक्षासन, अन्तिम आकार)

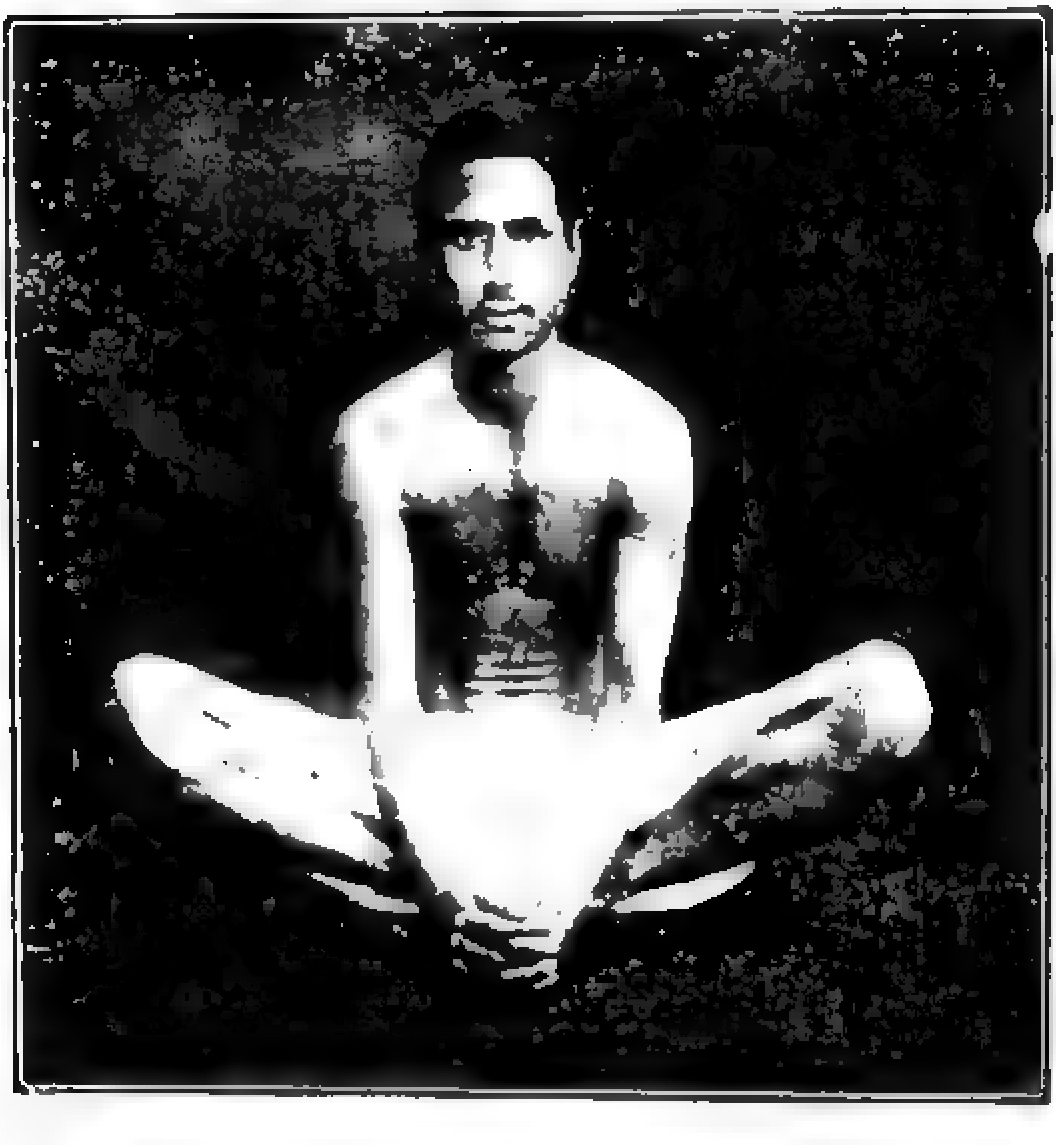
इस तनी हुई अवस्था में शरीर को कुछ क्षण रखकर धीरे २ यथा-क्रम ढीला कर के शवासन करो।

फल—इस आसन में बाहुओं तथा टांगों की पेशियों पर बाहिर से दबाव पड़ने से कोहनियों तथा जाहुओं की पेशिओं को प्रभावित होने का अवसर मिलता है, शरीर के ऊपर के भाग पर भी इस का प्रभाव पड़ता है, इसी प्रकार भिन्न २ अस्थियों तथा नाड़ियों का भी प्रयोग हो जाता है, इन सब प्रकार की गतियों का उद्देश शुक्र ग्रन्थियों, प्रोस्टेट ग्रन्थियों तथा डिम्ब-ग्रन्थियों पर विशेष प्रभाव डालते हुये, स्त्री पुरुष के ब्रह्मचर्य की रक्षा करना है, इस से मनुष्य के ओज की वृद्धि तथा रक्षा करने में सहायता मिलती है, स्त्री पुरुषों की नपुंसकता को दूर करने में इस का विशेष प्रभाव पड़ता है, स्वप्न-दोष तथा मासिक स्राव के रोगों का नाश होता है।

नाम—इस आसन का नाम गोरक्षासन इस लिये है, कि महा योगी गोरक्ष-नाथ ने लोगों के हित के लिये इस को प्रस्तुत किया है।

५. गोरक्षासन

प्रथम आकार



V. Goraksh-Asana.

First Position.

६. पश्चिमोत्तानासन (१)

विधिः—दोनों जानुओं को मोड़ कर, ऊपर उठते हुये इस प्रकार बैठो, कि एड़ियां परस्पर मिली हुई भूमि पर टिकी रहें, पैर ऊपर को उठे हुये कुछ खुले रहें, और दोनों टांगें कुछ दोहरी होती हुई उरुदेश के साथ स्पर्श न करें (देखो चित्र, पश्चिमोत्तानासन (२), प्रथमाकार, बिना हाथों से अंगूठों को पकड़ते हुये)

तत्पश्चात् दायें पैर के अंगूठे को दायें हाथ से, और बायें पैर के अंगूठे को बायें हाथ से इस प्रकार पकड़ो, कि हाथ का अंगूठा बाहिर की ओर से, और इस के साथ की दोनों अंगुलियां भीतर की ओर से पैर के अंगूठे के गिर्द लिपट कर इस को दृढ़ पकड़ लें, और हाथ की शेष दो अंगुलियां मुट्ठी बांधने के समान दोहरी हो जायें, इस अवस्था में विशेष ध्यान रखने की बात यह है, कि हाथ की लिपटी हुई अंगुलियां पैर के अंगूठे के भीतर जितनी घुस जायेंगी, उतना ही इस आसन का प्रभाव उत्तम होगा।

(इस अवस्था में हाथों से पैरों को पकड़ने के ढंग के बिना, इस आसन का आकार, पश्चिमोत्तानासन (२) के प्रथम आकार से पूरा २ मिलता है।

तब स्कंधों को बाहिर तथा ऊपर की ओर तनकर, धीरे २ एड़ियों को बाहिर की ओर सरकाते हुये, इस अवस्था में ले आयें, कि बाहु तथा टांगें पूरे २ तन जायें। (देखो चित्र, पश्चिमोत्तान आसन (१), प्रथमाकार)

तब पैरों को सीधा खड़े रखते हुए, कोहनियों, तथा सिर को धीरे २ नीचे झुकाते हुये, कोहनियों को भूमि पर और सिर को जान्हुओं के ऊपर टिका दें। (देखो चित्र पश्चिमोत्तानासन, (१), अन्तिम आकार)

इस तान की अवस्था में कुछ क्षण स्थिर रह कर, धीरे २ यथाक्रम अंगों को ढीला करें, तत्पश्चात् प्रथम उपासन को करके शवासन में स्थित हो जायें।

६. पश्चिमोत्तानासन (२)

विधि--पश्चिमोत्तानासन (१) के प्रथम आकार की विधि का अनुकरण करते हुये, पैरों को बाहिर की ओर पूर्ण रीति से तनते हुये, सिर तथा कोहनियों को धीरे २ झुकाते हुये, इनको जितना भी हो सके जाह्नुओं से आगे टांगों तथा भूमि के ऊपर पृथक २ टिका दें। (देखो चित्र, पश्चिमोत्तानासन २, अन्तिम आकार)।

इस तान की अवस्था में कुछ क्षण स्थिर रह कर, शरीर को यथापूर्व ढीला करने के पीछे प्रथम उपासन करें, और फिर शवासन का अभ्यास करें।

६. पश्चिमोत्तानासन (३)

विधिः—पश्चिमोत्तानासन १. में बताई हुई विधि के अनुसार बैठ कर, दायें हाथ से दायें पैर के अंगूठे को, और बायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को इस प्रकार पकड़ो, कि हाथ का अंगूठा तथा इस के साथ की अंगुली पैर के अंगूठे के

६ पश्चिमोत्तानासन (१)

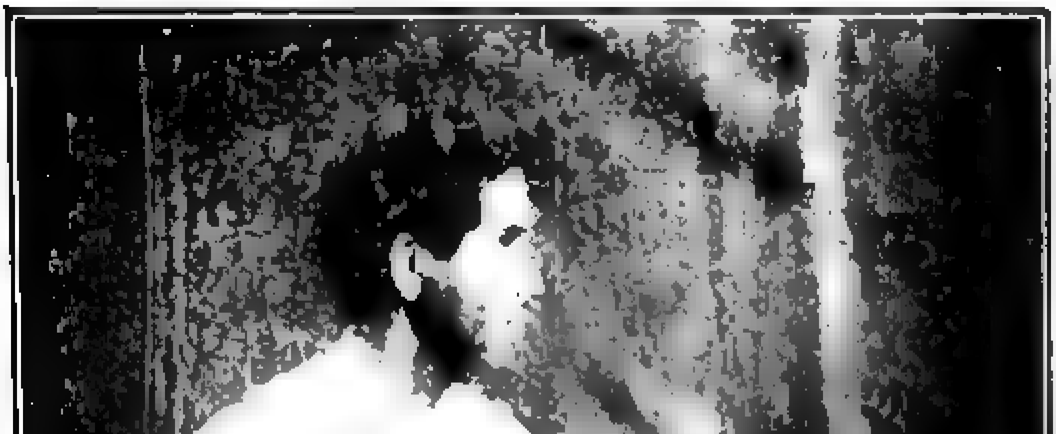
प्रथम आकार



VI. Paschimottana-Asana No. 1
First Position.

६. पश्चिमोत्तानासन ३

प्रथम आकार



VI. Paschimottana-Asana No. 3,

First Position.

की ओर से पैर की तली पर जमे रहें, और शेष तीनों अंगुलियां पैर के अंगूठे के बाहिर की ओर से यथासम्भव भीतर की ओर ले जाकर इसके गिर्द लिपटा दी जायें। (देखो चित्र, पश्चिमोत्तानासन (३), प्रथम आकार)

तत्पश्चात् स्कन्धों तथा पीठ को पीछे की ओर तन कर एड़ियों को धीरे २ बाहिर की ओर ले जाते हुए, पैरों, टांगों तथा जान्हुओं को जितना हो सके पूर्ण रीति से तन दें, किन्तु हाथ की अंगुलियां अपने स्थान से न हटें। (देखो चित्र पश्चिमोत्तानासन (३), दूसरा आकार)

तब इस पूर्ण तान की अवस्था में धीरे २ सिर को नीचे झुकाते हुये,जाह्नुओं के ऊपर टिकादो। (देखो चित्र, पश्चिमोत्तानासन (३), अन्तिम आकार)

कुछ क्षण इस अवस्था में स्थिर रह कर, धीरे २ यथाक्रम सब अङ्गों को ढीला कर के प्रथम उपासन के पश्चात् यथापूर्व शवासन करो।

सूचना- इन आसनों में टांगों तथा बाहुओं को पूर्ण रीति से तान की अवस्था में रखते हुये ही जितना सिर नीचे झुक सके, झुकाने की चेष्टा की जाये, पश्चिमोत्तानासन (१) के सिद्ध हो जाने पर, पश्चिमोत्तानासन (२) का अभ्यास आरम्भ किया जाये,और पहिले का सर्वथा त्याग कर दिया जाये,पश्चिमोत्तानासन (३) में सिर के जाह्नुओं को सुगमतापूर्वक स्पर्श करने की योग्यता हो जाने पर, सिर को भीतर की ओर दबाते हुये, जाह्नुओं से जितना हो सके ऊपर की ओर टकाने की चेष्टा

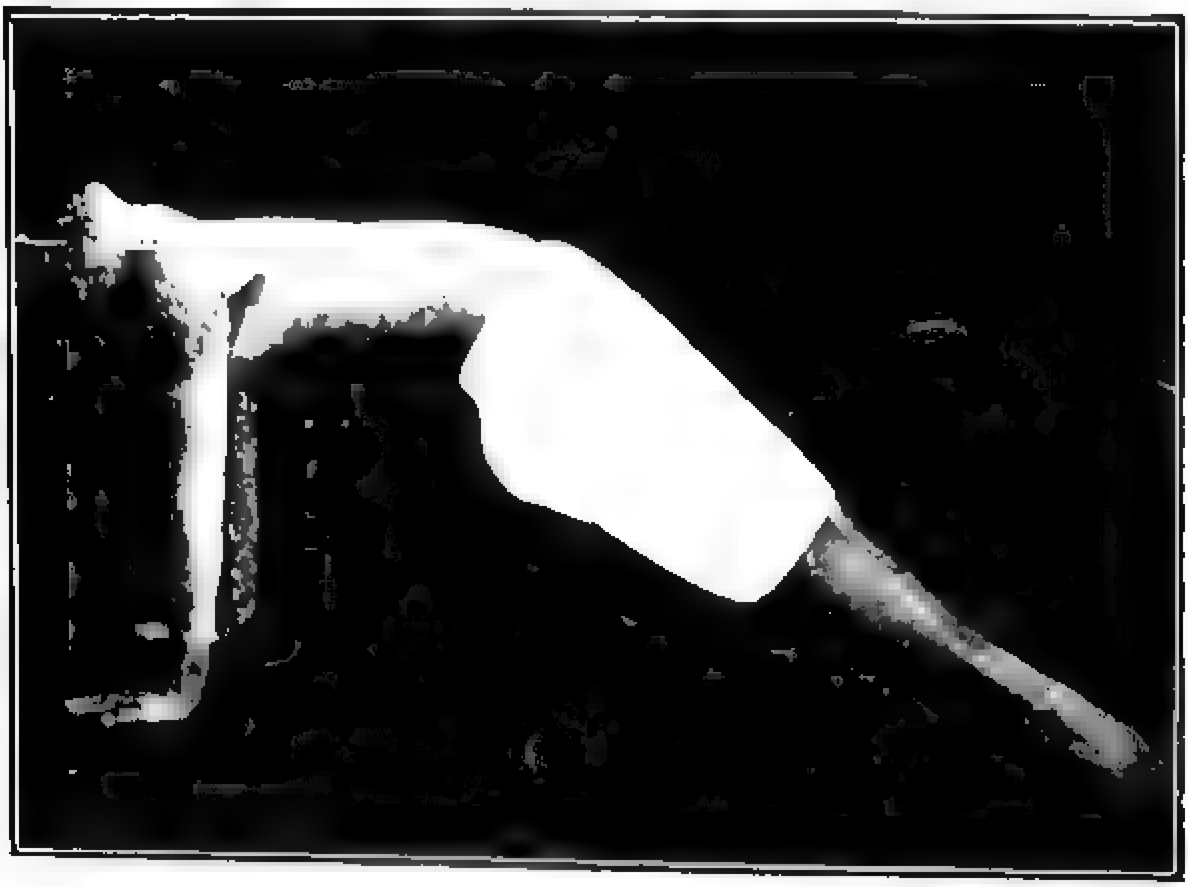
करें इस आसन को करते हुये पहिले प्राय: बहुत कठिनता प्रतीत होगी. धीरे २ धैर्यपूर्वक इस का नित्य अभ्यास करने से मनुष्य सफलता प्राप्त कर सकेगा, यदि दोनों टांगों को एक साथ तनना पहिले पहिल अत्यन्त कठिन प्रतीत हो, तो एक २ करके, बारी २ से दोनों टांगों को फैलाने का यत्न किया जाये, यदि इनका अभ्यास करते हुये मध्य में, आन्तों में दर्द प्रतीत होने लगे, तो उस समय तुरन्त प्रथम उपासन कर लिया जाये।

नाम—इस को पश्चिमोत्तानासन इस लिये कहा जाता है, कि इस में शरीर के पश्चिमी अर्थात् निचले भाग को अत्यन्त तनने का अवसर मिलता है, और शरीर की प्राय: सब पश्चिमी अर्थात् बाहिर की पेशियां तन जाती हैं।

फल—इस आसन में टांगों तथा बाहुओं के अत्यन्त तन जाने से पाचक विभाग पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ता है, जिगर, प्लीहा, क्लोम, वृक्क तथा उपवृक्क सम्बन्धि रोग दूर होकर इन की शक्ति बढ़ती है, जठराग्नि की वृद्धि से आमाशय की पाचन शक्ति उत्तेजित होती है, उदर की कब्ज़ी इत्यादि रोग नष्ट होते हैं, मोटापन का रोग धीरे २ निवृत्त होने लगता है, पसलियों तथा पृष्ठ-वंश के मोहरों को ऊपर की ओर तनने का पूर्ण अवकाश प्राप्त होता है, जिस से मनुष्य के शरीर की लम्बाई में भी वृद्धि हो सकती है, पृष्ठ-वंश के नाडिकेन्द्र ओज-सम्पन्न होते हैं, पैरों के अंगूठों के तनने से, गुदा तथा वस्ति-गह्वर की पेशियों, पर प्रभाव पड़ने के कारण बवासीर के रोग की निवृत्ति होती है, चुल्लिका-ग्रन्थि, शुक्र-ग्रन्थियों व डिम्ब-ग्रन्थियों पर भी इस से कुछ प्रभाव पड़ता है, पश्चिमोत्तानासन (२) का प्रभाव उक्त

प्रथम-उप-आसन

(पश्चिमोत्तान के पश्चात्)



First Counter-Pose.

(After Paschimottana.)

स्थानों पर पहिले तथा दूसरे की अपेक्षा बहुत अधिक पड़ता है, किन्तु गुदा तथा वस्ति-गह्वर पर पहिला तथा दूसरा अधिक प्रभाव डालता है।

प्रथम-उप-आसन
(पश्चिमोत्तान के पश्चात्)

विधि--पश्चिमोत्तानासन के अन्त में शरीर को ढीला करके, टांगों तथा बाहुओं को वैसे ही फैलाये रखें, तब दोनों हाथों को पृथक् करके धीरे २ ऊपर को उठाते हुये, दूसरे उपासन के प्रथम-प्रकार के समान सीधे सिर के ऊपर ले जायें, तत्पश्चात् दोनों हाथों को स्कन्धों के ऊपर से पीठ की ओर नीचे झुकाते हुये, इन की तलियों को स्कन्धों की सीध में दोनों ओर भूमि के ऊपर टिका दें, पैरों तथा टांगों को बाहिर की ओर फैलाते हुये कटि-प्रदेश को यथा-सम्भव ऊपर उठा कर, पीठ को सीधा रख कर, सिर को नीचे झुका दें। (देखो चित्र, प्रथम-उप-आसन, पश्चिमोत्तान आसन के पश्चात्)

इस के पीछे धीरे २ कटि को नीचे झुकाते हुये भूमि पर बैठ जाओ, और यथापूर्व शवासन करो।

फल—पश्चिमोत्तान आसन द्वारा कटि पर नित्य एक ही ओर दबाव पड़ने से, वहां दर्द होने लग जाता है. और कभी २ आसन करते हुये आन्तों पर अधिक दबाव पड़ने से, वहां दर्द प्रतीत होता है, इन से सुरक्षित करने के लिये इस उप-आसन द्वारा कटि तथा आन्तों पर विरुद्ध प्रभाव डाला जाता है।

यह उप-आसन नित्य किया जाना चाहिये।

दूसरा उप-आसन
(पश्चिमोत्तान आसन के पश्चात्)

एड़ियों को भूमि पर टिका कर पैरों को मिलाते हुये, टांगों को फैला कर भूमि पर बैठ जाओ, और दोनों हाथों की अंगुलियों को एक दूसरे के बीच डाल कर दोनों भुजाओं को तन कर सिर के ऊपर सीधा फैला दो। (देखो चित्र, दूसरा उप-आसन, प्रथम आकार)

तत्पश्चात् शरीर के पूर्व-भाग को सीधा रखते हुये, दोनों जुड़े हुये हाथों को नीचे टांगों की ओर झुकाते हुये, पैरों के ऊपर से भूमि पर ले आओ। (देखो चित्र, दूसरा उप-आसन, अन्तिम आकार)

इस का उक्त प्रकार से तीन बार अभ्यास करो, इसके अभ्यास से कटि-प्रदेश पर पश्चिमोत्तान आसन द्वारा पड़ा हुआ गहरा दबाव कभी २ अन्तरीय भाग में एक प्रकार की दर्द पैदा कर देती है, इस लिये कभी २ इस उप आसन का अभ्यास करते रहना उपयोगी होगा, यदि कभी दर्द होने लगे तो इस को उस समय तक नित्य प्रति किया जाये, जब तक कि दर्द दूर न हो जाये।

तीसरा उप-आसन
(पश्चिमोत्तानासन के पश्चात्)

विधि—पीठ के आधार पर लेट कर, दोनों जाहुओं को ऊपर उठाते हुए, पैरों के तलवों को भूमि पर टिका कर, भीतर की ओर खींचते हुए, दोनों एड़ियों को दोनों चूतड़ों के साथ

दूसरा उप-आसन

अन्तिम आकार

(पश्चिमोत्तानासन के पश्चात्)



Second Counter-Pose.

Final Position.

(After Paschimottana.)

तीसरा उप-आसन

प्रथम-आकार

(पश्चिमोत्तान के पश्चात्)



Third Counter-Pose.

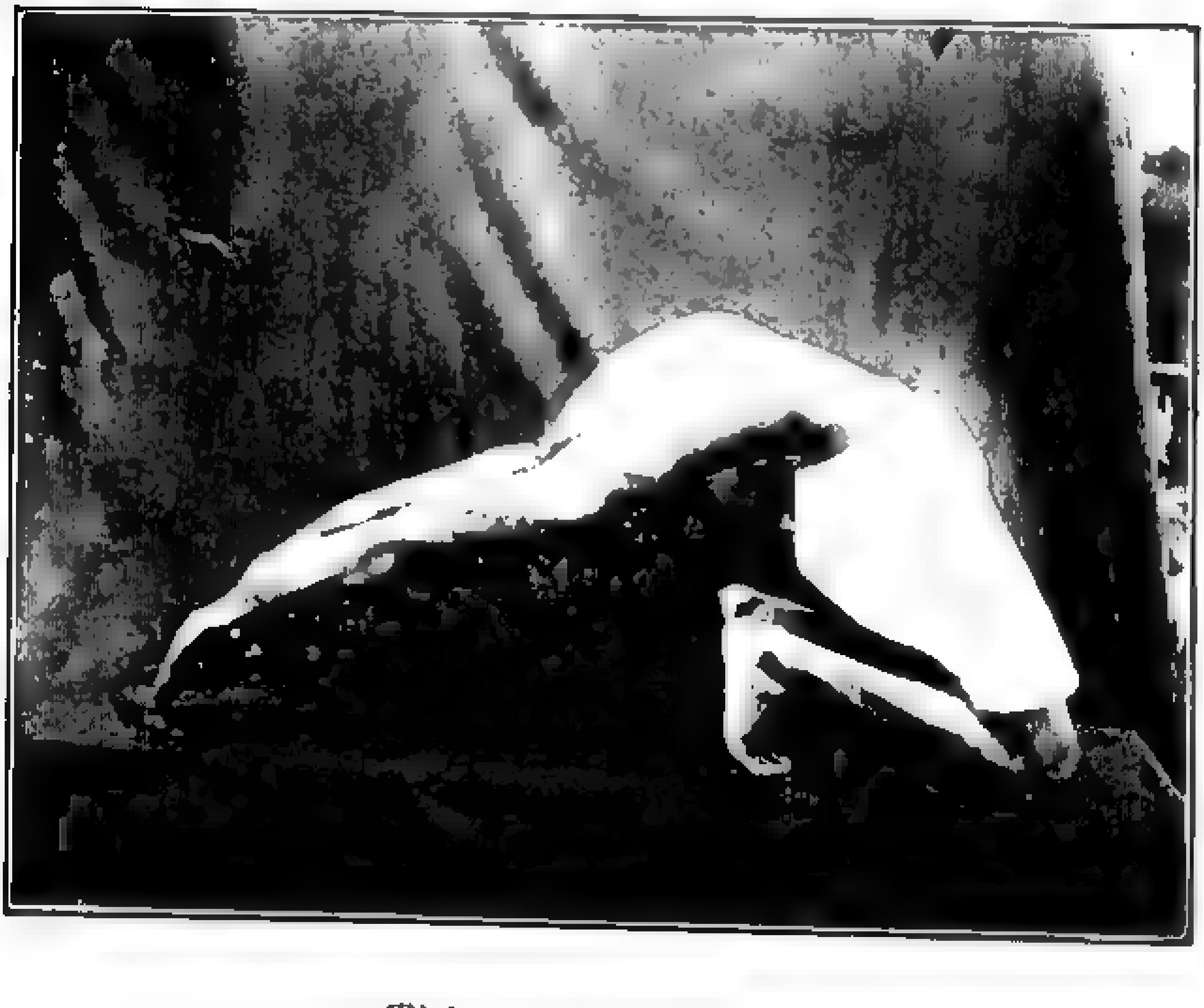
First Position.

(After Paschimottana.)

तीसरा उप-आसन

दूसरा आकार

(पश्चिमोत्तान के पश्चात्)



Third Counter-Pose.

Second Position. (After paschimottana.)

तीसरा उप-आसन

अन्तिम आकार (पश्चिमोत्तान के पश्चात्)



Third Counter-Pose.

Final Position.

(After Paschimottana.)

मिला दो, और दोनों कोहनियों को मोड़ कर हाथों की तलियों को सिर के दोनों ओर भूमि पर टिका दो। (देखो चित्र, तीसरा उप-आसन, प्रथम आकार)

तब हाथों तथा पैरों की अंगुलियों को अपने स्थान पर स्थित रखते हुए, पीठ को ऊपर उठाते हुए, जानुओं को आगे की ओर झुका कर भूमि पर स्थित कर दो। (देखो चित्र, तीसरा उप-आसन, दूसरा आकार)

तत्पश्चात् जानुओं तथा शरीर के पूर्वभाग को ऊपर उठाते हुए, पीछे की ओर ले आओ, और साथ ही भुजाओं को ऊपर उठाते हुए सीधा खड़ा कर दो, किन्तु पैर तथा हाथ अपने पूर्व स्थान से विचलित न हों। (देखो चित्र, तीसरा उप-आसन, अन्तिम आकार।

इस के पीछे आरम्भिक दशा में आकर शवासन करो।

फल—इस उप-आसन में टांगों, भुजाओं तथा पीठ की पेशियों, अस्थियों तथा जोड़ों और पृष्ठ-वंश के मोहरों, छाती तथा उदर पर पश्चिमोत्तानासन के विरुद्ध दबाव डाला जाता है, इसको एक बार करना पर्याप्त होगा, इसको प्राय: ताड़ासन का नाम दिया जाता है, इस के सिद्ध हो जाने पर पश्चिमोत्तानासन के साथ कभी २ इसका अभ्यास कर लेना उपयोगी सिद्ध होगा, और कटि इत्यादि पर पड़े हुए गहरे से गहरे हानिकारक दबाव तथा वेदना को दूर करेगा।

उपरोक्त तीनों उप-आसनों को कुछ शीघ्रता पूर्वक धीरे २ करना लाभदायक होगा।

चौथा उप-आसन

(पश्चिमोत्तान के पश्चात्)

विधि—पीठ पर लेट कर दोनों टांगों को बाहिर फैला दो, और दोनों हाथों की अंगुलियों को एक दूसरे में डाल कर भुजाओं को सिर के ऊपर की ओर सीधा तन दो। (देखो चित्र, चौथा उप-आसन, प्रथम आकार)

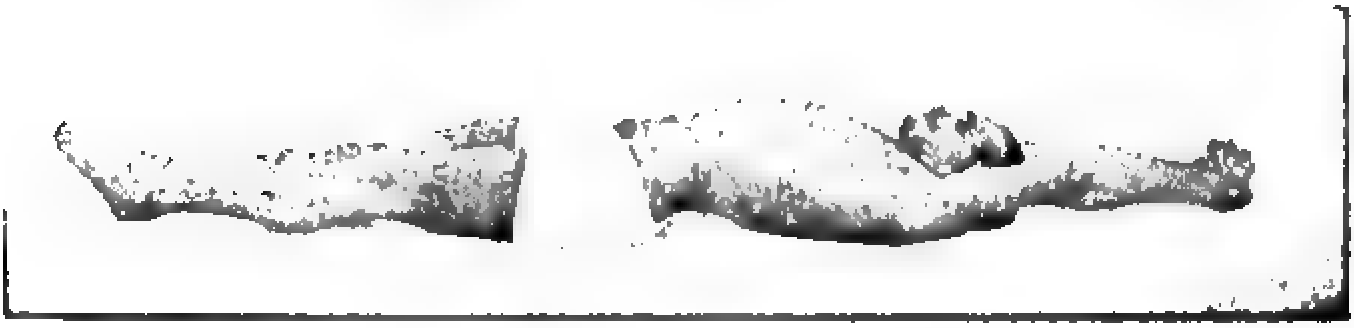
तब पैरों को धीरे २ बाहिर की ओर तनते हुए, टांगों को पूर्ण रीति से तन दें, और दोनों एड़ियों को, बिना लेश मात्र हिचकोला देने के, भूमि से कुछ थोड़ा सा ऊपर उठा कर, दायीं टांग को बायीं टांग से कुछ ऊपर उठायें। (देखो चित्र, चौथा उप-आसन, दूसरा आकार)

तत्पश्चात् टांगों और भुजाओं को पूर्ण तान की अवस्था में, और शरीर के पूर्व-भाग को अत्यन्त निश्चल रखते हुए, दायीं टांग को धीरे २ ऊपर उठा कर, बांयीं टांग को यथासंभव धीरे २ दायीं ओर ले जाओ, किन्तु कटि के भाग को ऊपर उठने न दो। (देखो चित्र, चौथा उप-आसन, अन्तिम आकार)

तब धीरे २ आरम्भिक दशा में आ जाओ, और फिर इसी प्रकार बांयीं टांग को ऊपर उठाते हुए, दायीं टांग को बायीं ओर ले जाओ, अन्त में यथापूर्व शवासन का अभ्यास करो, इसको पश्चिमोत्तान आसन के साथ नित्य करना परमावश्यक है।

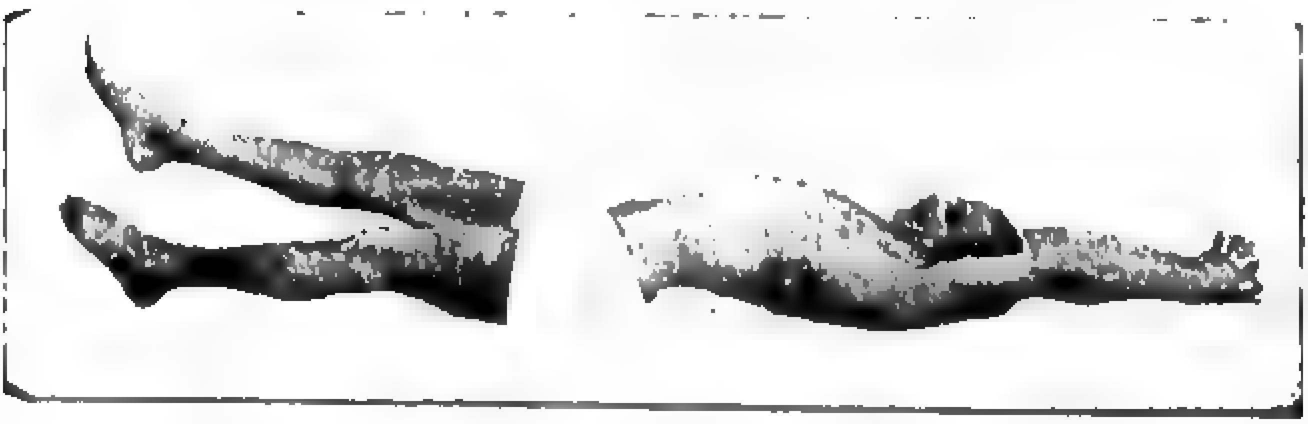
फल—इस से कटि की पेशियों तथा अस्थियों को दायीं तथा बायीं ओर गति देने का पूर्ण अवकाश मिलता है,और इससे पश्चिमोत्तान आसन द्वारा कटि-प्रदेश में होने वाली जड़ता (Stiffness) की निवृत्ति होती है, इसका प्रभाव पीठ के

चौथा उप-आसन-प्रथम-आकार (पश्चिमोत्तान के पश्चात्)



Fourth Counter-pose. First Position.
(After Paschimottana.)

चौथा उप-आसन-दूसरा-आकार (पश्चिमोत्तान के पश्चात्)



Fourth Counter-pose. Second position.
(After Paschimottana.)

चौथा उप-आसन-अन्तिम-आकार (पश्चिमोत्तान के पीछे)



Fourth Counter-pose. Final Position.
(After Paschimottana.)

दायें तथा बायें पक्ष पर भी पड़ता है, और पृष्ठ-वंश के मोहरों को नीचे की ओर तनने का अवसर प्राप्त होता है।

---

७. पांचवां धनुरासन

विधि—उदर की ओर भूमि पर लेट कर, हाथों के सहारे शरीर को सिर की ओर सरकाते हुये इतना आगे बढ़ो कि शिश्न तथा अण्डकोश पीछे की ओर चले जायें, और नारी तथा पुरुष की वाह्य जननेन्द्रियों पर, इस आसन को करते हुये, लेश मात्र भी दबाव प्रतीत न हो, तब दोनों पैरों को पीठ की ओर झुका कर, और दोनों भुजाओं को पीठ की ओर फैलाकर, दोनों हाथों से दोनों पैरों की गांठों (Ankles) को इस प्रकार दृढ़ पकड़ो, कि हाथों की अंगुलियां बाहिर की ओर से,और अंगूठे भीतर की ओर से दोनों गांठों के कुछ ऊपर लिपट जायें। (देखो चित्र, पांचवां धनुरासन, प्रथम आकार)

तत्पश्चात् दोनों जाहनुओं को जोड़ कर, पैरों को पीछे की ओर तनते हुये धीरे २ ऊपर को उठाओ, और साथ ही ग्रीवा तथा स्कन्धों को आगे की ओर तनते हुये धीरे २ ऊपर को उठाते जाओ, जिससे दोनों बाहु तन जायें, और सिर तथा पैर एक सीध में आ जायें। (देखो चित्र, पांचवां धनुरासन, दूसरा आकार)

फिर स्कन्धों तथा पैरों को धीरे २ यथाक्रम आगे तथा पीछे की ओर तनते हुये, छाती तथा जाहनु को यथासंभव भूमि से ऊपर उठायें, जिससे सारा शरीर धनुष के समान तन जाये, और शरीर का भार उदर के नीचे के भाग पर रहे, इस में यह

भी ध्यान रखा जाये, कि प्रत्येक पैर, बाहु तथा स्कन्ध परस्पर एक दूसरे की सीध में रहे, ताकि शरीर के दोनों ओर एक समान दबाव पड़े, टांगें तथा बाहु एक रेखा में रहें और सिर पैरों की सीध में हो, अन्यथा इस के नित्य अभ्यास से शरीर में व्यङ्ग दोष पैदा होने का भय है। (देखो चित्र, पांचवां धनुरासन, अन्तिम आकार)

फल—इस आसन में पर्शुकाओं सहित पसलियों तथा पृष्ठ-वंश के मोहरों की गति पश्चिमोत्तानासन के विरुद्ध होती है, और इनको दूसरे प्रकार से तनने का अवसर मिलता है, उदर की पेशियों पर भी इससे गहरा प्रभाव पड़ता है, स्कन्धों, पीठ तथा कटि के व्यङ्ग-दोष धीरे २ दूर होने लगते हैं, इस से शरीर सडौल बनता है।

सूचना—इस आसन में आरम्भ में यदि जान्हु मिलाकर ऊपर न उठाये जा सकें, तो उनको पृथक करके उठाया जाये।

८. महा मुद्रा

विधि—भूमि पर बैठकर बायीं टांग को फैला दो, और दायीं टांग के जान्हु को मोड़ कर, दायीं एड़ी को गुदा के मूल में जमाते हुये, दायें पैर के तलवे को बायीं जांघ से भिड़ा दो, दोनों भुजाओं को फैलाते हुये, दोनों हाथों की अंगुलियों को एक दूसरे के बीच में डालकर, दोनों हाथों को बायें पैर के तलवे पर जमा दो। (देखो चित्र, महा मुद्रा, प्रथम आकार)

तत्पश्चात् बायें पैर को धीरे २ पूर्ण मात्रा में तन दो, और सिर को धीरे २ भीतर की ओर झुकाकर यथासंभव छाती की

८ महामुद्रा— प्रथम आकार



VIII. Mahamudra—First Position.

८. महामुद्रा—अन्तिम आकार



VIII. Mahamudra—Final Position.

ओर लेजाते हुये, बायें जाहनु से ऊपर की ओर टिका कर, इस को भीतर की ओर झुकाओ. जिस से टांगे, बाहु तथा पीठ पूर्ण रीति से तन जायें। (देखो चित्र, महामुद्रा. अन्तिम आकार)

इस अवस्था में कुछ ठहर कर धीरे २ शरीर को ढीला करते हुये पूर्व दशा में आजाओ, इसी प्रकार दायीं टांग को फैलाकर, और बायें पैर के तलवे को दायीं जंघा से भड़ा कर, दूसरी बार करो, अन्त में यथापूर्व शवासन करो।

नाम—इस आसन में चूंकि शरीर के सब अङ्गों को पूर्ण रीति से तनते हुये, उदर पर अत्यन्त गहरा दबाव डाला जाता है, और इस का प्रभाव सारे शरीर पर शेष सब मुद्राओं से अधिक पड़ता है, इस लिये इस को महा-मुद्रा अर्थात् बड़ी मुद्रा कहते हैं।

फल—इस से पृष्ठ-वंश के मोहरों को पूर्ण मात्रा में ऊपर की ओर तनने और नीचे की ओर झुकने का पूरा २ अवसर मिलता है, जिस से पृष्ठ-वंश के नाड़ी केन्द्र अधिक रक्त प्रवाह को आकर्षण करते हैं, इसका कल्याणकारी विशेष प्रभाव फुफुस प्लीहा, आमाशय, आंतों तथा बड़े-नल पर पड़ता है, अस्थियों तथा ऐच्छिक पेशियों में तान क्रिया के होने तथा दबाव पड़ने से, इन की लचक की स्थिरता तथा वृद्धि होती है।

९. पूर्वोत्तानासन

विधि—टांगों को फैलाते हुये पीठ पर लेट कर, भुजाओं को स्कन्धों की सीध में, टांगों की दोनों ओर सीधे फैला कर, हाथों की अंगुलियों को परस्पर मिलाते हुए, हाथों की

तलियों को भूमि पर टिका दो। (देखो चित्र, पूर्वोत्तान आसन, प्रथम आकार)

टांगों तथा पैरों को परस्पर मिलाते हुए, बाहिर की ओर धीरे २ पूर्ण रीति से तन कर, अत्यन्त धीरे २ बिना लेशमात्र हिचकोला देने के, एड़ियों को ऊपर उठाना आरम्भ करो, और टांगों को पूर्वोत्तानासन, के दूसरे आकार में ले आओ। (देखो चित्र, पूर्वोत्तानासन, दूसरा आकार

इसी प्रकार टांगों को धीरे २ ऊपर उठाते हुए इनको सीधा करके भूमि के साथ सम-कोण बना दो। (देखो चित्र, पूर्वोत्तानासन, तीसरा आकार)

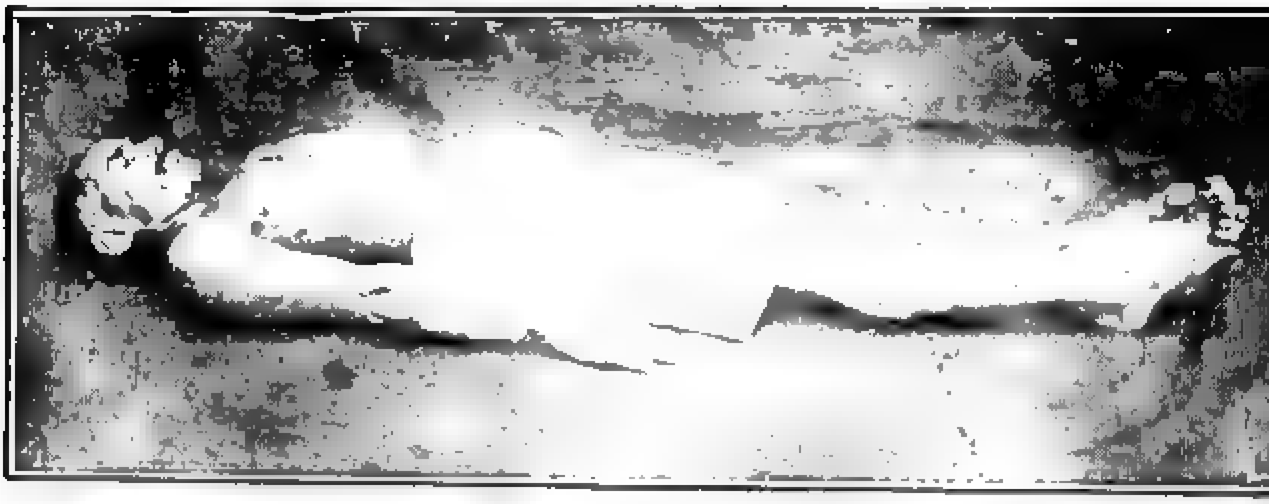
टांगों को इसी अवस्था में रख कर भुजाओं तथा स्कन्धों के आधार पर धीरे २ कटि तथा पीठ को ऊपर उठाते हुए, टांगों और पीठ को एक सीध में ले आओ। (देखो चित्र, पूर्वोत्तानासन, चौथा आकार)

इसी प्रकार पैरों तथा टांगों को तनते हुए, धीरे २ इन को सिर की ओर झुकाते जाओ, (देखो चित्र, पूर्वोत्तानासन, पांचवां आकार)

तब पैरों तथा टांगों को यथा-सम्भव और तन कर, इन को सिर की ओर धीरे २ झुकाते हुए, पैरों की अंगुलियों को भूमि पर टिका कर जितना हो सके, सिर से परे सरकाने की चेष्टा करो। (देखो चित्र,पूर्वोत्तानासन, अन्तिम आकार, इस चित्र में बाहु तथा पैर भूमि पर टिके हुए हैं)

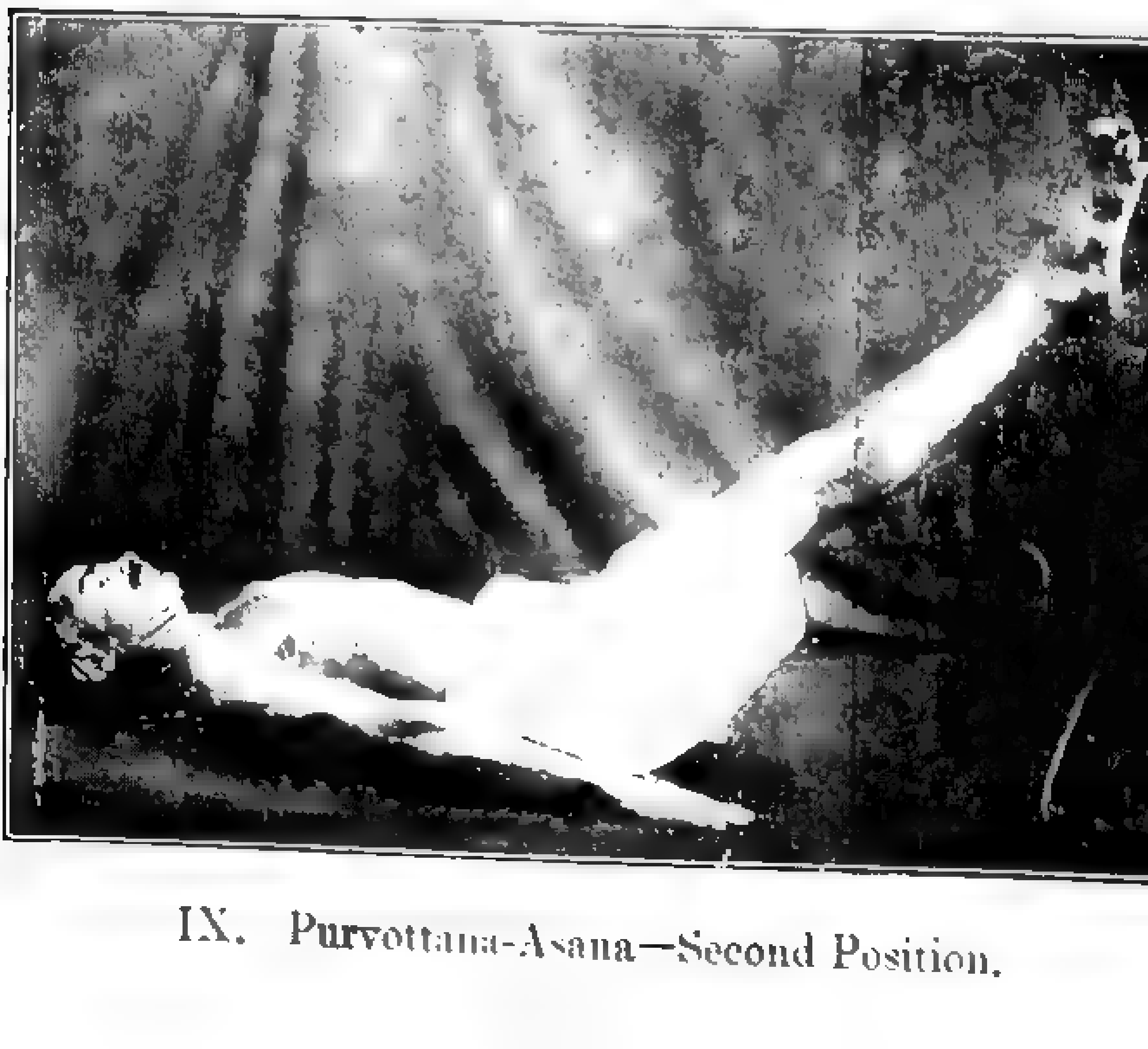
इस पूर्ण तान की अवस्था में कुछ क्षण स्थिर रह कर, यथाक्रम धीरे २ उसी प्रकार तान की अवस्था में एक आकार से

९ पूर्वोत्तानासन—प्रथम आकार



IX. Purvottana-Asana—First Position.

९. पूर्वोत्तानासन—दूसरा आकार



IX. Purvottana-Asana—Second Position.

९. पूर्वोत्तानासन

पांचवां आकृ



IX. Purvottana-Asana.

Fifth Position.

९. पूर्वोत्तानासन
अन्तिम आकार



IX. Purvottana-Asana.
Final Position.

दूसरे आकार में आते हुए, अन्त में प्रथम आकार में आजाओ, और नीचे लिखी विधि के अनुसार उप-आसन के प्रयोग के पश्चात् यथापूर्व शवासन करो।

नाम—इस आसन में शरीर की पूर्वी अर्थात् भीतर के ओर की प्रायः सब पेशियां प्रभावित होती हैं, और शरीर के पूर्व-भाग को अत्यन्त तनने का अवसर मिलता है, इस लिए मैंने इस को पूर्वोत्तानासन का नाम दिया है।

फल—पहिले तीन आकारों में पर्शुकाओं सहित पसलियों, वक्षस्स्थल व उदर की पेशियों, कटि प्रदेश, पृष्ठ वंश के मोहरों तथा पीठ की पेशियों पर अत्यन्त गहरा दबाव पड़ता है, और इन को तनने का अवसर प्राप्त होता है, भिन्न २ नाड़ी-केन्द्रों वृक-ग्रन्थियों, डिम्ब-ग्रन्थियों, तथा शुक्र ग्रन्थियों पर भी प्रभाव पड़ता है, चौथे आकार में भुजाओं तथा स्कन्धों की पेशियों व अस्थियों पर गहरा दबाव पड़ता है, चौथे तथा पांचवें आकार में पृष्ठ-वंश के पृष्ठ देशीय बारह मोहरों (Twelve Dorsal-vertebræ) की नीचे से ऊपर को तान क्रिया होती है, अन्तिम आकार में ग्रीवा के सात मोहरे (Servical-vertebra), सुषुम्ना-शीर्षक (Medulla Oblongata), तथा चुल्लिका व उपचुल्लिका ग्रन्थियां प्रभावित होती हैं, वापस लौटते समय उपरोक्त भागों पर दूसरी प्रकार से प्रभाव पड़ता है।

मनुष्य की अवस्था तथा रोग के अनुसार इस आसन की विधि में कुछ परिवर्तन करने से हर्निया, हृदय, जिगर तथा प्लीहा के रोगों की निवृत्ति हो सकती है, उदर के विकार,

विनिद्रा का रोग तथा नाड़ी-मण्डल की निर्बलता (Nerve-depression), इत्यादि रोग दूर होते हैं, मोटापे के रोग को धीरे २ लुप्त करने में भी यह आसन सहायता देता है, इन के अतिरिक्त वीर्य पतन तथा मासिक स्राव, इत्यादि दोषों को निवृत्त करता है, और ओज को बढ़ाता है।

उप-आसन

(पूर्वोत्तानासन के पश्चात्)

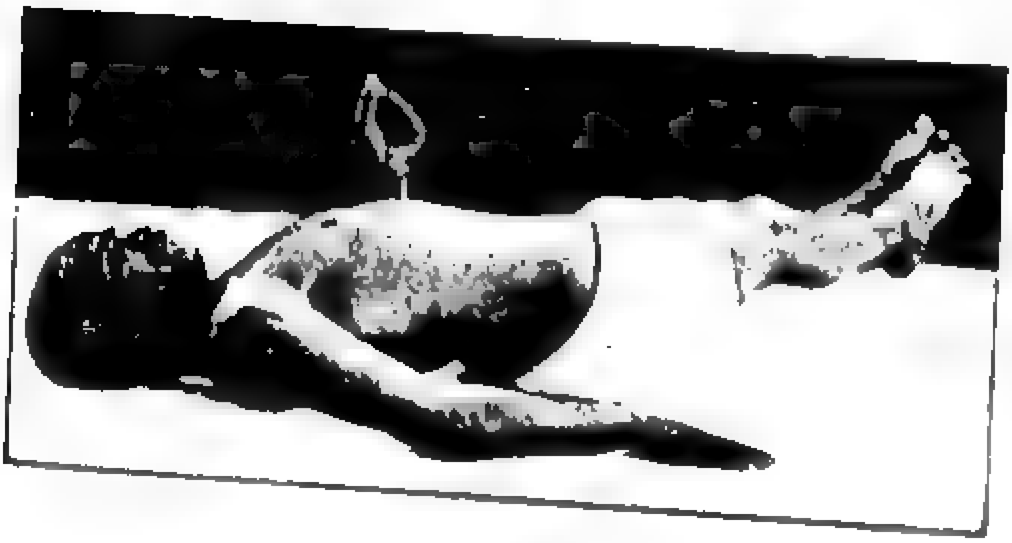
विधिः—पूर्वोत्तानासन के अन्त में प्रथम आकार में लेटे हुये बांयें हाथ की मुट्ठी बांध कर बाहु के अगले भाग को कोहणी पर सीधा खड़ा कर दो, टांगों तथा पैरों को तनकर भूमि से लेश मात्र उठाकर, बायीं ओर जितना ले जासको लेजाओ, किन्तु इस अवस्था में दायां बाहु और कटि-प्रदेश अपने २ स्थान पर दृढ़ टिके रहें। (देखो चित्र, उप आसन, अन्तिम आकार)

तत्पश्चात् धीरे २ पैरों को अपने स्थान पर लाकर दायें हाथ की मुट्ठी बांध कर उसी प्रकार दायीं ओर पैरों को लेजाओ, और धीरे २ आरम्भक दशा में आकर शवासन करो।

फल—इस से कटि-प्रदेश की पेशियों को दायीं व बायीं ओर गति देकर, पूर्वोत्तानासन द्वारा पड़े हुये दबाव के हानिकारक प्रभाव की सम्भावना नहीं रहती, कटि में जड़ता नहीं आने पाती, इस उप-आसन का प्रयोग पूर्वोत्तान के साथ नित्य ही होना चाहिये।

उप-आसन-अन्तिम-आकार

(पूर्वोत्तान के पश्चात्)



Counter-pose.

Final position.

(After Purvottana.)

सूचना—इस आसन का अभ्यास करते हुये, यह ध्यान रखें, कि दोनों बाहु अपने स्थान से विचलित न हों, और दोनों टांगें परस्पर मिली रहें, और यदि सिर की ओर नीचे टांगें लेजाते हुए कठिनाई प्रतीत हो, तो रेचक करते हुये इनको नीचे ले जाना सुगम होगा।

१०. मत्स्येन्द्रासन (१)

विधि—बायीं टांग को फैला कर भूमि पर बैठ जाओ, और दायीं टांगको मोड़ कर, दायें पैर की एड़ी को दायीं जांघ के मूल में और तलवे को उरु-देश पर भीतर की ओर टिका दो, दायें हाथ को दायें जाह्नु के समीप भूमि पर, और बायें हाथ को बायें जाह्नु पर रख दो। (देखो चित्र, मत्स्येन्द्रासन, प्रथम-आकार)

बायें पैर को भीतर की ओर लाते हुये, जाह्नु को ऊपर उठा कर, बायें पैर को गांठके समीप दायें हाथ से पकड़ो, और दूसरे आकार के समान स्थित हो जाओ। (देखो चित्र, मत्स्ये-न्द्रासन, दूसरा आकार)

बायें पैर को दायें हाथ से उठा कर, बायें जाह्नु को बायें हाथ से दबाते हुये, बायें पैर को दायें जाह्नु के ऊपर की ओर से लाकर, एड़ी को भूमि पर धर दो, साथ ही यह ध्यान रहे कि दायीं एड़ी अपने स्थान से विचलित न होने पाये। (देखो चित्र, मत्स्येन्द्रासन, तीसरा आकार)

तत्पश्चात बायें हाथ को बायें जाह्नु से उठा कर, दायें बाहु को बायें जाह्नु के ऊपर की ओर से लाते हुये, दायें हाथ से दायें जाह्नु को दृढ़ पकड़ें, और बायें बाहु को पीठ की ओर से

लाते हुये, बायें हाथ की तली को दायें उरु के मूल भाग पर टिका दें, फिर शरीर के पूर्व भाग को पृष्ठ-वंश के मोहरों सहित ऊपर की ओर तनते हुये, सिर तथा ग्रीवा को ऊपर तन कर, सिर तथा स्कन्धों को धीरे २ बायीं ओर घुमाते हुये, पीठ को जितना हो सके, बायीं ओर घुमायें और बायें बाहु को आगे सरका कर, बायें हाथ को यथासम्भव उरु के भीतर की ओर ले जायें, और शरीर को पूर्ण तान की अवस्था में स्थित करें। (देखो चित्र, मत्स्येन्द्रासन, अन्तिम आकार, पृष्ठ का दृश्य)

इस तान की अवस्था में कुछ क्षण स्थित रह कर यथाक्रम धीरे २ शरीरको ढीला करके,बाहु तथा टांगों में परिवर्तन करते हुये, इस को दूसरी बार करें,इसमें सिर तथा स्कन्धों की गति दायीं ओर होगी। (देखो चित्र, मत्स्येन्द्रासन, अन्तिम आकार, उदर का दृश्य)

१०. मत्स्येन्द्रासन (२)

मत्स्येन्द्रासन का अभ्यास एड़ी को उरु के मूल में ऊपर की ओर, और पैर के तलवे का उदर के सन्मुख स्थिर करके भी किया जाता है। (देखो चित्र, मत्स्येन्द्रासन (२), चौथा आकार, सामने का दृश्य, तथा अन्तिम आकार, पृष्ठीय दृश्य)

फल—इस आसन में पेशियों तथा अस्थियों की भिन्न २ गतियों का उद्देश पृष्ठ-वंश को उपर की ओर तन कर दायीं तथा बायीं ओर मोड़ते हुये, नाड़ी-केन्द्रों की शक्ति को उन्नत करना है, इस से नाडियों की निर्बलता दूर होकर

१०. मत्स्येन्द्रासन

प्रथम आकार



X. Matsyendra-Asana.

First Position.

१०. मत्स्येन्द्रासन

दूसरा आकार

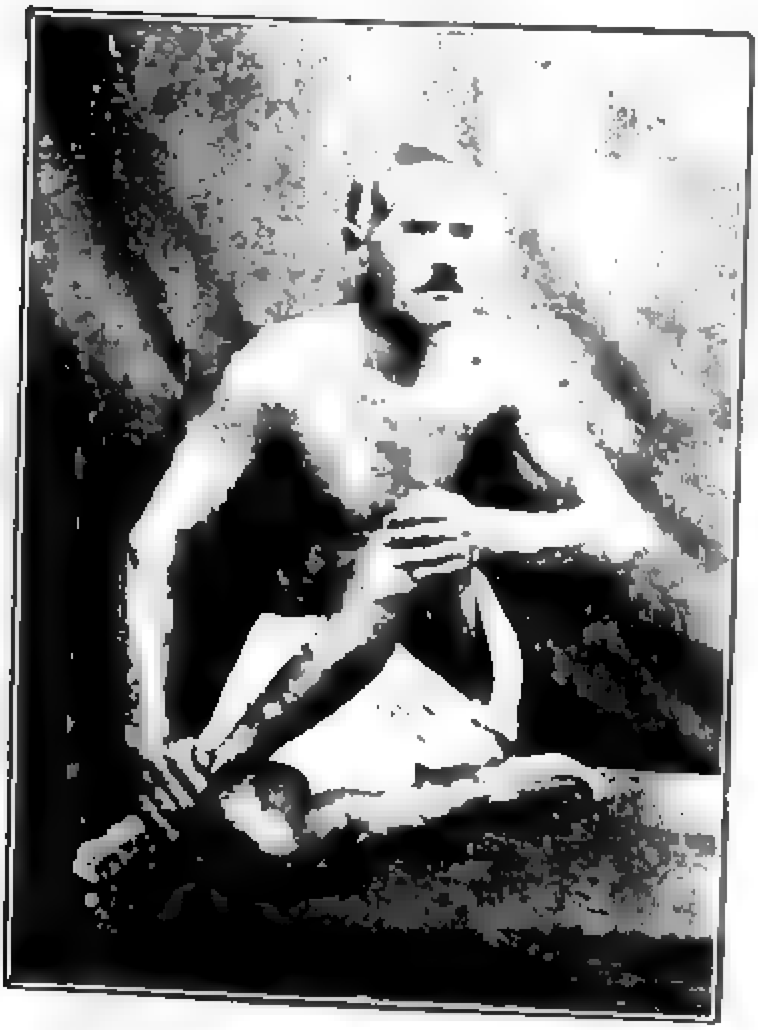


X. Matsyendra-Asana.

Second Position.

१०. मत्स्येन्द्रासन

तीसरा आकार



X. Matsyendra-Asana.

Third Position.

१०. मत्स्येन्द्रासन

अन्तिम आकार

(पृष्ठ का दृश्य)



X. Matsyendra-Asana

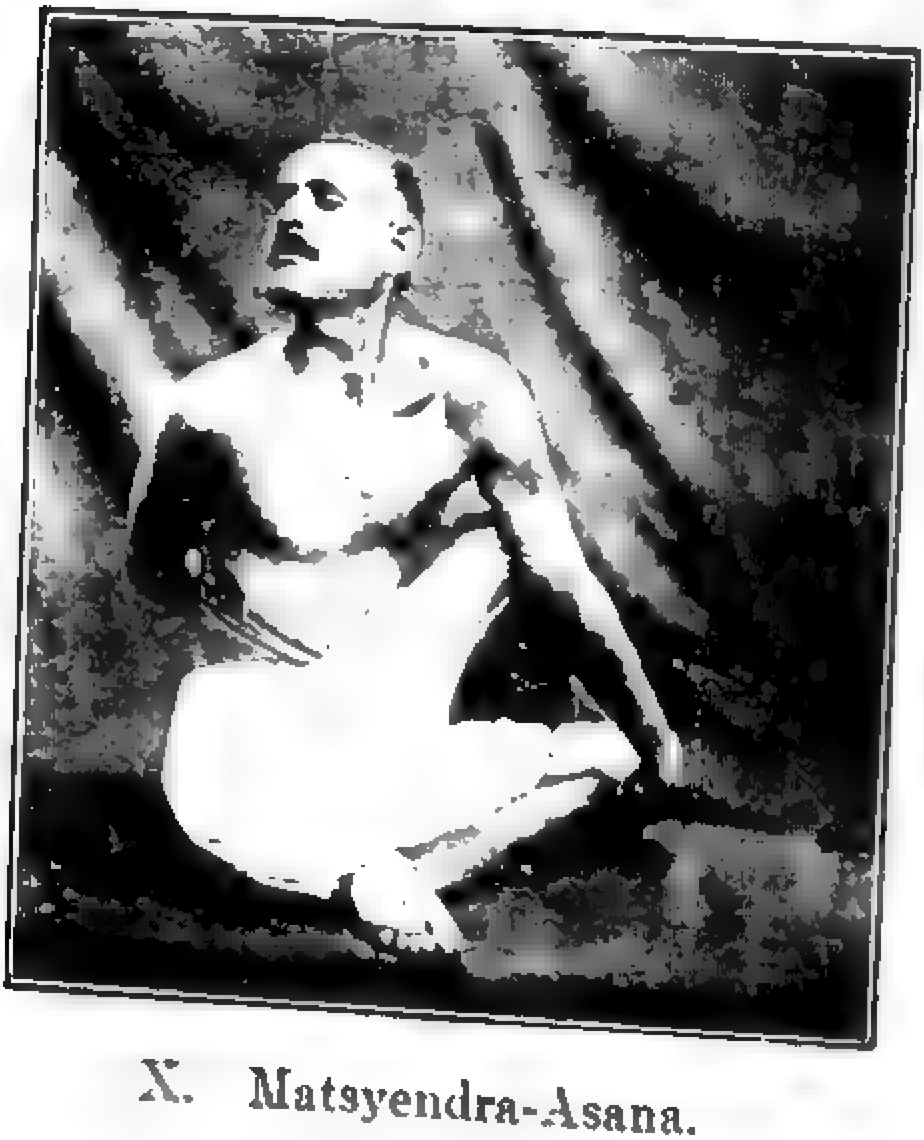
Final position

(Back view)

१०. मत्स्येन्द्रासन

अन्तिम आकार

(उदर का दृश्य)



X. Matsyendra-Asana.

Final Position.

(Front view)

१०. मत्स्येन्द्रासन (२)
चौथा आकार-सामने का दृश्य



X. Matsyendra-Asan No. 2.
Fourth Position.
Front view.

१०. मत्स्येन्द्रासन (२)

अन्तिम-आकार-पृष्ठीय दृश्य



X. Matsyendra-Asana No. 2.

Final Position-back view.

ओज की वृद्धि होती है, यह आसन स्कन्धों का व्यङ्ग दोष दूर करने में सहायता करता है, और पाचन विभाग तथा प्लीहा को भी प्रभावित करता है, कशेरुकाओं सहित पसलियों को दायीं और बायीं ओर तनता है।

नाम—इस आसन को योगाचार्य मत्स्येन्द्र ने स्त्री पुरुषों के कल्याण के लिये उद्धृत किया है, इस लिये इस को मत्स्येन्द्रासन का नाम दिया गया है।

सूचना-मत्स्येन्द्रासन(२)का अभ्यास बहुत कठिन प्रतीत हो, तो केवल मत्स्येन्द्रासन(१)का ही नित्य अभ्यास करना चाहिये

११. मत्स्यासन (१)

विधि—भूमि पर बैठ कर बायें पैर को दायीं जांघ के ऊपर, और दायें पैर को बायीं जांघके ऊपर इस प्रकार टिकाओ, कि पैरों के तलवे उदर की ओर और एड़ियां जांघों के मूल में स्थित हों, तब दायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को और बायें हाथ से दायें पैर के अंगूठे को इस प्रकार दृढ़ पकड़ो, कि प्रत्येक हाथ की अन्त की तीन अंगुलियां पैरों के प्रत्येक अंगूठे के गिर्द बाहिर की ओर से लिपट जायें, और प्रत्येक हाथ का अंगूठा तथा उस के साथ की अंगुलि पैर के प्रत्येक अंगूठे के बाहिर की ओर फैली रहें, (देखो चित्र, मत्स्येन्द्रासन। (१), प्रथमाकार)

पीठ पर लेट कर धीरे २ दोनों कोहनियों को झुकाते हुये भूमि पर टिका दो। (देखो चित्र, मत्स्येन्द्रासन (१), दूसरा आकार)

धीरे २ स्कन्धों को ऊपर उठाते हुये सिर को भीतर की ओर खींच कर वक्षस्थल को जितना हो सके ऊपर की ओर उठाओ, और साथ ही धीरे २ जाह्नुओं को नीचे झुकाते हुये भूमि पर लगा दो। (देखो चित्र,मत्स्यासन (१), अन्तिम आकार)

इस प्रकार पूर्ण तान की अवस्था में कुछ क्षण रह कर, धीरे २ यथाक्रम अङ्गों को ढीला करते हुये शवासन का अभ्यास करो ।

११. मत्स्यासन (२)

पूर्वोक्त प्रकार से टांगों की पालथी लगाते हुये भूमि पर लेट कर, दोनों बाहुओं को सिर के ऊपर की ओर लेजा कर दायें हाथ से बायें बाहु के भुजादण्ड को और बायें हाथ से दायें बाहु के भुजादण्ड को इस प्रकार दृढ़ पकड़ो, कि प्रत्येक हाथ की अंगुलियां तथा अंगुठे प्रत्येक भुजा के गिर्द बाहिर की ओर से लिपट जांयें. और जाह्नु कुछ झुके हुये हों। (देखो चित्र मत्स्यासन (२), प्रथम आकार)

तब भुजाओं को धीरे २ पीछे की ओर तनते हुये, जाह्नुओं को नीचे झुकाते हुये भूमि पर लगा कर पृष्ठ-वंश को जितना हो सके ऊपर की ओर तन दो। (देखो चित्र, मत्स्यासन (२), अन्तिम आकार)

इस तान की अवस्था में कुछ क्षण स्थित होकर धीरे २ यथाक्रम शरीर को ढीला करते हुये, यथापूर्व शवासन का अभ्यास करें।

दोनों मत्स्यासनों को, टांगों को इस प्रकार बदल कर भी करना उचित है, कि पहिले दायें पैर को बायें उरु पर, और

११. मत्स्यासन (१)—दूसरा आकार



XI. Matsya-Asana No. 1. Second Position.

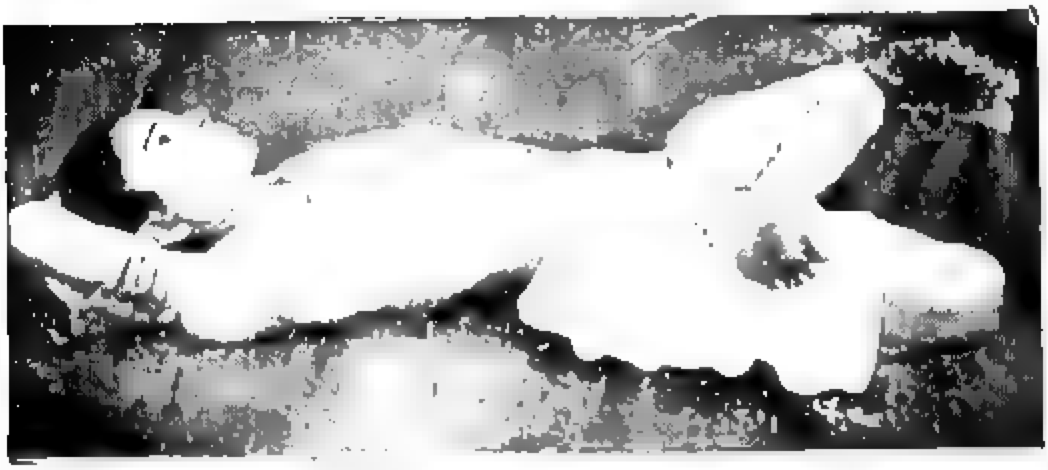
११. मत्स्यासन (१)—अन्तिम आकार



XI. Matsya-Asana No. 1. Final Position.

११. मत्स्यासन (२)

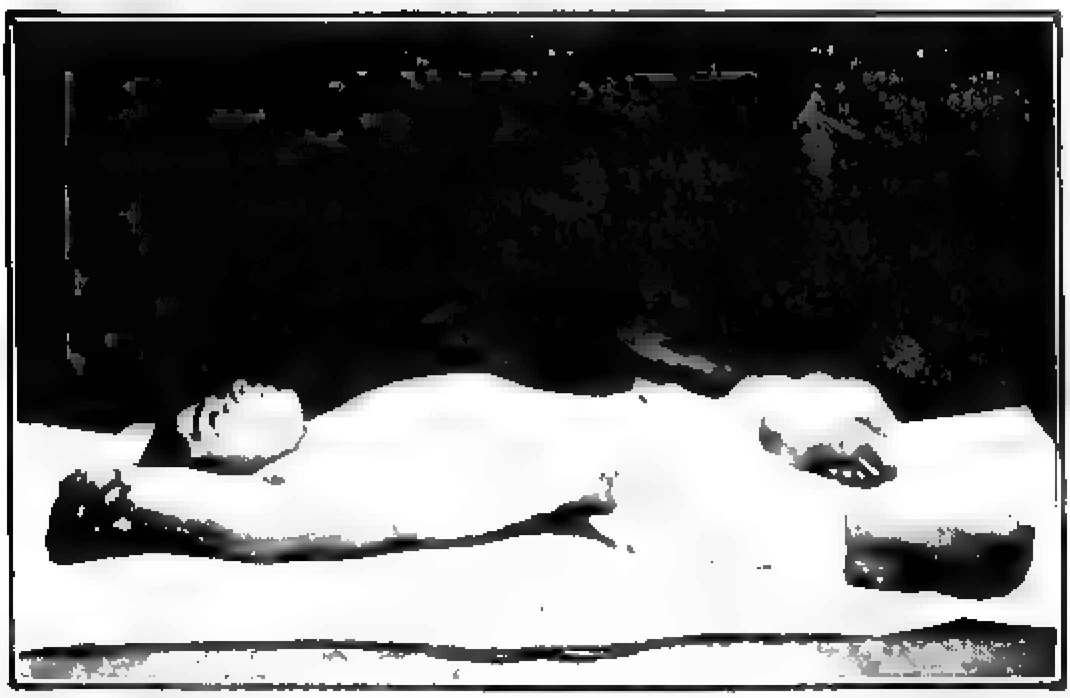
प्रथम आकार



XI. Matsya-Asana No. 2.
First Position.

११. मत्स्यासन (२)

अन्तिम आकार



XI. Matsya-Asana. No. 2.
Final Position.

फिर इस के ऊपर की ओर से बायें पैर को दायें उरु पर स्थित किया जाये।

फल—इस आसन में पृष्ठ-वंश के मोहरों तथा पसलियों को एकही समय में ऊपर तथा नीचे की ओर तनने का अवसर प्राप्त होता है, उदर प्रदेश पर भी दोनों प्रकार से दबाव पड़ता है, चुल्लिका तथा उपचुल्लिका ग्रन्थियां, और सुषुम्ना-शीर्षक भी इस से प्रभावित होते हैं, जिस से नाडी-शक्ति की वृद्धि व कबज़ी इत्यादि रोगों की निवृत्ति, तथा शरीर में लचक की स्थिरता होती है।

नाम—'मत्स्य' संस्कृत में मछली को कहते हैं, इस आसन को यह नाम इस लिये दिया गया है, कि मनुष्य इस आसन की अवस्था में जल में तैरते हुये, मछली के सदृश प्रतीत होता है।

प्रथम उप-आसन

(मत्स्य के पश्चात्)

विधि—मत्स्यासन के समान टांगों की पालथी लगा कर, दोनों बाहुओं को पीठ की ओर लेजाकर, दोनों हाथों की तलियों को बाहिर की ओर रखते हुये, इन को एक दूसरे के ऊपर रख दो, और कमर के मध्य में टिका कर भूमि पर पीठ की ओर लेट जाओ। (देखो चित्र, प्रथम उप-आसन, प्रथम-आकार व दूसरा आकार, मत्स्य के पश्चात्)।

तब धीरे धीरे जानुओं को नीचे झुकाते हुये भूमि पर लगा दो। (देखो चित्र, प्रथम उपासन, अन्तिम आकार, मत्स्य के

पश्चात्), इस अवस्था में जानुओं को शीघ्रता पूर्वक धीरे २ नीचे से दायीं ओर ऊपर लेजाते हुये, बायीं ओर को घुमाकर ऊपर से नीचे की ओर लेजायें, और इसी प्रकार बायीं ओर से ऊपर को घुमाकर दायीं ओर नीचे लेजायें, और धीरे २ शरीर को ढीला करते हुये शवासन करें।

फल—मत्स्यासन द्वारा कटि प्रदेश पर नित्य दबाव पड़ते रहने से वहां जड़ता प्रतीत होने लगती है, इस उपासन से कटि को गति देने से इस का भय नहीं रहता।

दूसरा उप-आसन
(मत्स्य के पश्चात्)

विधि—मत्स्यासन (२) के समान सिर की ओर भुजाओं को हाथों से पकड़ते हुये, पीठ की ओर लेट कर, जानुओं को सीधा खड़ा करके, टांगों के नीचे के भाग को बाहर की ओर सीधा फैला दो। (देखो चित्र, दूसरा उप-आसन प्रथम-आकर, मत्स्य के पश्चात्)।

तब टांगों को शीघ्रता पूर्वक वेग से बाहिर को फैलाते हुये, पैरों को भूमि से स्पर्श न करने दो। (देखो चित्र, दूसरा उप-आसन, अन्तिम आकर)।

फिर टांगों को भीतर की ओर वेग से लाते हुये, प्रथम आकार में आजाओ, इसी प्रकार तीन बार करके शवासन करो।

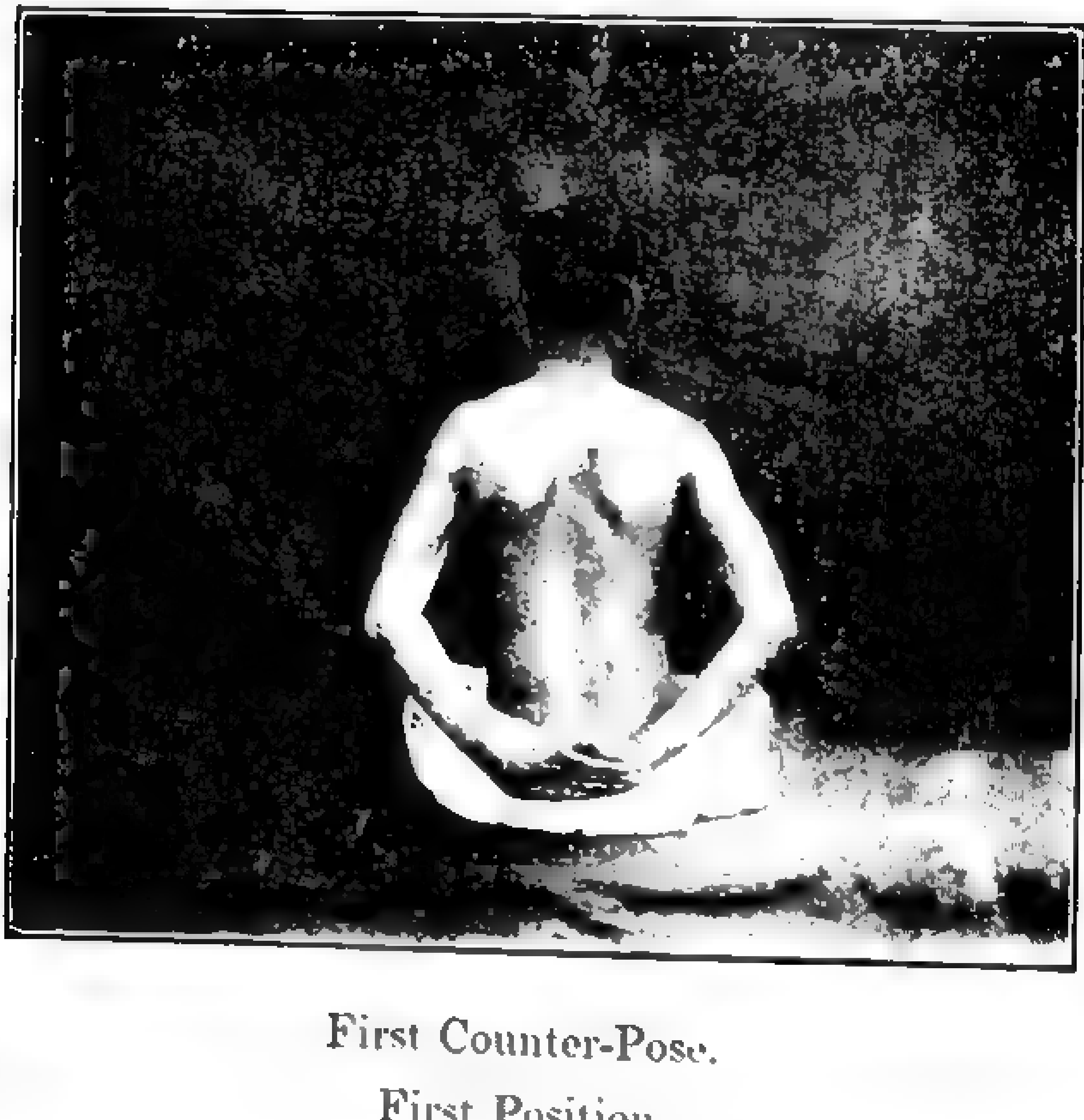
फल—यह उप आसन मत्स्यासन द्वारा कटि तथा पीठ पर पड़े हुये दबाव को निवृत्त करने में सहायता करता है।

सूचना—यह दोनों उप-आसन मत्स्यासन के पश्चात् नित्य ही करने चाहियें।

प्रथम उप-आसन

प्रथम-आकार

(मत्स्य के पश्चात्)



First Counter-Pose.

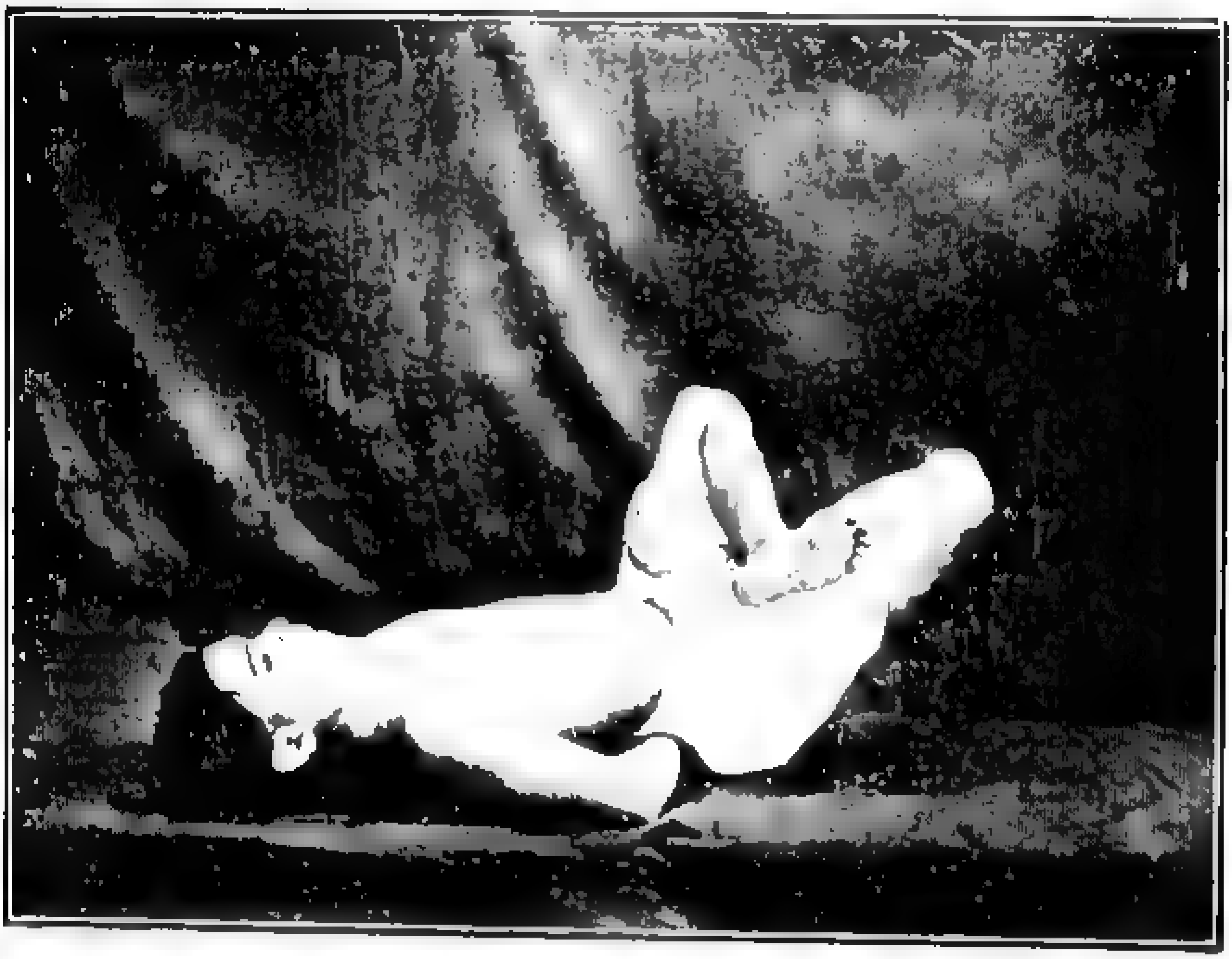
First Position.

(After Matsya.)

प्रथम उप-आसन

दूसरा-आकार

(मत्स्य के पश्चात्)



First Counter-Pose.

Second-Position.

(After Matsya.

प्रथम उप-आसन

अन्तिम-आकार

(मत्स्य के पश्चात्)



First Counter-Pose.

Final Position.

(After Matsya.)

दूसरा उप-आसन । प्रथम-आकार (मत्स्य के पश्चात्)



Second Counter-Pose.

First Position. (After Matsya.)

दूसरा उप-आसन । अन्तिम-आकार (मत्स्य के पश्चात्)



Second Counter-Pose.

Final Position. (After Matsya.)

१२. उड्डियान बन्ध

प्रथम आकार (पूरक के अनन्तर)

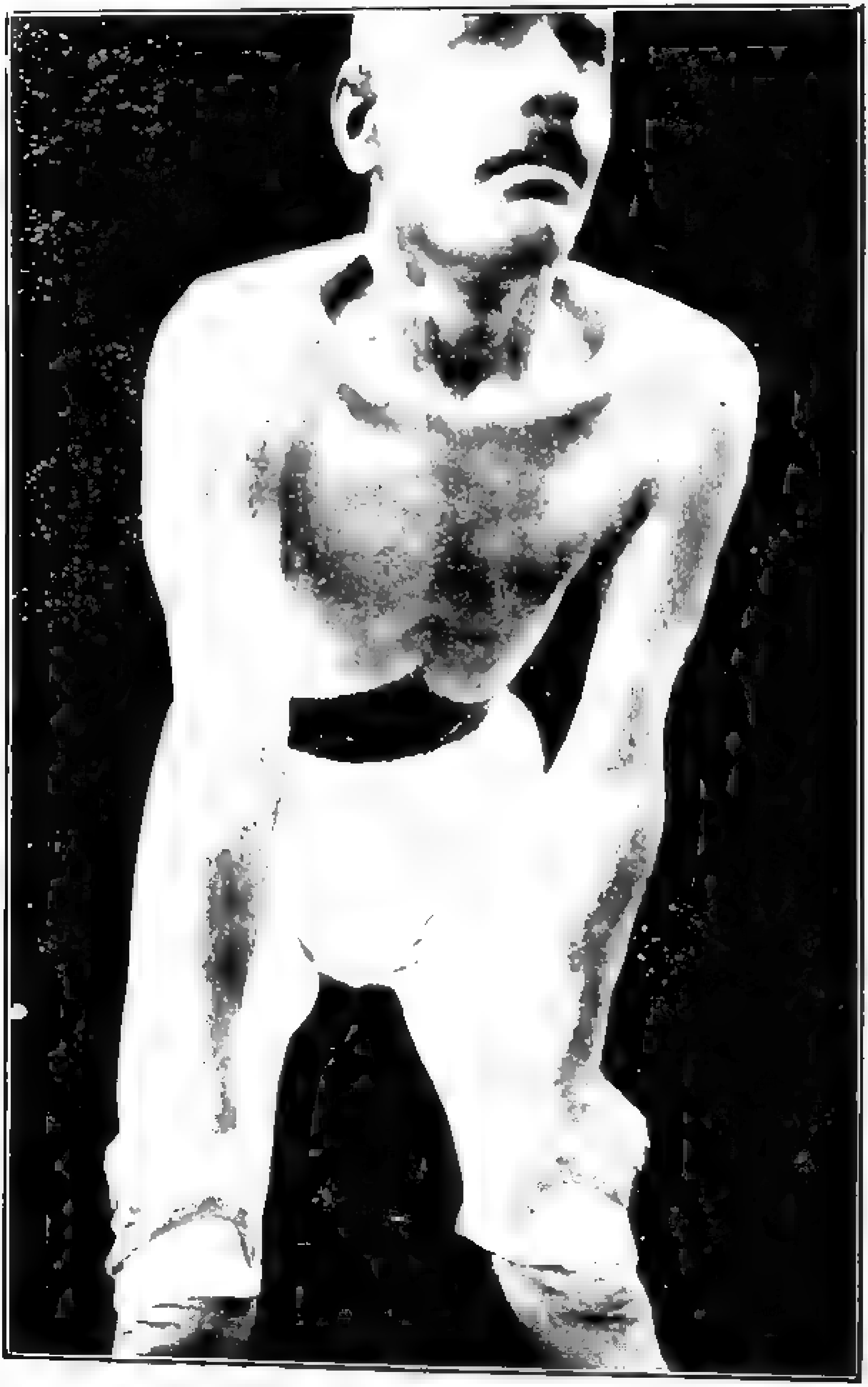


XII. Uddiyana-Bandha.

First Position. (After inhaling).

१२. उड्डियान बन्ध

अन्तिम आकार (पूर्ण दृश्य रेचक के अनन्तर)



XII. Uddiyana-Bandha.

a. Final Position—Full view after exhaling.

अन्तिम आकार (पार्श्वीय दृश्य)



No 1. Uddiyana-Bandha.

b. Final Position—Side view with Uddiyana performed.

१२. उड्डियान बन्ध

अन्तिम आकार (उदर का दृश्य रेचक के अनन्तर)



XII. Uddiyana-Bandha.
b. Final Position. Abdominal view after ex-ahaling.

१२. उड्डियान-बन्ध

विधि—पैरों को पृथक् रखते हुये सीधे खड़े हो जाओ, भुजाओं को दोनों ओर नीचे लटका दो, सारे शरीर को ढीला रखते हुये धीरे २ श्वास को भीतर खींचते हुये, और बाहुओं को धीरे २ ऊपर ले जाते हुये, कोहनियों को स्कन्धों के कुछ ऊपर ले जाओ, और पूरक के पश्चात् अन्तर-कुम्भक करते हुये, तुरन्त ही हाथों को जाहनुओं से कुछ ऊपर इस प्रकार स्थित करो, कि हाथों के अंगूठे भीतर की ओर, और अंगुलियां बाहिर की ओर दृढ़ लिपट जायें। (देखो चित्र, उड्डियान-बन्ध, प्रथमाकार, पूरक के अनन्तर)

तब धीरे २ श्वास को बाहिर निकालते हुये, यथासम्भव पूर्ण मात्रा में रेचक करके बाह्य कुम्भक करो, और तुरन्त ही यथासम्भव उदर को भीतर की ओर खींच लो। (देखो चित्र, उड्डियान बन्ध, अन्तिम आकार, पूर्ण दृश्य तथा उदर का दृश्य और पक्षीय दृश्य, रेचक के अनन्तर)

इस अवस्था में उदर गोलाकार रुप धारण कर लेगा, किसी प्रकार का लेशमात्र कष्ट प्रतीत न करते हुये, यथा-शक्ति कुछ क्षण इस अवस्था में स्थिर रह कर, तुरन्त सीधे खड़े होकर, धीरे २ पूरक करके शवासन में स्थित हो जाओ।

नाम—उड्डियान के अर्थ संस्कृत में ऊपर उड़ने के हैं, इस आसन में पक्षी के उड़ने के समान उदर तुरन्त भीतर को चला जाता है, और इस की पेशियां पूर्ण मात्रा में आकुञ्चित होकर उदर-प्रदेश पर अत्यन्त गहरा दबाव डालती है, इस लिये यह आसन उड्डियान-बन्ध कहलाता है।

फल—इस का प्रभाव आन्तों तथा बड़े नल पर भीतर की ओर अत्यन्त गहरा पड़ता है, कब्ज़ी इत्यादि उदर के रोग इस से दूर होते हैं, वक्षउदर-मध्यस्थ पेशी के अत्यन्त ऊपर उठने के कारण वक्षोस्थि,तथा कशेरुकाओं सहित पसलियों पर ऊपर की ओर गहरा दबाव पड़ता है, कण्ठ तथा मुख की पेशियां आकुञ्चित होकर अस्थियों को प्रभावित करती हैं।

सूचना—यह आसन भिन्न २ अवस्थाओं में किया जा सकता है, किन्तु सब से उत्तम प्रभाव उपरोक्त अवस्था में ही पड़ता है।

१३. नौली

विधि—पूर्वोक्त विधि के अनुसार उड्डियान बन्ध की अवस्था में सिर को कुछ नीचे झुका कर उदर के दोनों ओर की पेशियों को ढीला करके, उदर पर नीचे की ओर तथा बाहिर की ओर एक साथ दबाव डालते हुये, नल को ऊपर उठाओ। (देखो चित्र, नौली, अन्तिम आकार)

उड्डियान करके सिर को कुछ नीचे की ओर झुकाने पर स्वयमेव उदर की दोनों ओर की पेशियां ढीली होकर मध्यम भाग ऊपर को उभरने लगेगा, उस समय थोड़ा सा यत्न करने पर नल पूर्ण रीति से ऊपर उठेगा, अर्थात् उदर का मध्यम भाग ऊपर को उभर आयेगा और दोनों ओर भीतर घुस जायेंगे। इस को मध्यम-नौली कहते हैं, जब इस में सफलता प्राप्त हो जाये, तो फिर नल को दायीं से बायीं ओर जितनी बार हो सके घुमाओ इसी प्रकार बायीं से दायीं ओर नल को

१३. नौलि

अन्तिम आकार



XIII. Nauli

Final Position.

घुमाओ, यह अन्त की दोनों गतियां वाम तथा दक्षिण नौली कहलाती हैं।

नाम—इस क्रिया में चूंकि नल को घुमाया जाता है, इस लिये इस को नौली का नाम दिया गया है।

सूचना—प्रत्येक नौली-क्रिया उतने समय तक करते हुये, जितने समय तक बाह्य-कुम्भक सुगमता पूर्वक किया जा सके, प्रत्येक बार शवासन करना अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा, जब इस क्रिया में पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाये, तो प्रत्येक प्रकार की नौली-क्रिया सहित-कुम्भक प्राणायाम करने के पश्चात् रेचक करके करनी चाहिये, और तीनों प्रकार की क्रियाओं के पीछे यथापूर्व शवासन किया जाये।

फल—इस से उदर की पेशियों को चारों ओर गति करने का अवसर मिलता है, और आन्तों पर इस का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है, पुरानी से पुरानी कबज़ी, तथा अजीर्ण इत्यादि उदर के रोग दूर होने लगते हैं, जिगर, प्लीहा, क्लोम-ग्रन्थियों, वृक-ग्रन्थियों, मासिक-स्राव तथा डिम्ब-ग्रन्थियों के दोष निवृत्त होते हैं।

१४. मयूरासन

विधि—जानुओं के आधार पर भूमि पर सीधे बैठ कर भुजाओं को फैलाते हुये दोनों हाथों को मिला कर, तलियों को भूमि पर रक्खो। (देखो चित्र, मयूरासन, प्रथम आकार)

शरीरके पूर्व-भाग को कुछ झुकाते हुये, कोहनियों को भीतर की ओर झुका कर परस्पर मिलाओ, और उदर पर नाभि से

जितना हो सके नीचे की ओर टिका दो। (देखो चित्र, मयूरासन, दूसरा आकार)

सिर को नीचे झुकाते हुये ललाट को भूमि पर लगा दो, और यह ध्यान रक्खो कि कोहिनियां, हाथ तथा बाहु परस्पर पूर्ण रीति से मिले रहें, इस अवस्था में कटि को कुछ ऊपर उठा कर जाह्नुओं को कुछ आगे बढ़ाकर, मिली हुई कोहनियों को यथासंभव नाभि से और नीचे ले जाओ। (देखो चित्र, मयूरासन, तीसरा आकार)

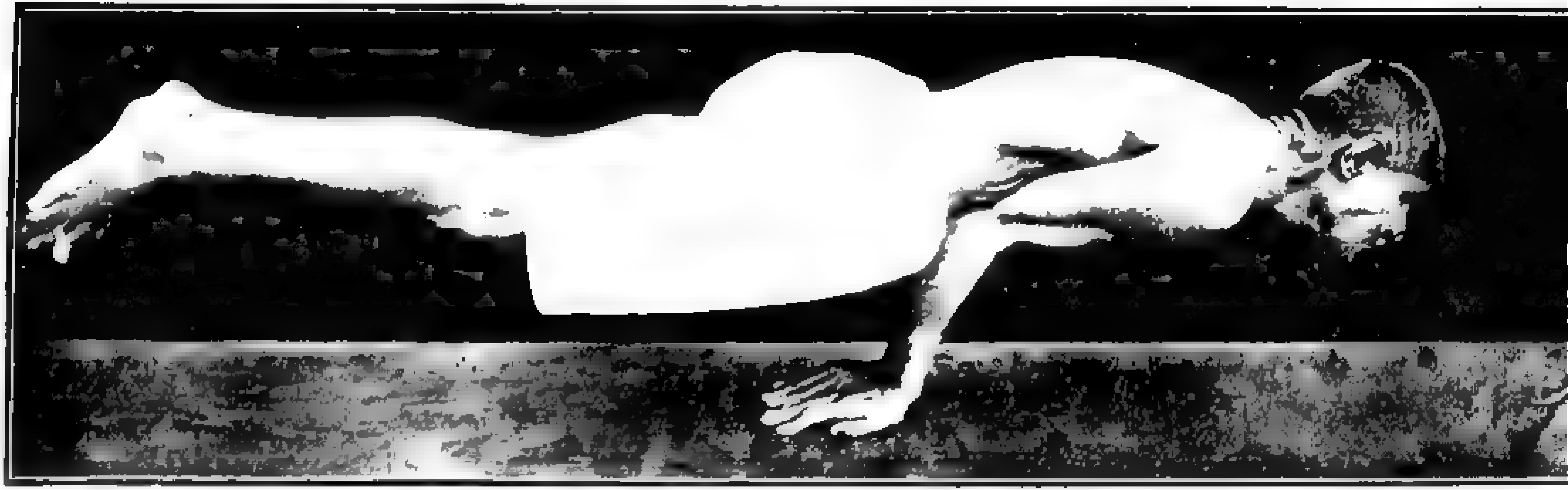
शरीर को सिर तथा हाथों के आधार पर रखते हुये, जाह्नुओं तथा पैरों को भूमि से कुछ ऊपर उठाओ। (देखो चित्र, मयूरासन, चौथा आकार)

दोनों, भूमि से उठे हुये, जाह्नुओं को पीछे की ओर सरकाते हुये, और दोनों पैरों को मिला कर ऊपर की ओर उठाते हुये टांगों, तथा शरीर के पूर्व-भाग को पांचवें आकार में ले आयें। (देखो चित्र, मयूरासन, पांचवां आकार)

पैरों को नीचे झुकाते हुये टांगों को बाहिर की ओर फैला कर, पैरों की अंगुलियों को भीतर मोड़ कर भूमि पर टिका दें। (देखो चित्र, मयूरासन, छठा आकार)

सिर को भूमि से कुछ ऊपर उठा कर आगे को बढ़ाते हुये इतना आगे ले जायें, कि पैरों की अंगुलियां विना अपने स्थान से सरकने के बाहिर की ओर फैल जायें, प्रकोष्ठ (Fore-arm) भूमि पर सीधे खड़े हो जायें, और शरीर का पूर्व-भाग तथा उत्तर-भाग कोहनियों पर तुल जायें, तब अत्यन्त धीरे २ पैरों को ऊपर उठा कर सारे शरीर को तन कर हाथों के आधार पर आकाश

१४. मयूरासन
अन्तिम आकार



XIV. Mayura-Asana.
Final Position.

में खड़ा कर दें। (देखो चित्र, मयूरासन अन्तिम आकार-इस चित्र में हाथ भूमि पर टिके हुये हैं)।

इस प्रकार पूर्ण तान की अवस्था में कुछ क्षण स्थिर रह कर, यथाक्रम शरीर को ढीला करते हुये, यथापूर्व शवासन करो।

सूचना—इस आसन को करते हुये, जितना धीरे २ शरीर को गति दी जायगी, उतना ही इसे सुगमता पूर्वक किया जा सकेगा, अन्यथा मनुष्य शरीर को स्थिर रखने में असमर्थ होगा, प्रथम आरंभकाल में श्वास शीघ्रता से आने जाने लगेगा, और गहरा नहीं होगा, किन्तु अभ्यास करते हुये अपने अधिकार में आजायेगा।

नाम—इस आसन में शरीर कुछ मयूर के, पुच्छ सहित टांगों पर खड़े होने के आकार के सदृश प्रतीत होता है, इस लिये इस को मयूरासन का नाम दिया गया है।

फल—शरीर पर सामान्य प्रभाव के अतिरिक्त इस से आन्तों तथा बड़े-नल पर शेष सब आसनों से अधिक प्रभाव पड़ता है, नाभि-ग्रन्थियों पर यह आसन अत्यन्त गहरा दबाव डालता है, इस के यथाविधि और यथायोग्य प्रयोग से अत्यन्त पुरानी तथा भयानक कब्ज़ी इत्यादि उदर के रोग दूर होते हैं, पृष्ठ-वंश के मोहरों तथा पसलियों पर नीचे तथा ऊपर की ओर यथाक्रम गहरा दबाव पड़ता है, नाडी-केन्द्रों तथा सारे शरीर में फैले हुये नाडी-सूत्रों को प्रभावित करता है, जिस से नाडी-शक्ति की वृद्धि होती है।

१७. वृक्षासन

विधि —दोनों टांगों पर सीधे खड़े होकर, दायीं टांग को मोड़ कर, दायें पैर की एड़ी को बांयीं जांघ के मूल में, और तलवे को जांघ पर भीतर की ओर टिका दो, सन्मुख दृष्टि रखते हुये दोनों भुजाओं को मोड़ कर, दोनों हाथों की तलियों तथा अंगुलियों को एक दूसरे के ऊपर जमा कर, हृदय के समीप छाती के मध्य में स्थित करो, जब कि हाथों की अंगुलियां बाहिर की ओर फैली रहें। देखो चित्र, वृक्षासन, प्रथम आकार)।

रेचक करके धीरे २ पूरक करते हुये हाथों तथा भुजाओं को ऊपर उठाते हुये दोनों कोहनियों को एक सीध में ले जाओ, और पूरक करके अन्तर-कुम्भक की अवस्था में हाथों की तलियों तथा अंगुलियों को परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध दबाओ। (देखो चित्र, वृक्षासन, अन्तिम आकार)।

इस तान की अवस्था में इतने क्षण ठहरो जिस से किसी प्रकार लेश मात्र भी कष्ट प्रतीत न हो, फिर धीरे २ भुजाओं को ढीला करते हुये रेचक करके बाह्य-कुम्भक करो, और यथा-पूर्व भुजाओं को तन कर उसी प्रकार परस्पर हाथों पर दबाओ डालते हुये यथाशक्ति इस अवस्था में ठहरे रहो, फिर धीरे २ पूरक करते हुये, भुजाओं को ढीला करके, दोनों टांगों पर खड़े हो जाओ, और इस आसन को उपरोक्त प्रकार से बायें पैर के तलवे को दायें उरु पर धर कर, पूर्व रीति से दूसरी बार करो, अन्त में यथा पूर्व शवासन करो।

सूचना—प्रथम आरम्भ करने के समय हाथों पर नाम-मात्र दबाव डालो, अन्यथा सिर में चक्कर आजाने का भय है, धीरे २ अभ्यास द्वारा अधिक दबाव सहन करने की शक्ति बढ़ती जायेगी, किन्तु कुछ क्षण से अधिक कभी भी दबाव स्थिर रखने की चेष्टा न की जाये, अन्यथा हृदय तथा फुफुसों के लिये हानिकारक सिद्ध होगा, यदि किसी समय इस का अभ्यास करते हुये, सिर में चक्कर आजाये, तो उसी क्षण शवासन में स्थित हो जाओ।

नाम—चूंकि इस आसन में एक टांग पर खड़े होने का आकार वृक्ष के खड़े रहने के सदृश प्रतीत होता है, इसलिये इस का नाम वृक्षासन रखा गया है।

फल—इस आसन में फुफुस तथा हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ने से वहां रक्त की मांग अधिक पैदा होती है, जिस से इन की शक्ति तथा ओज की वृद्धि होती है, इस आसन का विधि-पूर्वक अभ्यास करने वाला, हृदय स्पन्द के एक दम बन्द हो जाने से कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकता, और इन में किसी प्रकार का रोग पैदा नहीं हो सकता, यदि इन में कुछ निर्बलता हो तो वह भी धीरे २ दूर हो जाती है।

१६. सर्वाङ्गासन

विधि—टांगों को तनते हुये, कुछ ढीला रखकर, पूर्वोक्तासन में बताई हुई विधि के अनुसार, धीरे २ उठाते हुये, शरीर को उक्त आसन के चौथे आकार में ले आवें, तब दोनों भुजाओं तथा स्कन्धों को पूर्ण तन कर, टांगों को धीरे २ पीठ की ओर लाते

हुये और पीठ को सीधा रखते हुये, दोनों को एक सीध में ले आयें, जिस से कि सारा शरीर दोनों भुजाओं पर तुला रहे। (देखो चित्र, सर्वाङ्गासन, अन्तिम आकार)

इस अवस्था में कुछ क्षण ठहर कर, यथाक्रम धीरे २ शरीर को ढीला करते हुये, आरंभक दशा में आकर यथापूर्व शवासन करें।

१६. सर्वाङ्गासन (दूसरा प्रकार)

विधि—उपरोक्त प्रकार से पूर्वोक्तासन के चौथे आकार में स्थित होकर, कोहनियों को मोड़कर दोनों हाथों को पीठ के ऊपर इस प्रकार टिकायें, कि हाथों के अंगूठे बाहिर की ओर, और अंगुलियां भीतर की ओर रहें, तब धीरे २ हाथों को नीचे सरकाते हुए यथा-सम्भव पीठ के नीचे के भाग में दृढ स्थित करने का यत्न करें, और पीठ को भीतर की ओर दबाते हुए टांगों को इसकी सीध में ले आयें, इस अवस्था में ठोडी छाती से स्पर्श करेगी। (देखो चित्र, सर्वाङ्गासन,दूसरा प्रकार, अन्तिम आकार)

इस अवस्था में कुछ क्षण स्थित रह कर, धीरे २ आरंभक दशा में आकर शवासन करें।

नाम—इस आसन में शरीर के सब अङ्गों का सारा भार भुजाओं पर होने के कारण, इसको सर्वाङ्गासन कहा गया है।

फल—इस आसन का विशेष प्रभाव चुलिका तथा उप-चुलिका ग्रन्थियों पर पड़ने के कारण यौवन को स्थिर रखने तथा नष्ट हुए २ यौवन को पुनः प्राप्त कराने में,इसका बहुत महत्त्व है,

१६. सर्वाङ्गासन

अन्तिम आकार



XV. Sarvanga-Asana

Final Position (with arms stretched).

१६. सर्वाङ्गासन (दूसरा प्रकार)

अन्तिम आकार



XVI. Sarvanga-Asana

Final Position (with arms folded).

पृष्ठ-वंश के मोहरों पर इसके द्वारा नीचे से ग्रीवा की ओर दबाव पड़ता है, जिस से नाडी-केन्द्रों को शक्ति वृद्धि को प्राप्त होती है, शुक्र-ग्रन्थियां, गर्भाशय तथा डिम्ब-ग्रन्थियां भी इस से प्रभावित होती हैं. यह स्त्री पुरुषों की नपुंसकता को दूर करने में सहायता करता है, और पाचक विभाग की शक्ति को उन्नत करता है, वांझपन तथा डिम्बग्रन्थियों, गर्भाशय, मूत्राशय इत्यादि के रोग इस से निवृत्त होने लगते हैं।

सूचना—धनुरासनों को छोड़कर सर्वाङ्गासन के समान जिन २ आसनों के दो २ प्रकार दिये गये हैं, उन के एक प्रकार को प्रति दिन करना उचित है ।

१७. विपरीतकरणी-मुद्रा

(शीर्षासन)

विधि—दोनों जाहनुओं के आधार पर भूमि पर बैठ कर दोनों हाथों की अंगुलियों को एक दूसरे के बीच में डालकर भूमि पर इस प्रकार खड़ा करो. कि हाथों की तलियां भीतर की ओर खड़ी रहें, और प्रकोष्ठ (Fore-arm) भूमि पर टेढ़ी टिकी हों, तब सिर को नीचे झुकाते हुए इसका पीछे का भाग जुड़े हुए हाथों के मध्य में और ऊपर का भाग भूमि पर टिका दो, और पीठ को सीधा खड़ा कर दो, इस अवस्था में दोनों टांगें जाहनुओं पर झुकी हुई, भूमि से ऊपर उठी होंगी, और पैरों की अंगुलियां भूमि पर तिरछी लगी रहेंगी, जब कि टांगें और पैर परस्पर मिले होंगे, और जाहनु छाती के साथ स्पर्श कर रहे

होंगे। (देखो चित्र, विपरीतकरणी मुद्रा, प्रथम आकार, पृष्ठ का दृश्य, तथा पक्ष का दृश्य)।

तत्पश्चात् शरीर के पूर्व भाग को सर्वथा निश्चल रखते हुए धीरे २ पैरों को ऊपर उठाते हुये, पड़ियों को चूतड़ों पर टिका कर, टांगों को दोहरा कर दो। (देखो चित्र, विपरीत-करणी मुद्रा, दूसरा आकार)।

फिर दोनों जाह्नुओं को ऊपर उठाते हुये पैरों को पीठ की ओर ले जाओ। (देखो चित्र, विपरीतकारणी मुद्रा, तीसरा आकार)

तब पैरों को ऊपर उठाते हुये टांगों को बिलकुल सीधा कर दो, जिससे सारा शरीर एक सीध में आ जायगा। (देखो चित्र, विपरीतकरणी मुद्रा अन्तिम आकार)।

इस अवस्था में कुछ क्षण स्थित रह कर यथाक्रम वापस लौटते हुये प्रथम आकार में आजाओ और क्षण भर सिर को भूमि पर रखते हुए, अत्यन्त धीरे २ इसको ऊपर उठाते हुए, पूर्व दशा में आकर शवासन करो।

सूचना--इस आसन को करते हुये नेत्रों को सर्वथा बन्द रखो, आरंभकर्ता यदि पहिले पहिल सिर के अगले भाग को भूमि पर रखेगा, और टांगों को गति देते हुए शरीर के पूर्व-भाग को लेश मात्र भी हिलने नहीं देगा, तो उसको एक दो दिन में ही सफलता प्राप्त हो जायगी, आसन में पूर्ण सिद्धि हो जाने के पश्चात् साधक को चाहिये कि वह पहिले लघु-मस्तिष्क तथा बृहद्-मस्तिष्क की सन्धि के स्थान को, फिर बृहद्-मस्तिष्क

के मध्यम भाग तथा अग्र-भाग को बारी २ भूमि पर टिकाते हुए, तीन बार इस आसन को करे, और उतनी ही बार साथ २ शवासन का अभ्यास करे, इस से अत्युत्तम लाभ होगा, अन्त में कम से कम दस पन्द्रह मिनट तक इस प्रकार शवासन करे, कि तीन २ मिनट के अवकाश पर प्रथम आकार में स्थित होकर सिर के उक्त तीनों भागों को बारी २ कुछ क्षण तक भूमि पर रखकर अत्यन्त धीरे धीरे ऊपर को उठाते हुए प्रत्येक बार शवासन करे, उक्त अवस्था में सिर के दायें तथा बायें पक्ष को भी साथ २ क्षण भर भूमि पर टकाने का अवसर देता रहे, इस के पश्चात् शवासन के विना किसी दूसरे आसन का अभ्यास मस्तिष्क के लिए हानिकारक सिद्ध होगा।

नाम—इस आसन में रक्त का प्रवाह साधारण अवस्था की अपेक्षा विपरीत दशा में अर्थात् सिर की ओर अधिक वेग से होने लगता है, इस लिये इसको विपरीतकरनी मुद्रा का नाम दिया गया है, चूंकि इसमें सिर के आधार पर मनुष्य उलटा खड़ा होता है, इस लिये प्रायः इसको शीष-आसन ही कहा जाता है।

फल—इस के द्वारा रक्त का प्रवाह अधिक मात्रा में मस्तिष्क की ओर चलता है, जिससे दोनों मस्तिष्कों की शक्ति तथा ओज में वृद्धि होती है, पिट्युटरी-ग्रन्थि तथा पीनिअल-ग्रन्थि पर इस का पूर्ण उपयोगी प्रभाव पड़ता है, जिससे मनुष्य की शारीरिक पुष्टि तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है, काम-वासना उत्तेजित नहीं होती, स्त्री पुरुषों की उत्पादिक शक्ति की निर्बलता दूर होती है, स्त्रियों का मूर्च्छा का रोग (Hysteria), पागलपन,

प्रकार के परिश्रम तथा रोग की अवस्था में वृद्धि अथवा कमी हो जाती है।

फुफुस तथा रक्त शोधन

हृदय के दाहिने क्षेपक-कोष्ठ से कर्बनद्विओषित नामक विषात्मिक गैस (Carbon dioxide) से भरा हुआ रक्त फुफुसीया-धमनी द्वारा दोनों फुफुसों के वायु-कोष्ठों की दीवारों में प्रवेश करने वाली केशिकाओं में पहुंचता है, और बाहिर से उच्छ्वास (Inhaling) द्वारा ओषजन (Oxygen) प्रधान स्वच्छ वायु का प्रवेश वायु-कोष्ठों में होता है, तो दोनों प्रकार की गैसों के स्वाभाविक परिवर्तन से रक्त ओषजन को ग्रहण करके, कर्बनद्विओषित का त्याग करता है, इस प्रकार गैसों के स्वाभाविक गुण के अनुकूल ओषजन वायु-कोष्ठों में से रक्त में मिलती है, और कर्बनद्विओषित रक्त से वायु-कोष्ठों में प्रवेश करती है, इन वायु-कोष्ठों में भी इन दोनों गैसों को अदल बदल कराने की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान है, रक्त-कणों में एक लाल रंग की लोहे से मिली हुई कणरञ्जक Hæmoglobin) नामक प्रोटीन होती है, जो ओषजन-प्रधान रक्त को लाल कर देती है, जिस रक्त में कर्बनद्विओषित अधिक मात्रा में होती है, उस का वर्ण कालिमा युक्त (काला सा) होता है. फुफुसीय रक्त की ओषजन का अधिक भाग कणरञ्जक में मिल जाता है, और शेष कुछ भाग रक्त-वारि में घुल जाता है, प्रश्वास (Fxhaling) के समय रक्त ओषजन को लेकर फुफुसों से हृदय के बायें ग्राहक कोष्ठ में प्रवेश करके, बायें क्षेपक-कोष्ठ द्वारा शरीर में विभक्त

होने के लिये चला जाता है, और कर्बनद्विओषित रक्त से पृथिक होकर नासिका द्वारा बाहिर निकल जाती है, इसी प्रकार निरन्तर विषात्मिक रक्त हृदय द्वारा फुफुसों में आता रहता है, और शुद्ध होकर शरीर का पालन पोषण करने के लिये वापिस जाता रहता है।

हमारे श्वास-क्रम में इन दोनों गैसों के अतिरिक्त इन में कुछ और वस्तुएं भी साथ मिली होती हैं और प्रत्येक उच्छ्वास तथा प्रश्वास क्रिया में वायु का संगठन (Composition) निम्न प्रकार से होता है:—

प्रति १०० भाग

अवयव	ओषजन	कर्बनद्विओषित	नत्रजन	जलीय अंश
उच्छ्वासवायु	२०'८	०'०४	७८'८७	अंश मात्र
प्रश्वासवायु	१६'०	४'०	७८'८७	अधिक मात्रा में
शेष	४'८	६		

उपरोक्त चित्र से प्रतीत होता है, कि प्रत्येक श्वास में प्राय: मनुष्य कितनी मात्रा में भिन्न २ अवयवों को ग्रहण करता तथा त्यागता है, नत्रजन (Nitrogen) की शरीर को वायुरूप में आवश्यकता न होने के कारण रक्त इस को ग्रहण नहीं करता, और जल का अंश रक्त में अधिक होने के कारण त्याग देता है, जीवन के हेतु ओषजन को ग्रहण करके कर्बनद्विओषित को बाहिर निकाल देता है। इसके अतिरिक्त कुछ उड़नशील विषात्मिक पदार्थ भी प्रश्वास द्वारा बाहिर निकल जाते हैं।

उपरोक्त कथन से सिद्ध होता है, कि:—

१. नासिका द्वारा श्वास लेना अत्यन्त उपयोगी है।

(Epiglottis) को बनाती है,और शेष आठ से उसकी दीवारें बनती हैं, जब भोजन मुख द्वारा कण्ठ में जाता है, तो यह ढकना जो चौड़े पत्र (पत्ते) के समान होता है, पीछे को झुक कर स्वरयन्त्र के मार्ग को ढांप देता है, जिससे भोजन अन्न प्रणाली की ओर चला जाता है, किन्तु वायु के कण्ठ में प्रवेश करते समय स्वरयन्त्र खुला रहता है, इसके (स्वरयन्त्र के) निचले भाग में वक्षोस्थि के पीछे एक ४½ इञ्च लम्बी नाली है,जिसे टेंटुवा कहते हैं, अन्न-प्रणाली इसके पीछे की ओर से होकर जाती है, वक्ष के चौथे पांचवे कशेरुका के सन्मुख टेंटुवा दो शाखाओं में विभक्त हो जाता है, जिनको वायु-प्रणालियां कहते हैं, इनकी तथा टेंटुवे की दीवारें सौत्रिक तन्तुओं, कारटिलेज के छल्लों, श्लैष्मिक-कला तथा ऐच्छिक पेशियों से बनी हैं एक इञ्च लम्बी दायीं वायु-प्रणाली दायें फुफुस में और दो इंच लम्बी बायीं वायु-प्रणाणी बायें फुफुस में प्रवेश करती है, दायीं प्रणाली बायीं से अधिक चौड़ी है, फुफुस में प्रवेश करने पर यह दोनों बहुत सी शाखाओं प्रति-शाखाओं में विभक्त हो जाती हैं।

फुफुस के अनेक छोटे २ सौत्रिक तन्तुओं द्वारा परस्पर जुड़े हुये खण्ड हैं, इनमें से प्रत्येक के साथ एक २ श्वास प्रणालिका का सम्बन्ध हैं, उस खण्ड की कई कोठरियां हैं, जिनको वायु-मन्दिर कहते हैं, प्रत्येक वायु-मन्दिर की कई छोटी २ कोठरियां हैं, जो वायु-कोष्ठ (Air-cell) कहलाते हैं, दोनों फुफुसों के वायु-मन्दिरों की संख्या लगभग १८ करोड़ अनुमान की जाती हैं, कोष्ठों की दीवारें पतले तथा चपटे सेलों की बनी हैं, जिनके बाहिर की ओर पीले स्थिति स्थापक

(Elastic) सौत्रिक तन्तुओं की सूक्ष्म तहे हैं, जिनमें रक्त केशिकाओं का जाल फैला हुआ है, केशिकाओं के रक्त तथा कोष्ठों की वायु के मध्य में केवल इन दोनों की सूक्ष्म दीवारें विद्यमान हैं ।

श्वास-क्रिया

जब हम श्वास भीतर खींचते हैं, तो उस समय छाती के फैलने से वक्ष की समाई बढ़ जाती है, और वक्षउदरमध्यस्थ पेशी (Diaphram) संकुचित होकर उदर की ओर दब जाती है, जिससे आमाशय,यकृत,आंतों इत्यादि के नीचे की ओर सरकने से उदर ऊपर को उभरता है, छाती की पेशियों के संकोच से उरोऽस्थि तथा पसलियां ऊपर को उठती हैं, जिससे ज्यों २ श्वास भीतर जाता है, और वक्ष की समाई बढ़ती है,त्यों २ वायु को फुफुसों में प्रवेश करने का अवसर मिलता है, और वायु-मन्दिरों के फैलने से फुफुसों का परिमाण बढ़ जाता है, इसके पश्चात् जब श्वास बाहिर निकलता है, तो सब अङ्ग अपनी पूर्व दशा को प्राप्त कर लेते हैं, यह स्मरण रखना चाहिए, कि फुफुसों का पूर्ण प्रसरण तथा संकुचन तभी हो सकता है, जब कि यथासंभव गहरा श्वास लिया जाये,और चाहे कितना भी प्रश्वास (Exhaling) गहरा हो, फुफुस कभी भी पूर्ण रीति से वायु शून्य नहीं हो सकते ।

साधारण अवस्था में स्वस्थ मनुष्य मिनट में प्रायः १६ से २० तक श्वास लेता है, और एक वार श्वास लेने पर उसका हृदय चार पांच बार धड़कता है, किन्तु इस संख्या में किसी

मिरगी इत्यादि रोगों का नाश होता है, मास्तिष्क की स्मरण-शक्ति तथा बुद्धि का विकाश होने लगता है, नेत्रों की दृष्टि बढ़ती है, और कई प्रकार के मस्तिष्क तथा उदर के रोगों की निवृत्ति होती है।

प्राणायाम
(Yogic breathing).

लोग प्रायः योगाभ्यास का अर्थ यही समझते हैं, कि किसी विशेष आसन में स्थित होकर, श्वास को भीतर अथवा बाहिर निकाल कर उसे अधिक से अधिक ठहराने का यत्न किया जाये, इस प्रकार अभ्यास करते हुये अनेकों के हृदय तथा फुफुस में कई प्रकार के रोग पैदा हो गये, कई मस्तक में विकार आ जाने से पागलों के समान बन गये, कई जनों का पाचक विभाग बिगड़ गया, और वह इस प्रकार स्वास्थ्य के बिगड़ जाने पर योग पर दोष आरोपन करने लगे, और उनकी रुग्ण अवस्था को देखकर दूसरे योग को घृणा की दृष्टि से देखने लगे, किन्तु प्राणायाम को ठीक विधि से करने तथा उसके महत्त्व को समझने के लिये हमें श्वासोच्छ्वास विभाग (Respiratory system) की रचना तथा कार्य का संक्षिप्त बोध होना परमावश्यक है।

श्वासोच्छ्वास विभाग

इस विभाग का विशेष सम्बन्ध रक्त-शोधन के साथ है, जिस में निम्न-लिखित मुख्य अङ्ग-भाग लेते हैं:—

१. नासिका, २. कण्ठ, ३. स्वरयन्त्र, ४. टेंटुवा, ५. वायु-प्रणालियां, ६. फुफुस, तथा ७. हृदय।

नासिका—नासिका का ऊपर का भाग अस्थि युक्त होने से कठिन और भीतर का भाग कारटिलेज युक्त होने के कारण कोमल होता है, इसके भीतर अगले भाग में दो छिद्र नासान्ध्र (Cavities of nose) और ऊपर का भाग नासा-सेतु (Bridge-of nose) कहे जाते हैं, नासिका के भीतर मध्य में एक परदे की दीवार सी खड़ी है, जिसके दोनों ओर की नालियां नासा-गुहा कहलाती हैं, परदे के अगले भाग में कारटिलेज और पिछले में अस्थि है, और दीवार के सब भाग श्लैष्मिक-कला से ढके हैं, और नासा-गुहा में तीन शुक्तिकाओं द्वारा तीन नासा-सुरंगे (nasal meatus) बन जाती हैं, नासारन्ध्रों में मोटे २ बाल होते हैं। जिनसे एक छलनी सी बन जाती है, और भीतर जाने वाली वायु में मिली हुई धूलि का शोधन हो जाता है, नासा-गुहा का भीतर का पिछला द्वार कण्ठ से सम्बन्ध रखता है, नासिका की श्लैष्मिक-कला में रक्त अधिक रहता है, जिसका मुख्य उद्देश्य भीतर जाने वाली वायु को गरम करना है, इसके द्वारा वायु कुछ तर भी हो जाती है, अधिक ठण्डी अथवा शुष्क वायु फुफुसों इत्यादि के लिये हानिकारक सिद्ध होती है।

नासिका से वायुकण्ठ के द्वारा स्वरयन्त्र (Larynx) में प्रवेश करती है, जो कण्ठ के सम्मुख स्थित है, और नौ प्रकार के कारटिलेजों से बना हुआ एक कोष्ठ है, जिसके नीचे का भाग टेंटुवे (Trachea) से और ऊपर का भाग कण्ठ से सम्बन्ध रखता है, एक कारटिलेज स्वरयन्त्र के ढकने अर्थात् स्वरयन्त्रछद

२. जितना गहरा श्वास होगा उतना ही उत्तम परिणाम होगा।

३. रक्त का पूर्ण शोधन करने के लिये शुद्ध वायु का सेवन करना परमावश्यक है।

४. गहरा श्वास सुगमता पूर्वक चलने के लिये मित-आहार तथा उदर को मल-शून्य रखने की आवश्यकता है।

५. हमारे धारण करने के वस्त्र ऐसे हों, जिन के धारण करने से शरीर के पूर्व-भाग पर किसी प्रकार का लेशमात्र दबाव प्रतीत न हो, ताकि प्रश्वास तथा उच्छ्वास क्रिया सुगमता-पूर्वक तथा गहरी होने में यह किसी भांति बाधक सिद्ध न हों।

६. हमारे चलने फिरने, बैठने उठने, लेटने, खड़ा होने, विश्राम तथा कार्य इत्यादि करने का ढंग प्रायः इस प्रकार का हो, जो यथासम्भव हमारे श्वास के मार्ग में किसी प्रकार से विघ्नकारी सिद्ध न हो।

उपरोक्त सिद्धान्तों को सन्मुख रखते हुये, यदि हम निरीक्षण करें, तो पता लगेगा कि योग के आचार्यों ने प्राणायाम का विधान करने में कितने महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी और सूक्ष्म अनुभवों का प्रतिपादन किया है, और यदि उस को पूर्णरीति से समझ कर विधिपूर्वक उस का अनुकरण किया जाये, तो वह मनुष्य के लिये कितना उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

प्राणायाम और पातञ्जलशास्त्र

महर्षि पतञ्जलि प्राणायाम का लक्षण करते हुये कथन करते

६-"तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः"।२।४९॥

अर्थ—"आसन के सिद्ध अर्थात् स्थिर हो जाने पर श्वास (पूरक) और प्रश्वास (रेचक) की गति का अभाव (कुम्भक) प्राणायाम कहलाता है।"

इस सूत्र पर भाष्य करते हुये महर्षि व्यास लिखते हैं:—

"सत्यासनजये वाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः,
कौष्ठ्यस्य वायो निःसारणं प्रश्वासः,
तयो र्गतविच्छेदः उभयाभावः प्राणायामः।

अर्थ—"आसन पर विजय प्राप्त हो जाने पर, श्वास अर्थात् बाहिर की वायु का आचमन (धीरे २ भीतर खींचना), और प्रश्वास अर्थात् भीतर की वायु का निःसारण (धीरे २ पूर्ण रीति से बाहिर निकालना), दोनों की गति का विच्छेद अर्थात् श्वास प्रश्वास इन दोनों के अभाव रूपी प्राणायाम (का आरंभ होता है)।

वाचस्पति मिश्र उक्त भाष्य पर टीका में गतिविच्छेद की व्याख्या करते हुये, प्रकट करते हैं, कि, "जब पूरक में बाहिर की वायु का आचमन करके इस को भीतर स्थिर किया जाता है, तो उस समय श्वासप्रश्वास की गति का विच्छेद होता है, और रेचक में भीतर की वायु का रेचन (धीरे २ बाहिर निकालना) करके वायु को बाहिर स्थिर किया जाता है, तो उस समय श्वासप्रश्वास की गति का विच्छेद होता है, ऐसा ही कुम्भक की अवस्था में भी।"

उपरोक्त भाष्य तथा टीका से स्पष्ट होता है, कि इस सूत्र का अर्थ यह नहीं, कि श्वास प्रश्वास की क्रिया को रोक लेने का नाम प्राणायाम है, जैसा कि लोग प्रायः समझते हैं, और श्वास प्रश्वास की गति को रोक कर कुम्भक करने में लगे रहते हैं, जिस से अन्त में कई प्रकार के रोगों में ग्रस्त होकर व्यर्थ योग पर दोष आरोपण करते हैं, इस के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये महर्षि पतञ्जलि दूसरे सूत्र में लिखते हैं।

"बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः
परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः" ॥२-५०॥

अर्थ—"यह प्राणायाम बाह्य, आभ्यन्तर तथा स्तम्भ वृत्ति की अवस्था में काल व संख्या से परिमित होने से, दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है।"

महर्षि व्यास के कथनानुसार जब प्रश्वास के पश्चात् गति का अभाव होता है, तो इसे बाह्यवृत्ति कहा जाता है, श्वास के अनन्तर गति का अभाव आभ्यान्तरवृत्ति कहलाता है, और तीसरा जिस में एक बार प्रयत्न करने से दोनों का अभाव हो जाता है, उसे स्तम्भवृत्ति कहते हैं, अर्थात् एक श्वासप्रश्वास के पश्चात् बाह्य अथवा अन्तर कुम्भक होता है, किन्तु महाराज भोजदेव इन तीनों का अर्थ रेचक, पूरक व कुम्भक करते हैं।

इन तीनों में से प्रत्येक क्रिया देश, काल तथा संख्या से परिमित है।

१. देश से परिमित होने का अर्थ यह है, कि रेचक के समय वायु का प्रवाह नासिका के बाहिर कितनी दूरि पर्यन्त प्रतीत होता है, और पूरक की अवस्था में शरीर के भीतर भिन्न २ अङ्गों पर कितना गहरा दबाव पड़ता है, तथैव कुम्भक की अवस्था में शरीर के अङ्ग कहां तक प्रभावित होते हैं ।

२. काल से परिमित होने का यह तात्पर्य है, कि पूरक, रेचक तथा कुम्भक क्रिया को करने में पृथक् २ कितना २ समय लगाना उचित है, महर्षि पतञ्जलि स्वयं इन के लिये कोई समय निश्चित नहीं करते, महर्षि व्यास अपने भाष्य में कोई विशेष समय नियत न करते हुये केवल इतना कथन करते हैं, कि "काल-परिमिति का अर्थ यह है, कि "प्रत्येक क्रिया में कितने २ क्षण लगने चाहियें", और श्रीयुत वाचस्पति मिश्र अपनी टीका में 'क्षण' शब्द की व्याख्या करते हुये लिखते हैं, "नेत्र-स्पन्दन में जितना समय लगता है, उस से चौथे भाग को 'क्षण' कहते हैं," किन्तु यह तीनों ही इस विषय में मौनधारी हैं, कि पूरकादि करते हुये प्रत्येक क्रिया में कितना २ समय नियत होना चाहिये, परन्तु अर्वाचीन योगाचार्य इन के लिये मात्रा के रूप में विशेष समय नियत करते हैं, हाथ से जानु को तीन बार स्पर्श करके चुटकी बजाने में जितना समय लगता है, वह एक मात्रा के बराबर है, एक कथन के अनुसार पूरक, रेचक तथा कुम्भक में क्रमपूर्वक १६ मात्रा, ३२ मात्रा और ६४ मात्रा समय अर्पण होना चाहिये,

दूसरे विचार के अनुसार इन में १६ मात्रा, ३२ मात्रा, और ३२ मात्रा समय लगना उचित है, तीसरी शैली के अनुकूल प्रत्येक के लिये १२ अथवा १६ मात्रा समय निश्चित करना आवश्यक है, और उनकी सम्मति में यह प्रत्येक निकृष्ट प्राणायाम कहलाता है, उपरोक्त मात्रा संख्या को दोगुणा करने से मध्यम और तीनगुणा करने से उत्तम कहा जाता है, निकृष्ट प्राणायाम में पसीना आता है, मध्यम में शरीर कांपने लगता है, और उत्तम में प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच जाता है, और योगी उत्तम स्थान को प्राप्त करता है; स्वामी कुवलयानन्द जी भी समय नियत करने के पक्ष में हैं, और आरम्भकर्ता के लिये पूरक, कुम्भक तथा रेचक क्रमपूर्वक १:२:२ के अनुसार कुम्भक की मात्रा-संख्या नियत करके प्राणायाम करने की आज्ञा देते हैं।

मेरे अनुभव के अनुसार किसी प्रकार की मात्रा-संख्या को नियत करना हानिकारक सिद्ध होगा, और प्रत्येक प्राणायाम का अभ्यास करने वाला आरम्भ में ही यह ज्ञात करेगा, कि इस प्रकार पूरक तथा अन्तर-कुम्भक करने की अपेक्षा रेचक तथा बाह्य-कुम्भक करने में उस को अधिक कठिनाई प्रतीत होती है, और दो चार प्राणायाम करने के पश्चात उसको पूरक में भी नियत मात्रा-संख्या को स्थिर रखना बहुत कठिन हो जायेगा, कुम्भक के विना केवल पूरक तथा रेचक की मात्रा-संख्या को नियत करके अभ्यास करने में भी पहिले पहिल कुछ कठिनाई प्रतीत होगी, इस लिये मेरी सम्मति में तो विना मात्रा-संख्या निश्चित किये पहिले केवल पूरक तथा रेचक को धीरे २

सुगमता-पूर्वक करते हुये, इस में सिद्धि हो जाने पर, दोनों प्रकार के कुम्भक को सम्मिलत करके, स्वाभाविक रीति से, विना किसी प्रकार का कष्ट प्रतीत करने के, जितना धीरे २ हो सके, इस पुस्तक के २९२ पृष्ठ पर दिये हुए क्रमानुसार प्राणायाम करने की चेष्टा करने से ही उत्तम लाभ हो सकता है, जो लोग प्राण को ब्रह्म-रन्ध्र में ले जाने की इच्छा से कुम्भक के समय को अधिक से अधिक बढ़ाते हैं, वही लोग हृदय तथा फुफुस पर अत्यन्त दबाव डालते हुए, भिन्न २ प्रकार के रोगों में ग्रस्त होते हैं।

३. संख्या से परिमित होने का अर्थ यह है, कि श्वास प्रश्वास को पूरक, रेचक और कुम्भक द्वारा कितनी बार किया जाए, महर्षि व्यास श्वासप्रश्वास की संख्या निश्चित न करते हुये कथन करते हैं, कि यह संख्या परिमिति तीन प्रकार की होने से, पहिली अवस्था में मृदु (कोमल), दूसरी में मध्यम और तीसरी में तीव्र (तीक्ष्ण) होती है, और वह इन तीनों अवस्थाओं को पृथक् २ प्रथम-उद्घात, दूसरा-उद्घात, और तीसरा-उद्घात का नाम देते हैं, श्रीयुत वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह तीनों उद्घात पृथक् २ क्रमपूर्वक ३६ मात्रा, ७२ मात्रा और १८० मात्रा से परिमित हैं, मात्रा का समय वह स्वस्थ मनुष्य की एक श्वास-प्रश्वास-क्रिया के समय के बराबर कथन करते हैं, उपरोक्त मात्रा-संख्या में दूसरों का मत भेद भी है, किंतु इस से प्रतीत होता है, कि मात्रा-संख्या का तात्पर्य यह है कि प्राणायाम को कितनी बार किया जाये, और यदि एक श्वासप्रश्वास का समय एक मात्रा

के बराबर हो, तो यदि हम ने १६ बार श्वासप्रश्वास-क्रिया की, तो इस की संख्या १६ मात्रा के बराबर हुई, जिस से यह ज्ञात हुआ, कि हम कुम्भक सहित प्राणायाम करते हुए, इस की संख्या की गणना प्रत्येक श्वास प्रश्वास व कुंभक को ध्यान में रखकर करें, और यदि एक मात्रा एक प्राणायाम के बराबर समझी जाये, तो फिर पूरकादि के लिये मात्रा-संख्या नियत करना एक भूल है।

जब प्राणायाम का धीरे २ दिन प्रति दिन अभ्यास करते हुये, स्वाभाविक रीति से स्वयमेव उपरोक्त देश का प्रभाव तथा काल की सीमा, वृद्धि को प्राप्त होते हैं, तो यह दीर्घप्राणायाम कहलाता है, और जब इसका प्रभाव शरीर तथा आत्मा पर अत्यन्त गहरे से गहरा प्रतीत होने लगता है, तो इसे सूक्ष्म-प्राणायाम कहा जाता है।

उपरोक्त तीन (पूरक, रेचक और कुम्भक) प्रकार के प्राणायाम का वर्णन करते हुये, महर्षि पतञ्जलि कथन करते हैं, कि:—

"बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः" ॥२-५१॥

अर्थ—"चौथी प्रकार का प्राणायाम बाह्य-विषय तथा आभ्यन्तर-विषय पर आक्षेप करता है।" अर्थात् चौथे प्राणायाम में बाह्यकुम्भक तथा आभ्यन्तर-कुम्भक, दोनों का परित्याग कर दिया जाता है, इस प्राणायाम और तीसरी प्रकार के प्राणायाम में भेद यह है कि इस में कुम्भक कई श्वास प्रश्वास के पश्चात् किया जाता है, और साधक की चेष्टा के बिना ही अपने

आप कुम्भक होने लगता है, जिस का प्रभाव दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है, किन्तु तीसरे में एक ही श्वासप्रश्वास के पीछे यत्न से कुम्भक करना पड़ता है, और इस को दीर्घ तथा सूक्ष्म अवस्था में ले जाने के लिये निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है ।

प्राणायाम का लाभ

प्राणायाम करने के लाभ को महर्षि पतञ्जलि इस प्रकार कथन करते हैं:—

"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" ॥ २-५२॥

अर्थ—'इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने से प्रकाश का आवरण (परदा, दूर हो जाता है ।'

अर्थात् विवेक और ज्ञान रुपी प्रकाश को रोकनेवाला अविद्या रूपी आवरण क्षीण हो जाता है, और मनुष्य मे स्वतः ऐसे शुभ कर्म करने की इच्छा उत्पन्न होने लगती है, जिनसे बुद्धि का विकाश होने लगता है ।

इस के साथ ही दूसरे सूत्र में कथन करते हैं:-

"धारणासु च योग्यता मनसः" ॥२-५३॥

अर्थ—प्राणायाम के अभ्यास से मन एकाग्र होने के योग्य होता है, अर्थात् मन की चञ्चलता दूर होकर, वह शान्त तथा स्थिर होने से, साधक की इच्छानुसार इष्ट विषय में तन्मय होने के योग्य हो जाता है ।

हठयोगप्रदीपिका इत्यादि पुस्तकों में वर्णन किया गया है, कि प्राणायाम से मनुष्य सब प्रकार के रोगों से मुक्त होकर,

मृत्यु को भी वशीभूत कर सकता है, और उस में दिव्य-ज्योति तथा दिव्य-शक्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है।

नौ प्रकार का प्राणायाम

हठयोगप्रदीपिका तथा योगसोपान और घेरण्ड-संहिता इत्यादि योग की पुस्तकों में आठ प्रकार का कुम्भक और कपालभाति, यह नौ प्रकार का प्राणायाम कथन किया गया है, कुम्भक के भेद निम्न-लिखित श्लोक से प्रकट होते हैं:—

"सूर्यभेदनमुज्जायी सीतकारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः॥"

॥ हठ. प्र, २–४४॥

अर्थ—१. सूर्यभेदन, २. उज्जायी, ३. सीतकारी,४. शीतली, ५. भस्त्रिका ६. भ्रामरी, ७. मूर्च्छा, और ८. प्लाविनी, यह आठ प्रकार के कुम्भक-प्राणायाम हैं।

घेरण्ड-संहिता में उपरोक्त सीतकारी और प्लाविनी के स्थान में सहित-कुम्भक और केवली प्राणायाम दिये गये हैं।

पिंगल, इडा तथा सुषुम्ना नाडियाँ

पातञ्जल सूत्रों तथा उन पर व्यास के भाष्य, वाचस्पति मिश्र की टीका, और भोजदेव की वृत्ति में उक्त नाडियों का वर्णन नहीं मिलता, तन्त्र-शास्त्रों तथा हठयोगप्रदीपिका इत्यादि योग की पुस्तकों में इन को परमावश्यक स्थान दिया गया है, किन्तु शारीरिक-रचना की दृष्टि से इन के सम्बन्ध में बहुत कुछ मतभेद है, श्रीयुत त्रिलोकी-नाथ-वर्मा-कृत "हमारे शरीर

की रचना" नामक पुस्तक में पृष्ठ-वंश के भीतर रहने वाली चेतना-नाडी को सुषुम्ना (Spinal cord), इस के दोनों ओर रहने वाले नाडी-गण्डों (Sympathetic nerves) को पिङ्गला और पाचक-विभाग से सम्बन्ध रखने वाली पिंगला-नाडियों (Splanchnic nerves) को इडा का नाम दिया है, डाक्टर रेले अपनी "Mysterious kundalani" नामक पुस्तक में सुषुम्ना के दायीं और बाईं ओर के पिङ्गला-नाडी-गण्डों को पिङ्गला तथा इडा का नाम देते हैं, श्री स्वामी विवेकानन्द जी के विचार में सुषुम्ना-नाडी के केन्द्र-त्यागी-सूत्र (Afferent nerve fibers) और केन्द्र-गामी-सूत्र (Efferent nerve-fibers) से सम्बन्ध रखने वाली सांवेदनिक (sensory) और चालक (Motory) नाडियां ही योग की इडा तथा पिंगला नाडियां हैं, श्री स्वामी कुवलयानन्द जी की सम्मति कुछ डा० रेले के साथ मिलती है, किन्तु वह इस विचार को सिद्धान्त-रूप में प्रकट नहीं करते, इसी प्रकार और कई विद्वानों ने भी इस पर अपने २ विचार प्रकट किये हैं।

किन्तु योग की पुस्तकों में प्राणायाम के विषय में इन का प्रयोग श्वास-मार्ग को प्रकट करता है, नासिका की दायीं ओर का श्वास-मार्ग पिंगला-नाडी और बायीं ओर का इडा-नाडी कहलाता है, पिंगला को सूर्य-नाडी, और इडा को चन्द्र-नाडी भी कहते हैं, पिङ्गला की ओर से श्वास लेने से रक्त के द्वारा शरीर पर सूर्य के समान प्रभाव पड़ता है, जिस से मनुष्य के शरीर

में तेज का अंश बढ़ जाता है, और इडा की ओर से श्वास लेने से चन्द्र की किरणों के तुल्य मनुष्य शरीर पर शीतल प्रभाव पड़ता है, पिंगला शरीर में उत्तेजना, और इडा शान्ति पैदा करती है, यदि किसी मनुष्य का श्वास-प्रश्वास दीर्घ काल तक केवल पिंगला की ओर से ही निरन्तर चलता रहे, तो वह शरीर में अत्यन्त ताप प्रतीत करने लगेगा, इसी प्रकार इडा की ओर से चलने लगे, तो उस को ठंडक का भास होने लगेगा, और मनुष्य के स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिये बारी २ दोनों ओर से श्वास-प्रश्वास का चलना आवश्यक है, अन्यथा मनुष्य में कई प्रकार के रोग पैदा होने का भय है, इसी कारण स्वस्थ मनुष्य के श्वास प्रश्वास का मार्ग प्रकृति के नियमानुसार स्वतः ही दो तीन घण्टे के पीछे बदलता रहता है, किन्तु बदलने के समय कुछ क्षण के लिये एक ओर से श्वास भीतर जाता है, तो दूसरी ओर से बाहिर निकलता है, इस अवस्था में श्वास प्रश्वास का मार्ग सुषुम्ना का मार्ग कहाता है, अर्थात् इडा तथा पिङ्गला का सन्धि स्थान सुषुम्ना है, इसके द्वारा श्वास प्रश्वास चलने के समय शीत तथा ताप की समानता होती है।

उपरोक्त कथन की कोई परीक्षा करना चाहे, तो वह अपनी नासिका के बायें रन्ध्र को वस्त्र इत्यादि से किसी प्रकार पूर्ण रीति से बन्द करके, तीन चार मास पर्यन्त निरन्तर केवल दायीं ओर से ही श्वास प्रश्वास को चलने दे, तो वह प्रतीत करेगा, कि उसके भीतर अग्नि सी प्रज्वलित होकर दाह उत्पन्न कर रही है।

मेरे एक मित्र के मस्तिष्क में बड़ी घबराहट सी रहती है, उनको किसी साधारण बात पर भी अत्यन्त क्रोध आ जाता है, दिन रात प्रायः गरमी की उत्तेजना प्रतीत होती रहती है, शरीर पर यदि तैल का मर्दन (मालिश) करें, तो शीघ्र ही त्वचा पर धूलि उड़ती हुई प्रतीत होने लगती है, उनका श्वास-प्रश्वास प्रायः पिङ्गल-नाड़ी के द्वारा ही आना जाता रहता है।

लाहौर में एक पुरुष के शरीर में सदा अग्नि सी प्रज्वलित रहती थी, जो आहार वह सेवन करते, चाहे वह पकाया हुआ भी न हो, तत्क्षण भस्मीभूत हो जाता था, और सदैव उनको क्षुधा लगी ही रहती थी, मस्तिष्क में अत्यन्त घबराहट और मन में अशान्ति थी, उनका श्वास प्रश्वास सदैव निरन्तर दायें नासा-रन्ध्र से प्रवाहित होता था, दायें रन्ध्र को बन्द करके बायीं ओर से श्वास चलाने से उनको कुछ शान्ति प्रतीत होती थी,किसी डाक्टर या वैद्य को इनके रोग का निदान ज्ञात नहीं हो सका, अन्त में इसी रोग के कारण उनकी मृत्यु हो गई।

यदि श्वास प्रश्वास इडा-नाडी से चल रहा हो, तो कुछ समय बायें पक्ष पर लेटकर,बायें फुफुस पर कुछ दबाव डालने से यह पिङ्गला नाड़ी से चलने लगेगा, इसी प्रकार दायें पक्ष पर लेटने से पिङ्गला से बदल कर इडा के द्वारा चलने लगेगा, पांचवें धनुरासन की पूर्ण तान की अवस्था में बाई ओर झुकने से पिङ्गला, और दायीं ओर झुकाओ डालने से इडा की ओर का श्वास-मार्ग खुल जाता है, और दूसरा बन्द रहता है, भोजन करने के पीछे यदि स्वस्थ मनुष्य बायें पक्ष पर लेट जाए, तो

पिङ्गला-नाडी के प्रभाव से उसका भोजन पूर्ण रीति से शीघ्र पचेगा.और रात्रि को शयन करने के समय दायें पक्ष पर लेटने से इडा-नाडी के प्रभाव से चित्त शान्त होने के कारण गहरी निद्रा आयेगी, इन नाडियों का प्रभाव कई प्रकार से मनुष्य के शरीर पर पड़ता है,इनके द्वारा भिन्न २ प्रकार के प्राणायाम से स्वास्थ्य को सुरक्षित करते हुये कई प्रकार के रोगों से निवृत्त होने,तथा दिव्य-शक्ति और अध्यात्मिक-विकाश को उपलब्ध करने में सफलता प्राप्त हो सकती है।

इन नाडियों के विषय में जो मैंने लिखा है, वह केवल कपोल कल्पना ही नहीं, प्रत्युत अनुभव-सिद्ध है, जिनकी ओर वर्तमान वैज्ञानिकों तथा डाक्टरों की दृष्टि नहीं गई यथा इडा, पिङ्गला तथा सुषुम्ना द्वारा नियत समय पर बदल २ कर श्वास प्रश्वास के चलने का क्या हेतु है, और इसका शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है और यह क्यों पड़ता है ?

योग सम्बन्धि तन्त्र-ग्रन्थों में जो विशेष करके आत्मिक-उन्नति तथा दिव्य-शक्ति की वृद्धि के साधनों का प्रतिपादन करते हैं, इन नाडियों को पृष्ठ-वंश की मोहरों सहित नली, तथा इसकी दोनों, दायीं व बायीं, ओर रहने वाले नाडी-गण्डों को सुषुम्ना, पिङ्गला तथा इडा का नाम दिया है, इनका कुछ संक्षिप्त वर्णन आगामी पृष्ठों में करने का यत्न करूंगा।

प्राणवायु और प्राणायाम

शुद्ध जल, वायु तथा आहार के रूप में जो पदार्थ हम सेवन करते हैं.उनमें जो ओज-पूर्ण तथा अमृतमय सार तत्त्व विद्यमान है, वह प्राण है, सब से अधिक प्राण उस वायु में है,जो श्वास

द्वारा हम भीतर सेवन करते हैं, किन्तु सूर्य की किरणों से मिली हुई शुद्ध व खुली वायु को सेवन करने में जो प्राणशक्ति व्यापक है, वह दूसरी में नहीं सो केवल श्वास द्वारा भीतर जाने वाली वायु का नाम प्राण-वायु नहीं, यदि वह सूर्य के तेज से शून्य है, जितना अधिक सूर्य की किरणों को वायु में प्रवेश करने का अवसर मिलता है, उतना ही इसमें प्राण-शक्ति का सञ्चार अधिक होता है, इस प्रकार की वायु ही वास्तव में प्राण, वायु कही जा सकती है, और भिन्न २ प्रकार के कुम्भक के अभ्यास द्वारा दिन प्रति दिन इस प्राण में वृद्धि करने के अभ्यास का नाम प्राणायाम है।

प्राणायाम शब्द प्राण और आयाम से मिलकर बना है, आयाम शब्द का अर्थ यहां विराम (Pause) अथवा आना जाना नहीं, अमरकोश में यह शब्द निम्न अर्थों में आया है–

"दैर्घ्य (दीर्घता), आरोह (उन्नति), परिणाह (फैलाओ), विशालता"।

इनसे प्रकट होता है, कि इसके अर्थ उन्नति तथा वृद्धि करने और बढ़ाने के हैं, सो प्राणायाम का अर्थ प्राण-शक्ति की वृद्धि तथा उन्नति है।

प्राणायाम करने का समय तथा स्थान इत्यादि

प्राणायाम के लिये सबसे उत्तम समय प्रातः काल उदर शोधन तथा स्नान के पश्चात, निराहार, पूर्वोक्त आसनों का अभ्यास आरम्भ करने से पहिले का है, ऋतु के अनुसार शीतल छाया अथवा धूप में खुली तथा शुद्ध वायु-युक्त स्थान में नग्न-शरीर कछैरा धारण करके, कुशा के आसन अथवा चटाई पर वस्त्र का मोटा तथा कोमल और गुदगुदा आसन बिछा कर,

विशेष प्रकार के आसन (स्वस्तक इत्यादि) में बैठ जाओ, और विधि पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास आरंभ करो,बैठने का आसन इतना लम्बा चौड़ा हो, जिस पर पालथी लगाकर सुगमता पूर्वक बैठा जा सके, और सूर्य उदय के समय अथवा उषाकाल में पूर्व-दिशा की ओर मुख करके आसन में स्थित हो जाओ, ताकि उदय होने वाले सूर्य की ओज-पूर्ण प्राण-शक्ति को पूर्ण रीति से ग्रहण कर सको।

प्राणायाम विधि

१. स्वस्तक-आसन व कुम्भक प्राणायाम

आसन विधि—भूमि पर बैठ कर बायीं टांग की एड़ी को भीतर मोड़ कर, गुदा के अग्र-भाग के नीचे इस प्रकार टिकाओ कि पैर का तलवा जांघ के नीचे तिरछा दबा रहे, और अंगुलियां बाहिर की ओर निकली हों, और दायें पैर की एड़ी बायीं जांघ के ऊपर इस के मूल में टिका दो, दोनों हाथों की तलियों से दोनों जाहनुओं को नीचे दबाते हुए भूमि के साथ लगा कर, शरीर के पूर्व भाग को धीरे २ सीधा तन कर कुम्भक करो। (देखो चित्र, स्वस्तक-आसन व कुम्भक प्राणायाम)

कुम्भक-विधि—इस पुस्तक के २५२ से २६४ पृष्ठ तक दी हुई प्राणायाम की विधि के अनुसार पूरक, रेचक तथा कुम्भक का अभ्यास नित्य १० मिनट पर्यन्त करें, जब इस में किसी प्रकार का लेशमात्र भी कष्ट प्रतीत न करते हुए पूर्ण सुगमता से करने के योग्य हो जायें, तो निम्न-लिखित विधि से नित्य कुम्भक प्राणायाम आरंभ करें:-

पूरक के पश्चात् दायें हाथ के अंगूठे से दायां नासापुट (Nasal cavity), और दायें हाथ की अनामिका (Ring-finger) तथा कनिष्ठा (Little- finger)से बायां नासापुट दबाकर दोनों रन्ध्रों को बन्द करके, और तर्जनी (Index-finger) तथा मध्यमा (Middle-finger) को नासा-सेतु पर टिका दो, विना किसी प्रकार के लेशमात्र कष्ट प्रतीत करने के यथाशक्ति अन्तर-कुम्भक करके, दोनों नासापुटों को ढीला करके रेचक करने के पश्चात् वाह्य-कुम्भक की अवस्था में उक्त रीति से दोनों नासापुटों को दबाओ, और फिर इनको ढीला करके पूरक करने के पीछे यथापूर्व कुम्भक करो,इसी प्रकार बार२ अभ्यास करते हुए इसको नित्य १० मिनट तक करो, जब इस में सिद्धि प्राप्त हो जाये, अर्थात् इसके करने में लेश-मात्र भी चेष्टा प्रतीत न हो, तो निम्न विधि से सहित-कुम्भक करना आरंभ करो:—

सहित-कुम्भक की विधि—पूर्वोक्त प्रकार से स्वस्तिक आसन में स्थित होकर रेचक करने के पश्चात् उक्त विधि से दायें नासारन्ध्र (Nasal cavity) को दबाकर, बायें नासारन्ध्र से पूरक करके, दोनों नासा-पुटों को बन्द करके यथाशक्ति अन्तर-कुम्भक करो, तत्पश्चात् बायें नासापुट को बन्द रखते हुए, दायें से रेचक करके, दोनों नासारन्ध्रों को दबाकर यथा-शक्ति वाह्य-कुम्भक करो,फिर उसी प्रकार दायें से पूरक करके, अन्तरकुम्भक करने के पीछे, बायें से रेचक करके वाह्यकुम्भक करो, इस प्रकार बदल २ कर पूरक तथा रेचक करते हुए, १०

मिनट तक इस प्राणायाम का नित्य अभ्यास करो, प्रति दिन प्राणायाम करने के पश्चात् नासा-पुटों को दबाने के बिना दो तीन मिनट तक कुम्भक प्राणायाम करो, इसका प्रभाव शवासन के तुल्य होगा।

लाभ—जितना गहरे से गहरा धीरे२ रेचक होगा, उतना ही फुफुसों के धीरे २ वायु शून्य होने के कारण, इन में हृदय के रक्त का प्रवेश धीरे २होगा, और वाह्यकुम्भक की अवस्था में रक्त को यथासंभव पूर्ण मात्रा में फुफुसीय रक्तके शिकाओं में प्रवेश करने का पूरा २ अवसर प्राप्त हो सकेगा, वैसे ही पूरक करते समय प्राणवायु धीरे २ वायु-कोष्ठों में आवश्यकता के अनुसार पूर्ण रीति में प्रविष्ट होगी, और अन्तर कुम्भक करने से कर्बनद्विओषित तथा ओषजन को जहां अदला बदली के लिये पूर्ण अवसर मिलेगा, वहां गैसों के मेल से सूक्ष्म दाह होने के कारण उड़नशील विषात्मिक पदार्थों तथा कर्बन-द्वियोषित भी सूक्ष्म-मात्रा में दग्ध हो जायेंगे, जिसका परिणाम यह होगा कि कण-रञ्जित रक्त प्राण-वायु तथा ओज से परिपूर्ण होकर हृदय में वापस जायेगा, रेचक द्वारा बाहिर निकलने वाली वायु में कर्बनद्विओषित साधारण अवस्था की अपेक्षा कम मात्रा में होगी, और वेग से श्वास प्रश्वास चलने की दशा से और भी कम होगी. इस के अतिरिक्त अन्तरकुम्भक के प्रभाव से रेचक के समय रक्त के हृदय में कुछ वेग से प्रवेश करने के कारण धमनियों की दीवारें धुलकर शुद्ध हो जायेंगी, रक्त शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग में यथावश्यकता पहुंच सकेगा, और शिराओं का रक्त रेचक तथा वाह्य-कुम्भक की अवस्था में,

यथासंभव विषात्मिक पदार्थों को लेकर, हृदय में प्रवेश करेगा, जिस से शिराओं में विषयुक्त पदार्थ को एकत्र होने का अवसर नहीं मिलेगा, धमनियों तथा शिराओं की लचक स्थिर रहेगी, नष्ट हुई २ धीरे २ पुनः प्राप्त की जा सकेगी, और शरीर की आत्मीकरण तथा वाहिष्करण शक्ति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करेगी, चेतना नाडियां ओज-सम्पन्न होंगी और इस प्राणा-याम के नित्य अभ्यास से दिन रात मनुष्य का श्वास निरन्तर स्वतः ही साधारण अवस्था से गहरा चलेगा, इडा तथा पिङ्गला द्वारा बदल २ कर श्वासप्रश्वास के चलने से तेज तथा शान्ति की मात्रा समान अवस्था में स्थिर रहने से, मन की एकाग्रता की शक्ति, स्वयमेव विना यत्न करने के प्रादुर्भूत होने लगेगी,प्रणाली विहीन ग्रन्थियों के प्रभावित होने से काम-वृत्ति का संयम और ब्रह्मचर्य की स्थिति होगी।

सूचना—यदि एक हाथ थक जाये तो दूसरे हाथ से नासा-रन्ध्रों को बन्द कर लिया जाये, और ख़ाली हाथ जाह्नु पर टिका रहे, यह तथा दूसरी प्रकार के प्राणायाम करते समय नेत्र तथा दान्तों सहित मुख बन्द रखे जायें।

२. उत्तान-स्वस्तिक-आसन

व

कुम्भक प्राणायाम

आसन-विधि—बाईं टांग को भीतर मोड़ कर, इसकी जांघ और पीडरी को बराबर ऊपर नीचे जमाकर, बायीं एड़ी को बाहिर की ओर निकाल कर, बायें पैर को गुदा के वार पार तिरछा इस प्रकार भूमि पर टिकाओ, कि पैर के तलवे बाहिर की ओर, और पैर की छत भीतर की ओर रहे, तब इसी प्रकार बायीं टांग तथा एड़ी को रखते हुए, बायें पैर के तलवे को दायें पैर की छत पर जमा दो, दोनों हाथों की तालियों को दोनों जाह्नुओं पर टिकाते हुए तथा हाथों की अंगुलियों को मिलाकर जाह्नुओं पर दृढ़ जमा दो, पृष्ठ-वंश तथा शरीर के पूर्व-भाग को यथासंभव धीरे २ ऊपर तनते हुए, और जाह्नुओं को नीचे की ओर झुकाते हुए, यथासंभव भूमि पर जमाकर, दोनों बाहुओं को पूर्ण तन दो, फिर दोनों जाह्नुओं को दोनों ओर बाहिर पूरा २ तनकर ग्रीवा तथा सिर को धीरे २ पीछे की ओर तन दो। (देखो चित्र, उत्तान-स्वस्तिक-आसन व कुम्भक प्राणायाम)।

प्राणायाम-विधि—उपरोक्त आसन में पृष्ठ-वंश को तनना आरंभ करने से पहिले रेचक करो, और पृष्ठ-वंश को तनते हुए साथही धीरे २ पूरक करते जाओ, जहां तक पूरक की अवस्था

में पृष्ठ-वंश को तन सको, वहीं तान की अवस्था में ठहर कर यथाक्रम अन्तर-कुम्भक, रेचक, तथा बाह्य-कुम्भक करके, पूरक करते हुए फिर आगे पृष्ठवंश को तनना आरंभ करो, इसी प्रकार दो तीन बार करते हुए जब अन्तिम अवस्था में पहुंच जाओ, तो अन्तर-कुम्भक करने के पीछे उसी प्रकार प्राणायाम करते हुये अत्यन्त धीरे २ शरीर को ढीला करके आरंभक दशा में आजाओ, इसी प्रकार तीन बार करो, धीरे२ अभ्यास करने से साधक एक ही पूरक में पूर्ण तान की अवस्था में स्थित होने के योग्य हो जायेगा, किन्तु इस अवस्था को लाने के लिये हठ से कदापि काम न लिया जाये।

सूचना—इस प्राणायाम का अभ्यास इससे पूर्व बताये हुये सहित-कुम्भक में पूर्ण सफलता हो जाने पर आरंभ किया जाये, और फिर दोनों को नित्य-प्रति किया जाये, इसकी समाप्ति पर दो तीन मिनट यथापूर्व, नासापुट बन्द करने के बिना, साधारण कुम्भक-प्राणायाम करो।

लाभ—इस में सहित कुम्भक के पूर्व कहे हुये सब लाभ होने के अतिरिक्त पृष्ठ-वंशीय योगिक-नाडी-केन्द्रों (चक्रों) पर अत्यन्त उपयोगी प्रभाव पड़ने से धीरे २ मनुष्य की अध्यात्मिक शक्ति का विकाश होने लगता है।

सिंह-आसन

(उड्डियान सहित)

विधि—बायीं टांग को भीतर मोड़कर, बायें पैर की गांठ को अण्डकोष अथवा योनि के नीचे सीवन के बायीं ओर टिका दो, इसी प्रकार दायें पैर की गांठ को बायीं टांग के नीचे की ओर लेजाकर सीवन की बायीं ओर टिका दो, इस अवस्था में दोनों चूतड़ दोनों एड़ियों के ऊपर जम जायेंगे, और पैरों की अंगुलियां बाहिर की ओर निकली होंगी, तब दोनों हाथों की अंगुलियों को फैलाकर, दोनों तलियों को दोनों जाह्नुओं पर जमाकर, दोनों घुटनों को भूमि पर लगा दो, भुजाओं को पूर्ण रीति से तनकर, जिह्वा को यथाशक्ति मुख से बाहिर निकाल कर ठोड़ी से लगा दो, और ठोड़ी को छाती पर जमा दो, फिर धीरे २ पूरक करने के पश्चात् अन्तर-कुम्भक की अवस्था में उड्डियान के समान उदर को भीतर खींचो, तब पेट को ढीला करके धीरे २ रेचक करने के पश्चात् उड्डियान-बंध में स्थित होकर यथाशक्ति बाह्य-कुम्भक करके, उदर को ढीला कर दो, इसी प्रकार तीन बार प्राणायाम करके यथापूर्व दो तीन मिनट तक साधारण कुम्भक-प्राणायाम करो । (देखो चित्र, सिंह-आसन, उड्डियान सहित)

लाभ—इस का साधारण प्रभाव शरीर के पूर्व-भाग में स्थित सब अङ्गों पर होता है, और विशेष प्रभाव, चुल्लिका तथा उपचुल्लिका ग्रन्थियों, शुक्र-ग्रन्थियों व डिम्ब-ग्रन्थियों और पृष्ठ-वंशीय नाडी-केन्द्रों तथा नाडी-गण्डों पर होता है

सिंह-आसन

(उड्डियान सहित)



Sinha-pose.
with
Uddiyana Bandha.

जिह्वा को इधर उधर घुमाने से आन्तों को गति देकर उदर-शोधन-क्रिया में सहायता मिलती है, इससे गुदा तथा वस्ति-गह्वर में मल विसर्जन की चेष्टा होने लगती है, नौली तथा उड्डियान-बंध भी यदि इसी प्रकार जिह्वा वाहिर निकाल कर किये जायें तो उनसे अधिक लाभ होता है।

इस प्रकार इस आसन का अभ्यास करते रहने से साधक की योगिक शक्तियां भी धीरे २ जागृत होने लगती हैं।

सूचना—उत्तान स्वस्तिक-आसन व कुंभक प्राणायाम में सफलता प्राप्त हो जाने पर इसका आरंभ करना उचित है।

स्वस्तिक-आसन

व

भस्त्रा-प्राणायाम

विधिः—पूर्वोक्त प्रकार से स्वस्तिक-आसन में स्थित होकर उक्त प्रकार से दोनों हाथों को जानुओं पर रखते हुये, विना कुम्भक के रेचक तथा पूरक को पहिले धीरे२ करना आरंभ करो, और शनैः २ उन दोनों की गति को समान रूप से तेज़ करते हुये, अन्त में लोहकार की धौंकनी (bellows of ironsmith) के तुल्य वेग से रेचक तथा पूरक इतनी बार करो जितना कि सुगमता से कर सको, और अन्तिम रेचक गहरे से गहरा करके, वाह्य कुम्भक करो, फिर यथासंभव गहरे से गहरा पूरक करने के पश्चात् अन्तर कुम्भक करो, तत्पश्चात् दोनों नासापुटों को खुला रखते हुये इतनी बार साधारण कुम्भक-

प्राणायाम करो, कि श्वास प्रश्वास की गति सामान्य रूप में आजाये, कुछ दिन नित्य इसी प्रकार अभ्यास करो।

इस के सिद्ध हो जाने पर दायें हाथ के अंगूठे से दायां नासापुट बन्द करके, उपरोक्त प्रकार से बायें, नासा पुट द्वारा उसी प्रकार धीरे २ गति को तेज़ करके, वेग से रेचक तथा पूरक करते हुये अन्त में बायें नासा-रन्ध्र से यथापूर्व गहरे रेचक तथा पूरक के साथ बाह्य तथा अन्तर कुम्भक करके, साधारण कुम्भक-प्राणायाम करो (देखो चित्र, स्वस्तिक आसन व भस्त्रा प्राणायाम)

उपरोक्त साधारण कुम्भक-प्राणायाम का अन्तिम पूरक बायें नासापुट से करने के पश्चात् बायें हाथ के अंगूठे से बायां नासा-रन्ध्र दबाकर दायें नासा-रन्ध्र से रेचक करके, उसी प्रकार इस के द्वारा क्रमशः भस्त्रा-प्राणायाम तथा साधारण कुम्भक-प्राणायाम करो, ।

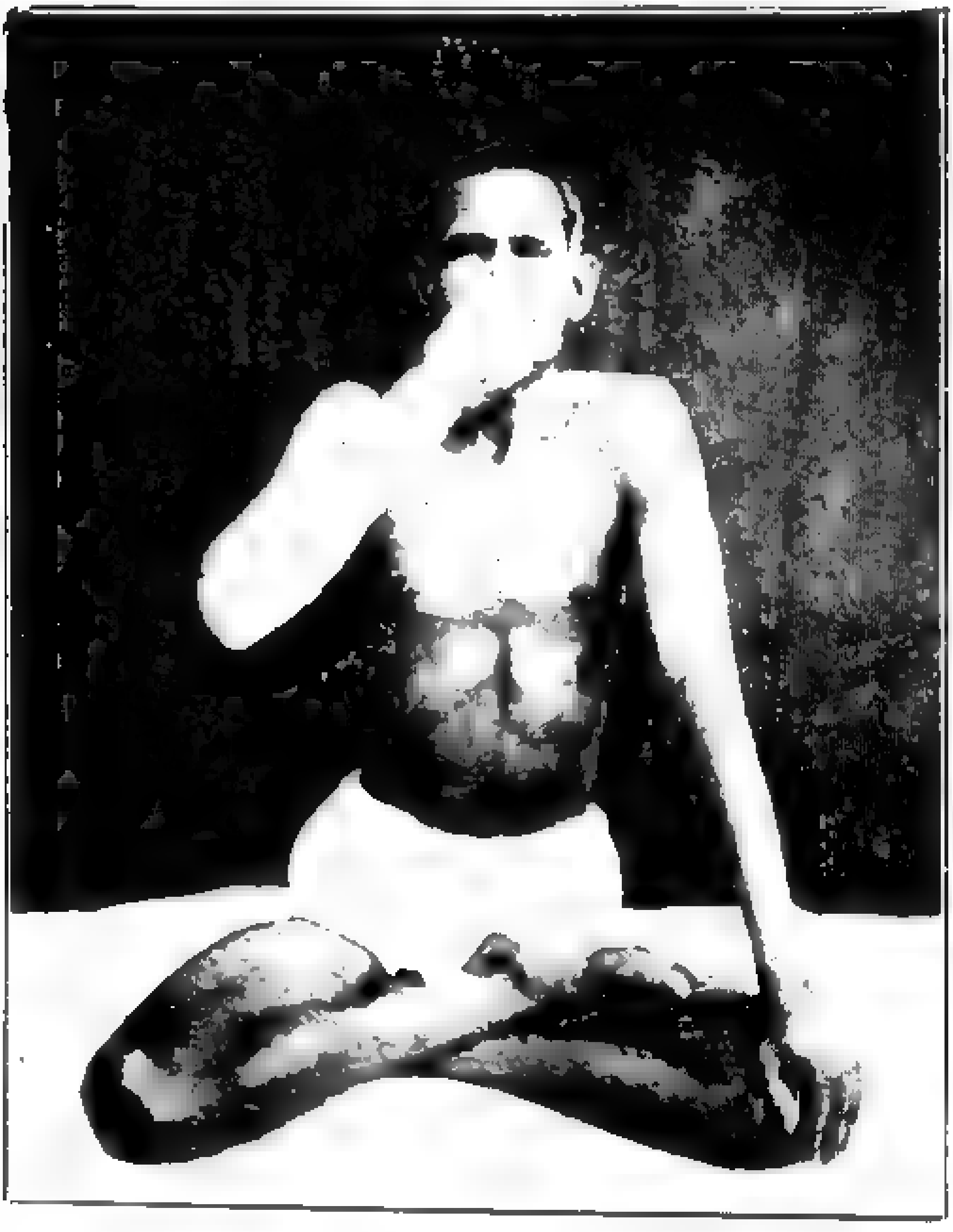
फिर उक्त रीति से दोनों नासापुटों के द्वारा भस्त्रा-प्राणायाम तथा साधारण कुम्भक-प्राणायाम करो, इस विधि से दायें, बायें तथा दोनों नासापुटों से बारी २ अभ्यास करते हुए नित्य-प्रति तीनों प्रकार से भस्त्रा-प्राणायाम करो।

सूचना—भस्त्रा-प्राणायाम में एकदम रेचक तथा पूरक को वेग से चलाने तथा रोक लेने, और इन की संख्या निश्चित करने से, फुफुस तथा हृदय पर एकदम दबाव के न्यून अधिक हो जाने से परिणाम हानिकारक होगा, इस लिये किसी प्रकार का संख्या-परिमाण नियत न करके धीरे २ श्वास प्रश्वास के वेग को बढ़ाते हुये, जितनी बार तथा जितना तेज़ से तेज़

स्वस्तिक-आसन

व

भस्त्रा प्राणायाम



Svastika-Pose

and

Bhastra-Pranayama.

सुगमता-पूर्वक रेचक तथा पूरक कर सकें, उतना ही करें, अन्त में एकदम गहरा रेचक करके बाह्य-कुम्भक, और गहरे पूरक के पश्चात् अन्तर-कुम्भक करें।

भस्त्रा-प्राणायाम की उपरोक्त विधि को मैंने निरन्तर अभ्यास द्वारा अत्यन्त उपयोगी अनुभव किया है, योग की पुस्तकों में इस का विधान भिन्न २ प्रकार से मिलता है, जैसा कि हठयोगप्रदीपिका इत्यादि के पाठ से ज्ञात होता है।

नाम—चूंकि इस प्राणायाम में लोहकार की धौंकनी (भस्त्रा) के समान श्वास प्रश्वास को वेग से चलाया जाता है, इसलिये इस को भस्त्रा-कुम्भक का नाम दिया गया है।

लाभ—इस प्राणायाम में फुफुस की कर्बनद्विओषित का बहिष्करण इतनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है, कि फुफुस प्राय: इस से शून्य हो जाते हैं, जिस से भस्त्रा के अन्त में गहरा रेचक करने के पश्चात् स्वत: ही बाह्य-कुम्भक की मात्रा दीर्घ हो जाती है, श्वास बाहिर अधिक देर तक स्थिर रहता और इस के अनन्तर तीन चार पूरक, रेचक, तथा कुम्भक अत्यन्त गहरे होते हैं, इस लिये इस प्राणायाम में मानो फुफुस पूर्ण रीति से धुलकर विष-शून्य हो जाते हैं, हृद्य तथा फुफुस की पेशियों को पूर्ण रीति से गति करने का अवसर मिलता है, जिस से इन का बल तथा शक्ति वृद्धि को प्राप्त होते हैं, इन से सम्बन्ध रखने वाली चेतनता-नाड़ियों में ओज का सञ्चार होता है, उदर-देशीय पेशियों तथा नाडियों पर भी इस का गहरा प्रभाव पड़ता है, आंतों तथा बड़े-नल का मर्दन और रक्त के अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने के

कारण केशिकाओं सहित धमनियों तथा शिराओं का प्रक्षालन हो जाता है, प्रायः शरीर के सभी तन्तु तथा सेलों में से सूक्ष्म से सूक्ष्म विषात्मिक पदार्थ का वहिष्करण होने लगता है, इस लिये इस प्राणायाम के पश्चात् शवसन करना अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

स्वस्तिक-आसन

व

शीतली प्राणायाम

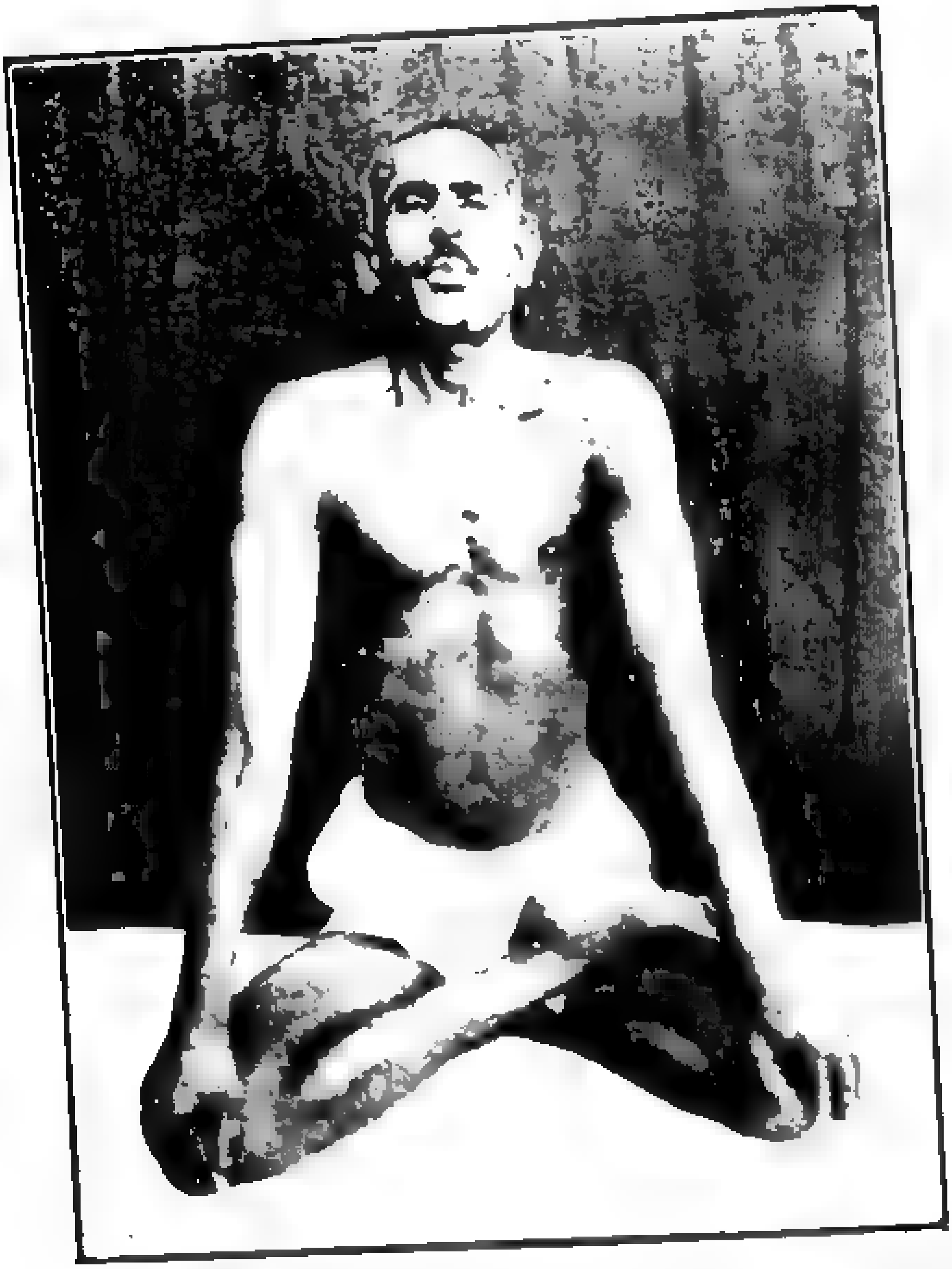
विधि—पूर्वोक्त प्रकार से स्वास्तिक आसन में स्थित होकर दोनों हाथों की तलियों से जानुओं को दवाते हुये, भुजाओं तथा शरीर के पूर्व भाग को पूर्ण तनकर, रेचक के पश्चात् ओष्ठों (होठों) को सङ्कुचित करके, इन के मध्य में जिह्वा को दोनों ओर से मोड़ कर रखते हुये, पक्षी की चञ्चु के समान आकार बनायें, इस अवस्था में मुख से सीटी वजाने के लगभग ओष्ठों तथा जिह्वा की आकृति प्रतीत होगी, और ओष्ठों के मध्य में अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र सा दृष्टि गोचर होगा। (देखो चित्र, स्वास्तिक आसन व शीतली प्राणायाम)

तत्पश्चात् मुख के सूक्ष्म छिद्र के द्वारा अत्यन्त धीरे २ वायु को भीतर सेवन करके, कुम्भक करने के पश्चात्, उसी प्रकार छिद्र द्वारा अत्यन्त धीरे २ रेचक करते हुये यथाशक्ति वायु का वहिष्करण करके, वाह्य कुम्भक करें, इस प्रकार तीन वार शीतली-कुम्भक करके दो तीन मिनट साधारण कुम्भक प्राणायाम करें।

स्वस्तिक-आसन

व

शीतली प्राणायाम



Svastika-Pose

and

Shitli Pranayama.

सूचना—आरम्भ में यदि धीरे २ पूरक तथा रेचक करने में कठिनाई प्रतीत हो, तो शीघ्रता पूर्वक धीरे २ करते हुये, अभ्यास द्वारा दिन प्रतिदिन धीरे से धीरे करने का यत्न करें, और प्रत्येक शीतली-प्राणायाम के साथ साधारण-कुम्भक करें, ताकि श्वास-प्रश्वास-क्रम अधिकार से बाहिर न होने पाये, इस पर पूरा २ अधिकार हो जाने पर, उपरोक्त प्रकार से नित्य-प्रति इस का अभ्यास किया जाये, इस का आरम्भ भस्त्रा प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर करना उचित है।

योगसोपान इत्यादि के अनुसार रेचक नासिका द्वारा होना चाहिये, किन्तु मैंने पूरक तथा रेचक दोनों को मुख द्वारा करने से इस की अधिक उपयोगिता अनुभव की है।

नाम—इस प्राणायाम का प्रभाव मनुष्य शरीर पर चन्द्र की किरणों के समान शीतल होने से इस को शीतली नाम दिया गया है।

लाभ—इस प्राणायाम में पूरक के समय भोजन-प्रणाली के मार्ग के अत्यन्त सूक्ष्म रूप में खुल जाने से प्राण वायु का सूक्ष्म भाग आमाशय में प्रवेश करके, आन्तों तथा बड़े नल सहित आमाशय का शोधन करता है, इस प्राणायाम के द्वारा मानों योगी वायु को भक्षण करता है, और गुदा द्वारा इस का बहिष्करण करता है, यही कारण है, कि इस से गुदा द्वारा उदर की गैस बाहिर निकलने लगती है, और मल विसर्जन की इच्छा होती है, इस के ठीक २ प्रयोग से आन्तों का क्षय-रोग निवृत्त होता है, उदर प्रदेशीय योगिक-नाड़ी-केन्द्र की शक्ति का विकास होने लगता है।

डाक्टरों की सम्मति में ओषजन के अमाशय में प्रवेश करने से हानि होती है, और इस का आमाशय में प्रवेश करना भी असम्भव प्रतीत होता है, किन्तु इस प्राणायाम से मैंने उदर पर ऐसा प्रभाव प्रतीत किया है, कि मानों गैस भीतर भर गई है, और इस के करते ही नित्य उदरीय-वायु का बहिष्कार, तथा मल विसर्जन की इच्छा होने लगती है, जिस के पीछे शरीर हलका प्रतीत होता है, ओज तथा शक्ति का भास, तथा आनन्द का अनुभव होता है।

आवश्यक सूचना—पूर्वोक्त सहित-कुम्भकादि प्राणायाम, इस पुस्तक में दिये हुये धनुरादि आसनों को भी साथ २ करने से ही पूर्ण उपयोगी सिद्ध होंगे, और इनका सूक्ष्म प्रभाव प्रायः एक वर्ष पर्यन्त निरन्तर उक्त विधि से करने से प्रतीत होने लगेगा, प्राणायाम करते हुये वक्षस्थल तथा उदर की पेशियों की स्वाभाविक गति के अतिरिक्त, किसी प्रकार से इन का संकोच तथा प्रसार करने की चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं, जिनका ध्येय अधिकतर शारीरिक व्यायाम है, वह इन प्राणायामों के बिना केवल उन आसनों का अभ्यास करें, यदि कभी मजबूरी से दो चार दिन के लिये बीच में आसन तथा प्राणायाम को स्थगित करना पड़े, तो इससे कोई विशेष हानि नहीं होगी, भिन्न २ प्रकार के प्राणायाम, सिद्ध-आसन व पद्म-आसन के समान दूसरे आसनों में भी स्थित होकर किये जा सकते हैं, किन्तु मैंने उक्त स्वास्तिक-आसन को सब से सुगम तथा उपयोगी प्रतीत किया है, जैसे भिन्न २ प्रकार के

प्राणायाम के लिये स्थिर-आसन (Sitting Posture) में बैठ कर ही अभ्यास करने से पूर्ण लाभ हो सकता है, वैसेही भिन्न २ प्रकार के गतियुक्त-आसनों (Moving Postures) के साथ केवल कुम्भक-प्राणायाम ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

कुछ दूसरे प्रकार के प्राणायामों की विधि भी संक्षिप्त रूप में नीचे उद्धृत करता हूं, जिन की प्राणायाम में विशेष रुचि हो, तथा जो अवकाश प्राप्त कर सकें, वह शीतली-प्राणायाम से पूर्व निम्न-लिखित में से कोई एक प्राणायाम नित्य के अभ्यास में सम्मि-लित कर सकते हैं।

सूर्यभेदन-प्राणायाम

विधि—यथोक्त स्वस्तिक आसन में बैठ कर रेचक करने के पश्चात् बायें नासारन्ध्र को बन्द करके पिङ्गला से धीरे २ पूरक करके, यथाशक्ति अन्तर-कुम्भक करने के पश्चात् इडा द्वारा उसी प्रकार रेचक करके, बाह्य-कुम्भक करो, इसी प्रकार तीन बार अभ्यास करो, तत्पश्चात् दो मिनट साधारण कुम्भक करो।

नाम—इस प्राणायाम में पिङ्गला का प्रभाव अधिक होने के कारण इसको सूर्यभेदन कहा जाता है।

लाभ—इस से जठर-अग्नि की वृद्धि, और शरीर में सूर्य के समान तेज पैदा होता है, पृष्ठवंशीय योगिक-नाडी शक्ति का विकाश होता है।

उज्जायी-प्राणायाम

विधि—यथापूर्व स्वस्तिक-आसन में स्थित होकर दोनों नासापुटों से धीरे २ पूरक व यथाशक्ति अन्तर-कुम्भक करने के

पश्चात्, इडा द्वारा धीरे २ रेचक करो, फिर बिना वाह्य-कुम्भक करने के उसी प्रकार पूरक करो, इस प्राणायाम को तीन बार किया जाये।

हठप्रदीपिका में पूरक करते हुये कण्ठ से वायु को स्पर्श करके, कुछ धीमा सा शब्द करते हुये,वायु को भीतर लेजाने का विधान है, और घेरण्ड-संहिता में अन्तर-कुम्भक के समय जालन्धर-बन्ध करना लिखा है।

लाभ—योग की पुस्तकों में वर्णन है, कि इस से कफ-दोष, क्रूरवायु, अजीर्ण, आमवात, क्षय, कास, ज्वर, प्लीहा, जलोदर, धातुओं के दोष, दूर होते हैं, व नाडी-शक्ति बढ़ती है।

नाम—इसके द्वारा वृद्धावस्था तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के कारण इसका नाम उज्जायी (विजय प्राप्त कराने वाली) रखा गया है।

कपालभाति

विधि—शीतली-प्राणायाम के समान स्वस्तिक आसन में स्थित होकर दोनों नासापुटों को खुले रखते हुए, लोहकार की भस्त्रा के समान अत्यन्त शीघ्रता से रेचक तथा पूरक प्राणायाम को बिना कुम्भक के यथाशक्ति बार २ करते हुए, अन्त में भस्त्रा प्राणायाम के समान दो तीन गहरे रेचक व पूरक (कुम्भक सहित) करके,दो तीन मिनट साधारण कुम्भक प्राणायाम करें।

कपालभाति का भस्त्रा से यह भेद है, कि इस में किसी भी नासापुट को बन्द न करते हुए, एक ही बार श्वास प्रश्वास को तेज कर दिया जाता है, अन्यथा दोनों एक समान हैं।

घेरण्ड-संहिता में इसकी विधि में भेद करते हुए बताया गया है, कि धीरे २ बायें नासा-रन्ध्र से पूरक व दायें से रेचक करके, फिर दायें से पूरक व बायें से रेचक करो, इस प्रकार बिना कुम्भक के यथाशक्ति बार २ करो, इस को वाम-क्रम-कपालभाति का नाम दिया गया है, इस विधि के अनुसार यह क्रिया कुम्भक के बिना सहित-कुम्भक प्राणायाम से मिलती है।

उक्त पुस्तक में दो प्रकार की और कपालभाति-क्रिया दी गई है, एक में दोनों नासा-रन्ध्रों द्वारा जल खींच कर धीरे २ मुख द्वारा निकाला जाता है, जिसे व्युत-क्रम-कपालभाति कहते हैं, दूसरी में मुख द्वारा जल पान करके, इसे नासपुटों द्वारा निकालने का विधान है, और यह शीत-क्रम-कपालभाति कहलाती है।

मेरी सम्मति में प्राणायाम करते समय इस को भस्त्रा के तुल्य करना ही अत्यन्त उपयोगी होगा।

नाम—कपाल का अर्थ सिर की खोपरी, और भाति का अर्थ 'प्रकाशित होना' है, चूंकि इस में भस्त्रा के समान अत्यन्त शीघ्र रेचक पूरक करने से, मनुष्य के मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव पड़ता है, इस कारण इस के लिये कपालभाति का नाम उचित प्रतीत होता है।

लाभ—इस में भस्त्रा-प्राणायाम के समान प्रभाव पड़ने के अतिरिक्त मस्तिष्क के नाड़ी-सूत्र, व नाडी-सेलें अधिक प्रभावित होती हैं।

सूचना—इस प्राणायाम को भस्त्रा-प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर आरम्भ करना उचित है, दोनों का एक साथ अभ्यास न करते हुए, इन को बारी २ प्रति दिन करना लाभदायक होगा।

योग की पुस्तकों में इन को षट्-क्रियाओं में सम्मलित किया गया है।

षण्मुखी-मुद्रा

विधि—पूर्वोक्त प्रकार से स्वस्तिक-आसन में स्थित हो कर पूरक, के पश्चात् कुम्भक करते ही दोनों कर्ण-रन्ध्रों (Cavities of the ears) को दोनों अंगूठों से, दोनों नेत्रों को दोनों तर्जनियों से, दोनों नासापुटों को दोनों मध्यमाओं से, और मुख को दोनों अनामिकाओं से बन्द कर के, अनामिकाओं के नीचे कनिष्ठिकाओं को रख कर, विना लेशमात्र कष्ट प्रतीत करते हुए, यथाशक्ति अन्तर-कुम्भक करके नासारन्ध्रों को ढीला करके, शेष अङ्गों को उसी प्रकार बन्द रखते हुए, धीरे २ रेचक करने के पीछे वाह्य-कुम्भक करते ही नासारन्ध्रों को भी यथापूर्व बन्द कर दें, और सुगमता पूर्वक यथाशक्ति वाह्य-कुम्भक करें, इसी प्रकार तीन कुम्भक-प्राणायाम करें।

नाम—षण्मुखी के अर्थ छै मुख वाली हैं, चूंकि इस मुद्रा में कर्ण, नेत्र तथा नासिका के छै मुख अर्थात् रन्ध्र, जो प्रायः सदैव खुले रहते हैं, इन को बन्द कर दिया जाता है, और मुख तो प्रायः बन्द ही रहता है, इस लिये इस को षण्मुखी-मुद्रा का नाम दिया गया है।

लाभ—इस के अभ्यास के समय विचित्र ध्वनि सुनाई देने लगती है, और सूर्य के समान मण्डलाकार में कई प्रकार के भिन्न २ वर्ण दृष्टि-गोचर होते हैं, इस ध्वनि तथा वर्णों (रङ्गों) में कई प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं. जिस को योग की परिभाषा में नाद-श्रवण व तेजोदर्शन कहते हैं, जिन का भास साधक को अभ्यास करते हुए भिन्न २ प्रकार से होने लगेगा, इस मुद्रा का प्रभाव मनुष्य की मस्तिष्क की दिव्य-शक्ति तथा दिव्य-दृष्टि का विकाश करने पर विशेष रूप से पड़ता है।

योगिक-तन्त्र शास्त्र
व
अध्यात्मिक विकाश

तन्त्र-शास्त्र के अनुसार प्राण शक्ति ही आत्मिक-शक्ति है, जो सहस्त्रों की संख्या में चारों ओर फैली हुई योग-नाडियों द्वारा शरीर में सञ्चार करती है. इन में से १४ नाडियां मुख्य हैं, और इन १४ में से तीन परम उपयोगी हैं, जिनको इडा, पिंगला और सुषुम्ना कहते हैं, इन तीनों में से सुषुम्ना का महत्व सब से बढ़कर है. इन तीनों को क्रमपूर्वक गङ्गा, यमुना और सरस्वती भी कहते हैं. पृष्ठ-वंश के भीतर अग्निस्वरूप रक्तवर्ण तामसिक सुषुम्ना (Spinal cord) विद्यमान है. इसके भीतर सूर्यस्वरूप तेजोमय राजसिक वज्रा (वज्रणी) नाडी, और इसके भीतर अमृतमय चन्द्रस्वरूप सात्विक चित्रा (चित्रणी) नाडी (Central spinal canal) स्थित है, चित्रा-नाडी का आन्तरिक

विवर (Channel) ब्रह्मनाडी कहलाता है जिस में तरल-पदार्थ (Cerebro-spinal-fluid) विद्यमान है, सुषुम्ना की बायीं ओर इडा ओर दायीं ओर पिङ्गला विराजमान है, जिसे पिङ्गल नाडी-मण्डल (Sympathetic-nervous-system) कहते हैं, इन के प्रभाव से ही श्वास प्रश्वास का परिवर्तन दायें तथा बायें नासारन्ध्र में बारी २ होता रहता है, पिंगल वर्ण इडा का नाम शशी (चन्द्र), और रक्त-वर्ण पिङ्गला का नाम मिहर (सूर्य) भी है, इडा चन्द्र के समान अमृतमय शक्तिस्वरूप होने से नारी-शक्ति का स्रोत (Sourfce ot feminine or negative vital-force), और पिंगला सूर्य के तुल्य तेजोमय होने के कारण रुद्रात्मक-शक्ति की वाहक (Conductor of mas-cnline or positive vital-force) है, पिङ्गला तथा इडा को प्रभावित करने वाली शक्ति सुषुम्ना के भीतर वज्रा तथा चित्रा के रूप में विद्यमान है।

मेरुदण्ड (पृष्ठवंश) के भीतर ६ मुख्य योगिक-चक्र (पद्म) हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म चैतन्य-शक्ति का स्थान हैं।

१. आधार-पद्म (मूलाधार चक्र) सुषुम्ना के मूल अर्थात् जननेन्द्रिय तथा गुदा के मध्य में स्थित है, और चञ्चु-नाडी-जाल (Pudendal plexus) को प्रभावित करता है, यह चक्र पृथिवि तत्त्व का विशेष स्थान है, और इस के चार दल (Petals) हैं, यह पद्म कुण्डली (शक्ति) का आधार-स्थान होने के कारण आधार तथा मूलाधार कहलाता है।

२. स्वाधिष्ठान पद्म (चक्र) जननेन्द्रिय के मूल में विद्यमान् है, और इस का प्रभाव त्रिक-नाडी-जाल (Sacral plexus) पर होता है, इस में अप् (जल) तत्त्व की स्थिति है, और यह ६ दलों से युक्त है, स्व अर्थात् लिङ्ग (जननेन्द्रिय) का आश्रय-स्थान होने के कारण इसे स्वाधिष्ठान कहते हैं।

३. मणिपूर चक्र (नाभि-पद्म) नाभि के मूल में स्थित है, और कटि-नाडी-जाल (Lumber plexus) को प्रभावित करता है, यह अग्नितत्त्व-प्रधान है, इस के दस दल हैं, यह पद्म, अग्नि-तेज के विद्यमान होने के कारण, मणि के समान देदीप्यमान होने से मणि-पूर (पूरक) के नाम से प्रसिद्ध है, इस को नाभि-पद्म भी कहते हैं, इसी के साथ सम्बन्ध रखने, वाला नाभि-कण्ड है, जो कि भानुभवन (Solar plexus) को प्रभावित करता है, और पिङ्गला तथा इडा नाडियों का सङ्गम-स्थान है।

४. हृदय प्रदेश में स्थित अनाहत-पद्म, हृदय-नाडी-जाल (Cardiac plexus) को प्रभावित करता है, इस के बारह दल हैं, यहां वायु-तत्त्व विद्यमान है, इस को अनाहत इस लिये कहा जाता है, कि यहां योगी उस अनाहत-शब्द (ब्रह्म-ध्वनि) को श्रवण करता है, जो हृदय-स्पन्दन को स्थिर रखता है, अर्थात् वह जीवन-शक्ति के स्रोत को अनुभव करता है।

५. कण्ठ-मूल में स्थित, सोलह दलों से युक्त, विशुद्ध-पद्म है, जिस में आकाश-तत्त्व की स्थिति है, यहां सुषुम्ना और

सुषुम्ना-शीर्षक का मेल होता है, यह भुजा-नाडी-जाल (Brachial plexus) को प्रभावित करता है ।

६. आज्ञा-चक्र दोनों नेत्र-भ्रू (Eye-brows) के मध्य में स्थित है, इस के दो दल हैं, और ग्रैवेय-नाडी-जाल (Cervical Plexus) को प्रभावित करता है । इन के अतिरिक्त निम्न-लिखित चार चक्र और भी हैं :—

१. हृदय प्रदेश में स्थित आठ दलों से युक्त हृदय-कमल विद्यमान है ।

२. विशुद्ध-पद्म से कुछ ऊपर तालु प्रदेश में ललना-चक्र स्थित है, इस को कला-चक्र भी कहते हैं, इस में बारह दलों से युक्त कमल-विद्यमान है ।

३. आज्ञा चक्र से कुछ ऊपर बृहद्-मस्तिष्क के पूर्व-भाग में स्थित मनश्चक्र (मनः+चक्र) है, जो ६ दलों से युक्त है ।

४. १६ दलों से युक्त सोम-चक्र बृहद्-मस्तिष्क के मध्य में स्थित है ।

उपरोक्त चारों चक्र सुषुम्ना से बाहिर भिन्न २ स्थानों में विद्यमान हैं, इन में से आज्ञा-चक्र चालक-नाडियों से और मनश्चक्र सांवेदनिक नाडियों से सम्बन्ध रखता है ।

श्वेत पदार्थ तथा धूसर पदार्थ युक्त सुषुम्ना के भीतर वज्रा तथा चित्रा अत्यन्त सूक्ष्म अतीन्द्रिय शक्ति-स्रोत हैं, जो सुषुम्ना को भी प्रभावित करते हैं, योगिक-चक्र न केवल बाह्य नाडी-जालों पर प्रभाव डालते हैं, प्रत्युत यह अध्यात्मिक शक्ति के भी स्रोत हैं, इन के भिन्न २ दलों पर भिन्न २ प्रकार के

अक्षर स्थित किये गए हैं, प्रत्येक चक्र का विशेष देवता है, जिस का अपना वाहन है, इसी प्रकार चक्रों के बीज तथा तत्त्व भी हैं, यह सब भिन्न २ चक्रों की भिन्न २ शक्तियों के द्योतक हैं. यह चक्र अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा, सुषुम्ना के निचले भाग से ऊपर को जाते हुए, सूक्ष्म से सूक्ष्म और अधिक से अधिक शक्ति के स्रोत होते आते हैं।

मूलाधार में सुषुम्ना के निचले सिरे पर योगिक-शक्ति स्थित है, जिस को कुण्डलिनी, कुण्डली अथवा सर्पिणी कहा जाता है, जो कि परम सूक्ष्म नारी-शक्ति का स्रोत है, और सुप्त अर्थात् निश्चेष्ट अवस्था (Passive state) में वहां विद्यमान है, और ब्रह्म-द्वार को रोक कर बैठी है, आज्ञा चक्र के ऊपर कैलाश पर्वत (बृहद्-मस्तिष्क) में सहस्रार-चक्र विद्यमान है. जिस के सहस्र (हज़ार) दल हैं, जो रुद्रात्मिक-शक्ति का सब से बड़ा और अध्यात्मिक शक्ति का अत्यन्त सूक्ष्म स्रोत,तथा परम आनन्द का केन्द्र स्थान है,सब चक्रों की भिन्न शक्तियां समूह रूप में इस में बीस गुणा मात्रा में विद्यमान हैं,इस लिये सब चक्रों के दलों की संख्या जहां ५० हैं, वहां सहस्रार के एक हज़ार दल हैं. योग के द्वारा जब कुण्डली जागृत हो कर मूलाधार से उठ कर ब्रह्मद्वार के भीतर प्रवेश करके, प्रत्येक चक्र में से होती हुई, सहस्रार में प्रवेश करती है, और फिर इसी प्रकार वापस लौटती हुई, अपने असली स्थान पर आ पहुंचती है, तो योगी मोक्ष-अवस्था को

प्राप्त करते हुए आनन्द की पराकाष्ठा का अनुभव करता है।

इडा तथा पिंगला नाडियां, धनुषाकार, सुषुम्ना के दोनों ओर स्थित हैं, एक दायें वृषण (Scrotum) से आरंभ करके सुषुम्ना के पास से होती हुई,हृदय के सन्मुख वक्र-आकार होकर वायें स्कन्ध पर पहुंच कर वायें नासिका-रन्ध्र में पहुंचती है, इसी प्रकार दूसरी बायें वृषण से दायें स्कन्ध पर पहुंच कर दायें नासापुट में प्रवेश करती है, यह दोनों जब भ्रूमध्य-प्रदेश (Place between two eyebrows) में पहुंचती हैं, तो वहां तीनों (इडा, पिङ्गला व सुषुम्ना) का सङ्गम होता है,और उस प्रदेश को त्रिवेणी कहते हैं, यह स्थान सुषुम्ना-शीर्षक का वह अङ्क (Spot) है, जहां पिङ्गला नाडियां मिलती हैं, एक और कथन के अनुसार, इडा तथा पिङ्गला, मूलाधार से आरंभ करके प्रत्येक चक्र के गिर्द दायीं से बायीं और बायीं से दायीं ओर घूमती हुई उक्त स्थान पर पहुंचती हैं।

कुण्डलिनी उन सब अक्षर-रूप शक्तियों से युक्त है, जो चक्रों के दलों में विद्यमान् हैं, चक्रों के ५० दलों के ५० अक्षर, उन की भिन्न २ प्रकार की शक्तियां हैं, और मूलाधार में स्थित कुडलिनी की यह अत्यन्त सूक्ष्म-रूप ५० अक्षर-शक्तियां परा वाणी,शब्द-ब्रह्म,अव्यक्त, या परा-शक्ति कहलाती हैं,वहां वह स्पन्द रहित(Motionless or deviod of vibration) होती हैं, जब आत्मा की इच्छा-शक्ति द्वारा इनमें स्पन्दन क्रिया उत्पन्न होती हुई, नाभि-चक्र को प्रभावित करती है, तो उस समय इसे पश्यन्ती, ईश्वरी-वाणी, अथवा व्यक्त-वाणी कहा

जाता है, इस अवस्था में योगी लोग इसका आत्म-अनुभव द्वारा दर्शन करते हैं, इस लिए इसको पश्यन्ती कहते हैं, फिर जब इस में विशेष स्पन्दन-क्रिया उत्पन्न होने से हृदय-चक्र प्रभावित होता है, तो यह मध्यमा, हारिण्यगर्भ, अथवा व्यक्त-नाद कही जाती है,इस अवस्था में योगी जन योग-अभ्यास द्वारा ज्ञान-युक्त होकर इसको श्रवण करते हैं, और यह पश्यन्ती तथा वैखरी की मध्यम अवस्था होने से मध्यमा कहलाती है,जब इसका प्रादुर्भाव वायु के मुख के भिन्न २ अङ्गों (कण्ठ, तालु, मूर्धन्, दन्त तथा ओष्ठ) के साथ स्पर्श करने से. शब्द रूप में प्रकट होने से, यह दूसरों से श्रवण किये जाने के योग्य होती है, तो इसे वैखरी अथवा विराट् कहते हैं।

मैं ने तन्त्र-शास्त्रों के सार को संक्षिप्त रूप में वर्णन करने का यत्न किया है, इस पुस्तक में विस्तार पूर्वक लिखना असंभव है, यदि कभी समय मिला, तो अनुभव सिद्ध बातों को यथा-शक्ति लेखबद्ध करने की चेष्टा करूंगा, जो लोग इसमें विशेष रुचि रखते हों, वह पत्र-व्यवहार द्वारा अथवा स्वयं मिलकर इसके विषय में विचारों की अदला बदली करके मुझे कृतार्थ कर सकते हैं।

इसको समाप्त करनेसे पहिले इतना कथन करना आवश्यक है, कि इस पुस्तक में दिये हुये भिन्न २ प्रकार के आसन तथा प्राणायाम के नियम-पूर्वक निरन्तर अभ्यास से पहिले शरीर पर स्थूल प्रभाव पड़ते हुये, जहां मनुष्य मानसिक तथा शारीरिक

रोगों से मुक्त होगा, वहां सूक्ष्म प्रभाव द्वारा धीरे २ नाड़ी-मण्डल की उन्नति करते २ उसकी योगिक-शक्तियों का विकाश होने से, उसकी आध्यात्मिक उन्नति विना यत्न करने के अपने आप होने लगेगी।

साधक को चाहिए कि वह आसन तथा प्राणायाम करते समय यह ध्यान रखे, कि किस क्रिया का प्रभाव किस योगिक-चक्र पर पड़ता है, और उसका क्या परिणाम प्रतीत होता है. किन्तु यह स्मरण रहे कि यह अवस्था कुछ वर्ष पर्यन्त निरन्तर आसन तथा प्राणायाम का अभ्यास करते हुये, भासित होने लगेगी, ज्यूं २ शरीर मल तथा विषात्मक पदार्थों से शून्य होता जायगा, त्यूं उक्त अध्यात्मिक विकाश का अनुभव होने लगेगा।

अभ्यास करते समय पृष्ठ-वंश के जिस भाग पर विशेष प्रभाव पड़ेगा, वह योगिक-केन्द्र विशेष प्रकार से उत्तेजित होगा, और शेष पर सामान्य प्रभाव पड़ेगा, जिसका बोध प्राप्त करने के लिये कुण्डलिनी, और भिन्न २ चक्रों तथा सहस्रार पर मन एकाग्र करना और उनकी शक्तियों पर ध्यान देना आवश्यक है।

इसके लिए इनसे प्रभावित होने वाले भिन्न २ नाड़ी-जालों तथा नाडियों द्वारा शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों का ज्ञान, और आत्मानुभव सहायकारी सिद्ध होंगे, जिससे कि चक्रों की स्थूल तथा सूक्ष्म शक्तियों का धीरे २ भास होने लगेगा।

जिन चक्रों का सम्बन्ध, जिन २ नाड़ी-जालों के साथ यहां बताया गया है, वह केवल दिग्दर्शन मात्र है, जिस प्रदेश में

जो चक्र स्थित है, वह उस प्रदेश में स्थित दूसरे नाडी-जालों को भी प्रभावित करता है।

इस विषय को समाप्त करने से पहिले यह कथन करना आवश्यक है, कि मैंने भिन्न २ आसनों तथा प्राणायामों के जो भिन्न २ लाभ वर्णन किये हैं, वह स्थूल-दृष्टि से इनकी उपयोगिता दिखलाने के लिये हैं, जो २ प्रभाव इन के द्वारा मनुष्य-शरीर पर पड़ते हैं,उन सब को लेखबद्ध करना कठिन है, और इन के सूक्ष्म प्रभावों को पूर्णत्या शब्दों में प्रकट करना असंभव है, क्योंकि यह साधक के अपने अनुभव का विषय है, इन की विधि का भी सूक्ष्म रूप में पूर्ण विवेचन मेरी सामर्थ्य से बाहिर है, यथासंभव मैंने विधि को यथोचित प्रकार से समझाने का यत्न किया है, और पाठकगण सावधानता से इस पुस्तक का स्वाध्याय करके इन का यथायोग्य ठीक २ विधि-पूर्वक अभ्यास करके पूर्ण लाभ प्राप्त करने के समर्थ होसकेंगे, किन्तु इन के सम्बन्ध में सूक्ष्म बातों का ज्ञान अनुभवी मनुष्य के निरीक्षण में, अथवा स्वयं, निरन्तर अभ्यास द्वारा, धीरे २ हो सकता है, परन्तु यदि किसी प्रकार की कठिनताई अथवा हानि प्रतीत हो, या किसी प्रकार की शङ्का उत्पन्न हो, तो मैं यथाशक्ति इस में सहायता करने के लिये सर्वदा उद्यत हूं।

अन्त में मैं पाठकों को इस बात से सावधान करना चाहता हूं, कि कांच के टुकड़े चबाने, विष भक्षण करने, धनुर्विद्या के कर्तब दिखाने, तथा हृदय-स्पन्द को स्थगित करने, इत्यादि का नाम योग नहीं, जैसा कि आजकल कई लोग उक्त प्रकार

के कर्तबों को दिखला कर लोगों में, योग के विषय में भ्रान्ति-मूलक विचार पैदा कर रहे हैं।

योग तथा विज्ञान-शास्त्र

(Yoga and Experimental Science)

इस में सन्देह नहीं कि योग पर अनेकों विद्वानों ने पुस्तकें लिख कर जनता को इस का परिचय देने का यत्न किया है, और उन में से कई लेखकों ने महत्व पूर्ण विचार प्रकट किये हैं, किन्तु गत दस वर्षों में इस विषय पर कई ऐसी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिन्हों ने इस को वर्तमान विज्ञान का रूप दे दिया है, उन सब में महत्व पूर्ण और प्रशंसनीय कार्य श्रीयुत स्वामी कुवलयानन्द जी का है, जिनहों ने योगमीमांसा द्वारा योग के सम्बन्ध में अपने वैज्ञानिक अन्वेषण तथा अनुभवों को विद्वानों के सन्मुख उपस्थित करने का साहस किया है, और योग-शास्त्र की प्रतिष्ठा को वैज्ञानिक-मण्डल (Scientific-circle) में स्थापन करने की चेष्टा की है, उनका विचार है कि वह वैज्ञानिक-यन्त्रों (Scientific Instruments) इत्यादि द्वारा अपनी विज्ञान-प्रयोग शाला (Laboratory) में योग के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों का विवेचन करने के योग्य होसकेंगे, किन्तु मैंने जो गत ६ वर्ष के निरन्तर अभ्यास तथा अनुभव से ज्ञात किया है, उस के आधार पर मैं स्वामी जी से पूर्ण रीति से सहमत होने के असमर्थ हूं, अपने भाव को स्पष्ट करने के लिये मैं नीचे संक्षेप से इस विषय में कुछ अनुभव सिद्ध परिणामों को प्रकट करने का यत्न करता हूं।

मैंने आसनों का अभ्यास करते हुए यह अनुभव किया है, कि आसन करते समय शरीर की पेशियों इत्यादि पर स्थूल प्रभाव के अतिरिक्त सूक्ष्म प्रभाव भी पड़ता है, जिस को साधक ही अनुभव कर सकता है, और निरन्तर नित्य अभ्यास करते २ ज्यों २ समय व्यतीत होता जाता है, स्थूल तथा सूक्ष्म प्रभाव में कई प्रकार के परिवर्तन होते हुये, स्थूल प्रभाव सूक्ष्म में, और सूक्ष्म अति-सूक्ष्म में परिवर्तित होता जाता है, जिसे केवल अभ्यासी जन स्वयं ही अनुभव कर सकता है, और यह अनुभव भी मनुष्य को धीरे २ ऐसी अवस्था में ले जाता है, कि वह इस को शब्दों में प्रकट करने के असमर्थ हो जाता है, वर्तमान विज्ञान इस में एक सीमा पर्यन्त तो सहायता कर सकता है, किन्तु उस से आगे वह असमर्थ सिद्ध होता है, ऐक्स रे (x, Ray) के समान वैज्ञानिक यन्त्र केवल शरीर की विशेष स्थिति को किञ्चिन्मात्र भले ही प्रकाशित कर सकें, परन्तु शारीरिक व अध्यात्मिक सूक्ष्म प्रभावों का स्पष्टीकरण उन की शक्ति से बाहिर है, इसलिये मेरी सम्मति में योग-शास्त्र के तत्त्व को समझने के लिये हमें अपने आत्मानुभव का आश्रय ही अन्त में उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

कुछ आत्मानुभव-सिद्ध बातें

योग के विषय में अपने अनुभव का पूर्ण परिचय देने के लिये तो इस पुस्तक में अवकाश नहीं, इसका पूर्ण इतिहास यदि समय मिला तो कभी पृथक लेखबद्ध करने की चेष्टा करूंगा, इस समय संक्षेप से एक दो बातें उपस्थित करने का यत्न करता हूं।

आरम्भ में मेरा आसनों के अभ्यास का ढंग इस पुस्तक में दिए हुए क्रम तथा पद्धति से सर्वथा भिन्न था, मैं इनको शीघ्रता से करते हुए चार २ पांच २ आसनों के पश्चात् प्रायः शवासन करता था, इस प्रकार कुछ मास अभ्यास करने पर विशेष लाभ प्रतीत न करते हुए, इन को धीरे २ करने से मुझे शरीर पर कुछ उपयोगी प्रभाव ज्ञात हुआ, एक वर्ष में मुझ में आसनों को धीरे २ करने की शक्ति दो ढाई गुणा बढ़ गई, किन्तु साथ ही मेरा शरीर जो पहिले आसन करने पर चैतन्य व ओजपूर्ण प्रतीत होता था, अब शिथिल व निस्सत्त्व ज्ञात होने लगा, कटि-प्रदेश में अद्भुत प्रकार की जड़तायुक्त वेदना अनुभव होने लगी, जिस से उठना बैठना भी कठिन हो गया, भुजाओं को इच्छानुसार गति देना असम्भव हो गया, कुछ मास ऐसी ही अवस्था रही, तब मैं प्रत्येक आसन के साथ शवासन करने लगा, पूर्वोत्तान में टांगों को पूर्ण रीति से तन कर कटि को अत्यन्त बाहिर की ओर तनते हुए, इसे करना आरम्भ किया, और भिन्न२ प्रकार के उप-आसनों को भिन्न२ आसनों के साथ सम्मिलित किया, साथ ही तीसरे व चौथे धनुरासन में जहां भुजाओं को एक ही प्रकार से गति देता था, वहां इन को भिन्न २ प्रकार से गति देने लगा, उक्त परिवर्तन ने मेरे शरीर पर ६ मास के भीतर एक विचित्र उपयोगी प्रभाव डाला, मैं पहिले से कहीं अधिक साहस, ओज तथा बल को प्रतीत करने लगा, और वेदना इत्यादि कष्ट स्वयमेव लुप्त हो गये।

इसी प्रकार ६ मास और व्यतीत होने पर, मैं नेत्रों पर, जिन की दृष्टि पहिले ही निर्बल थी, कुछ हानिकारक प्रभाव अनुभव करने लगा, जिस से उनकी दृष्टि और भी निर्बल होने लगी, पढ़ने के समय निद्रा प्रतीत होने से नेत्र बन्द होने लगते, ऊंघ आने लगती, और मास्तिष्क पर अत्यन्त बोझ ज्ञात होता. कुछ मास इस अवस्था का आनन्द लेकर मैं ने **शीर्ष आसन** को आसनों के अन्त में करना आरम्भ किया, इस आसन के पीछे कुछ क्षण पावों पर खड़ा होने के पश्चात् शवासन करने के स्थान पर, तुरन्त ही इसके पीछे शवासन करने लगा, जिस ने एक दो सप्ताह में ही मुझ पर उपयोगी प्रभाव डाला, मेरा मास्तिष्क हलका और चैतन्य, नेत्रों की दृष्टि में शक्ति तथा शरीर में उत्साह प्रतीत होने लगा, और कुछ मास पीछे सिर के श्वेत बाल काले होने लगे, किन्तु १९३२ में फिर धीरे २ उक्त प्रकार के दोष प्रकट होने पर दृष्टि इतनी मन्द होने लगी, कि पुस्तक पढ़ते समय अक्षर भी प्रायः नेत्रों से ओझल होने लगते थे, बाल श्वेत हो रहे थे, पढ़ने लिखने में नेत्रों पर अत्यन्त दबाव डालना पड़ता था, इसी प्रकार कई मास व्यतीत हो गये, अन्त में १९३३, जनवरी में, इस आसन में और परिवर्तन किये, जिन के अनुसार ही मैं ने शीर्ष-आसन की विधि इस पुस्तक में दी है, अब इसी विधि से अभ्यास करते हुए एक वर्ष हो गया है, मेरे मस्तिष्क तथा नेत्रों की शक्ति धीरे २ बढ़ रही है, सिर के प्रायः सब बाल, कानों के समीप के बालों को छोड़ कर, काले हो गये हैं, चार पांच घण्टे

लगातार पढ़ने लिखने पर भी मस्तिष्क तथा नेत्र श्रान्ति प्रतीत नहीं करते, ५० कैण्डल (Candle) के प्रकाश में जहां पढ़ना अत्यन्त कठिन था, वहां अब २५ कैण्डल के प्रकाश में पढ़ सकता हूं, मेरी १९ वर्ष की आयु में मेरे नेत्रों की दृष्टि, एक अङ्गरेज़ी औषध सेवन करने से, मन्द पड़ गई थी, डाक्टरों ने कहा था, कि "यदि तुम ऐनक (Glasses) का प्रयोग नहीं करोगे, तो दृष्टि-हीन हो जाओगे," किन्तु अब मैं प्रतीत करता हूं, कि मेरी दृष्टि पहिले से उन्नत हो गई है, किन्तु अभी तक सामान्य-अवस्था (Normal state) को प्राप्त नहीं हुई, इस में भी सन्देह नहीं, कि योग के अभ्यास द्वारा वीर्य-रक्षा के कारण भी नेत्रों पर अत्युपयोगी प्रभाव पड़ा है।

इस के अतिरिक्त आसनों का अभ्यास आरम्भ करने के दूसरे वर्ष, मैंने प्रत्येक आसन करने के पहिले तथा पीछे अपने हृदय-स्पन्द की परीक्षा कराई, और अब फिर १९३३ के मध्य में फिर उसी प्रकार परीक्षा कराई, इस के विषय में मैं केवल दो आसनों का परिणाम यहां उद्धृत करता हूं, जिन में सब से अधिक परिश्रम करना पड़ता है, पहिली परीक्षा के समय मेरी आयु ४२ वर्ष और सामान्य-हृदय स्पन्द एक मिनट में ७२-७२ थी, पूर्वोत्तान आसन में अधिक से अधिक १२३-१२५ तक पहुंची थी, दूसरी परीक्षा के समय मेरी आयु ४७ वर्ष और सामान्य-हृदय-स्पन्द ६१-६३ थी, उक्त आसन में अधिक से अधिक ७३-७५ तक पहुंची थी, इसी प्रकार मयूर-आसन में पहिली परीक्षा में अधिक से अधिक १३३-१३५ तक पहुंची

और दूसरी परीक्षा में ७६-७७ तक पहुंची, इस परिणाम से ज्ञात हो सकता है, कि जहां मनुष्य की आयु-वृद्धि के साथ उस की हृदय-स्पन्द सामान्य तथा परिश्रम की अवस्था में बढ़नी चाहिए, मेरी कम हुई, जिस से स्पष्ट है, कि मेरे हृदय तथा फुफुसों की शक्ति और शारीरिक ओज वृद्धि को प्राप्त हुए हैं।

इसी प्रकार अस्थियों इत्यादि की लचक कम होने के स्थान में अधिक हुई है. प्रोस्टेट-ग्रन्थि सहित अन्य प्रणाली-विहीन ग्रन्थियां अपना कार्य ठीक २ करती हुई प्रतीत होती हैं।

उक्त आसन करते हुए कई प्रकार के शारीरिक कष्ट अनुभव करने पर भी, जिस प्रकार इन में उपयोगी परिवर्तन करते रहने से मैं सफलता प्राप्त कर रहा हूँ, इसी प्रकार किसी कष्ट के आने से न घबराते हुए ही प्रत्येक जन सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

मर्दन (Massage)

आसनों का पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए प्रायः प्रति सप्ताह एक दिन इनका अभ्यास स्थगित करके शारीरिक मर्दन करने की भी आवश्यकता है, इसकी विधि को पूर्ण रीति से बताने के लिये एक पृथक सचित्र पुस्तक (Illustrated book) लिखना पड़ता है, अथवा इस के लिये स्वयं क्रियात्मक शिक्षा (Practical training) प्राप्त करना उचित है, यद्यपि लेख

द्वारा इसका पूर्ण परिचय देना कठिन है, तो भी मैं यत्न करूंगा कि जो मर्दन विधि मैं ने अपने अनुभव से अत्यन्त लाभदायक अनुभव की है, उसे संक्षेप से यहां वर्णन करूं, मर्दन करने के लिये यह स्मरण रखना चाहिए कि सरसों का कच्ची घाणी का शुद्ध तैल इसके लिए अत्यन्त उपयोगी है, सब से पहिले गुप्त इन्द्रियों सहित एक २ करके टांगों की, फिर भुजाओं की, तत्पश्चात् पीठ, स्कन्धों तथा ग्रीवा की, इनके पीछे उदर के अनन्तर छाती की, और फिर मुख तथा सिर की मालिश करनी चाहिए, इन सब अङ्गों को भी शारीरिक रचना के अनुसार टुकड़े २ करके मर्दन करना चाहिए, हाथ के द्वारा, मालिश करने वाले अङ्ग को, तैल प्रयुक्त करके स्कन्धों तथा तालियों का यथा-संभव गहरे से गहरा दबाव डालते हुए, हाथों को अत्यन्त धीरे धीरे गति दी जाए, शीतकाल में खुली धूप में और ग्रीष्म ऋतु में शीतल छाया में मालिश करने का उत्तम लाभ होगा, टांगों तथा भुजाओं और पीठ की मालिश नीचे से ऊपर की ओर, और सिरकी ऊपर से नीचे की ओर करते हुए,शिरा-रक्त-प्रवाहके अनुसार रक्त को हृदय की ओर गति दी जाए उदर की पहिले आन्तों की मालिश, ऊपर से नीचे की ओर तत्पश्चात्, नभि के इर्द गिर्द नभिग्रन्थियों पर दबाव डालते हुए दायीं से बाईं,और बाईं से दायीं ओर गति देते हुए की जाए, फिर बड़े-नल के अन्त्रपुट प्रदेश से आरंभ करके उर्ध्व-गामी, अनुप्रस्थ,तथा अधोगामी बृहदन्त्र की ओर करनी चाहिए, इसके पीछे वक्षस्थल का मर्दन हृदय से ऊपर की ओर करना लाभदायक होगा, उदर तथा वक्षस्थल

की मालिश करते समय रेचक के पश्चात् वाह्य-कुम्भक की अवस्था में दबाव डालना आरंभ किया जाए, और दबाव उठाकर पूरक. अन्तर-कुम्भक, व रेचक करके, फिर उसी प्रकार वाह्य-कुम्भक की दशा में दबाव डाला जाए, प्रत्येक अङ्ग की मालिश करते हुए भिन्न २ प्रकार से भिन्न २ ओर से दबाव डाला जाना चाहिए, और प्रत्येक प्रकार का दबाव तीन २ चार २ वार डाला जाये, पीठ के विना सब अङ्गों का मर्दन मनुष्य स्वयं भली भांति कर सकता है, किन्तु पीठ के लिये एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता है, यह मालिश का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों के लिये ही उपयोगी है।

इस के द्वारा नाडी-मण्डल को कुछ विश्राम करने का अवसर प्राप्त होता है, रक्त-प्रवाह के वेग से रक्त-वाही-नाडियों का प्रक्षालन हो जाता है, त्वचा पर्यन्त शरीर की सेलों तथा तन्तुओं में रक्त पहुंचता है. शरीर के वालों में दृढ़ता आती है, इन के रोम खुल जाते हैं, आसनों द्वारा अस्थियों इत्यादि पर पड़े हुए अधिक दबाव का कष्ट इत्यादि दूर हो जाता है, उदर के रोगों की निवृत्ति होती है, हृदय तथा फुफुसों में ओज उत्पन्न होता है, पृष्ठ-वंश व मस्तिष्क के योगिक-चक्र व नाडी-जाल शक्तिशाली होते हैं, जिस से मनुष्य हार्दिक आनन्द को अनुभव करता है।

सूचना—मालिश करने के दिन आसनों का अभ्यास स्थगित करना चाहिए, और इस के पीछे दस पन्द्रह मिनट विश्राम करके स्नान करना उचित है।

अशुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	८	Gestri	Gestric.
२७	१९	Biced	Biceps
२८	१	म	में
३१	२	Nervious	Nervous.
३१	१४	Nervious	Nervous
३४	१०	अर्घभाग	अर्धभाग
३५	१८	Sheaats	Sheats.
४८	९	Pepatice	Hepatic
६२	१४	सा	साथ
७६	१८	व्याघ	व्याधि
७७		मफल	सफल
१०६	१६	साहित	सहित
११८	७	अवमर	अवसर
१३९	१५	श्रासनों	आसनों
१५८	१४	आटोगा	आवेगा
१५९	२१	जोष	जोश
१६४	१२	उसन्न	उत्पन्न
१६६	१३	पकार	प्रकार
१७७	४	श्स	इस
१८०	२०	की	ही
३३१	२०	पृष्ठवश	पृष्ठवंश
१९४	८	म	में

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५०	१८	रहते	रहती
२६२	३	लिखा	लिखो
२६८	१६	वरुध	विरुद्ध
३०६	८	वित्र	चित्र
३२२	१७	का	को
३२३	५	योगाचाय	योगाचार्य
,,	८	बहुम	बहुत
३२५	२३	तत्स्य	मत्स्य
३२६	४	ऊयर	ऊपर
३३०	४	रक्खा	रक्खो
३३५	७	राग	रोग
,,	१९	टागें	टांगें
३३७	१६	रीष	शीर्ष
३३८	२१	ावशेष	विशेष
३३९	३	नासान्ध्र	नासारन्ध्र
३?६	१९	वायुकण्ठ	वायु कण्ठ
३५८	१५	याग	योग
,,	२२	म	में
३६७	९	Sourfceat	Source of
	११-१२	Masconline	Masculine
३८४	१	भ्रन्ति	भ्रान्ति
५९	९	कपाट	कपाल
३८९	१६	पूण	पूर्ण

YOGA AS THE SYSTEM OF PHYSICAL CULTURE & HOW TO DEFY DISEASE, OLD AGE AND DEATH.

By Pt. PRAKASH DEV

With 32 illustrations of 7 Yogic postures printed, on Art Paper. English Edition—Price Re. 1. only.

The book has commanded a wide circulation both in India and abroad for the valuable and up-to-date information it affords to a reader on the subject Various comments of different emminent papers are on record and two of them are given below for perusal.

I. Amrit Bazar Patrika, Calcutta, 6th February 1933 :—

A review of this remarkable work is bound to be more or less an act of impertinence on the part of one who is not himself a Yogin. The practice of Yoga, as well all know, develops our moral and spiritua backbone. At the same time it tends to increase the physical and intellectual abilities in man by the exercise of the nerve-power and will-power. The Yoga system thus brings about a harmonions development of the physical and mental capacities. It gives a tone to the muscles, heart, nervous system, brain, mind and spirit. Herein lies the superiority of Yogic practices to other systems of physical exercises, none

of which are without their respective demrits. These latter systems aim to develop either suppleness or massive strength and give no training to the heart or the nervous system. But in the Yogic system there can be no such wastage of energy. This is in main the thesis which Pt. Prakash Dev develops in the first chapter of his work. In the second chapter Pt. Dev has placed before the readers, in a succint fashion, the causes of disease, old age and death and the Yogic processes of combating them. The third chapter deals with eight selected kinds of Yogic postures and photo-plates are given in the end to illustrate the different positions of these Asanas. It is emphatically a book of the moment and is a deliberate challenge thrown out to the strongest athletes of our time. To the author himself, it is something more than mere learned luxury; for he admits that after he had taken to the Yogic practices, he did not feel the least necessity to seek medical help any more.

Pt. Dev in this small book, has dealt with the physical side of Yoga only. The spiritual side he has not touched at all. Nor has he given here staggering accounts of miraculous powers achieved through Yogic practices. His method, so far as he himself claims, serves only to defy disease, old age and death. We think that any reader who goes through this extremely fascinating book, will not find his time spent in vain.

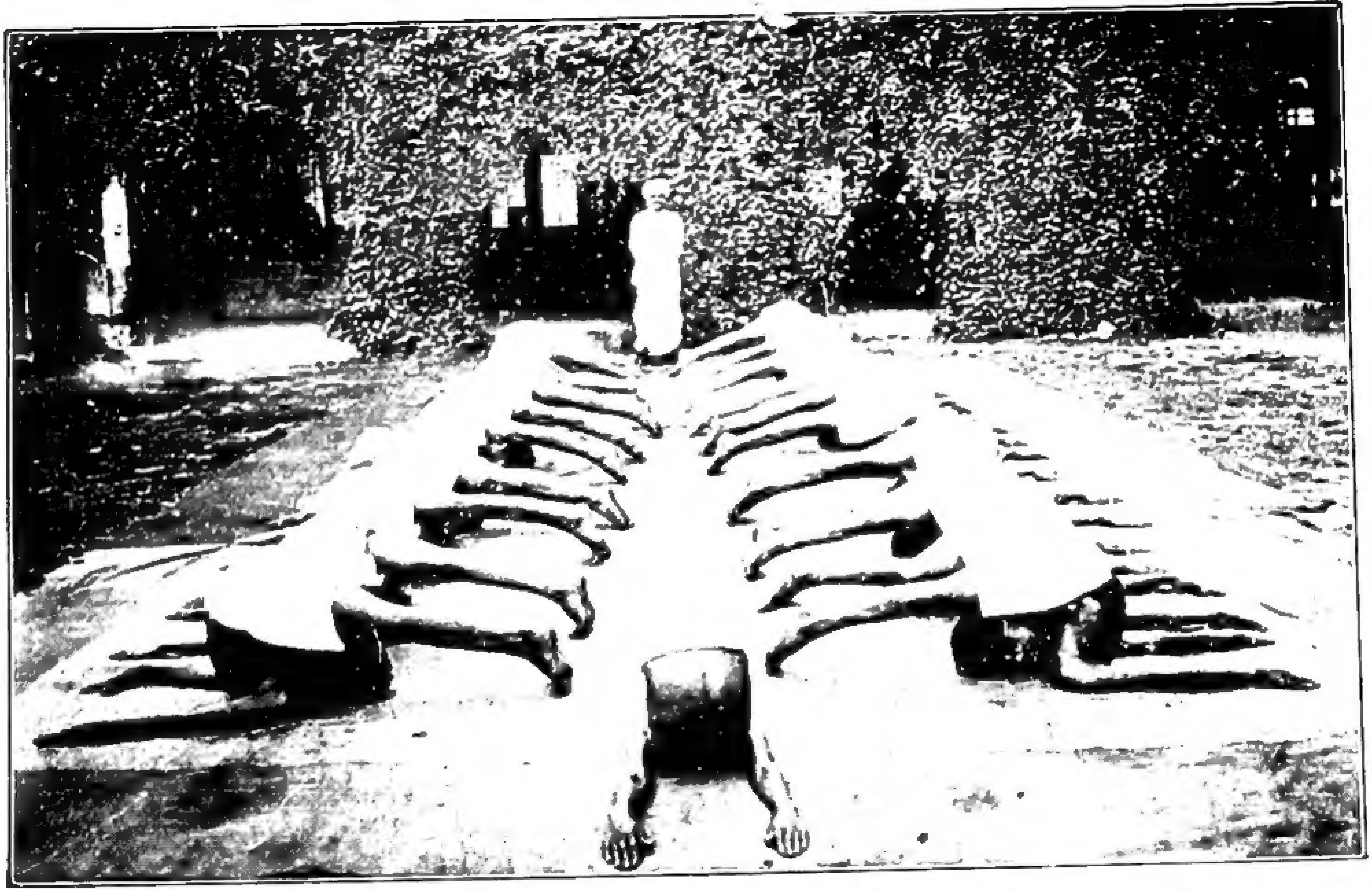
II. The "Drew Gateway," an organ of The Drew University, America, July, 1933 :—

Yoga as a system of Physical Culture, and How to Defy Disease, Old Age and Death.

By Prakash Dev, Lahore. Lahore, Hindu Vidyarthi Sabha, 1932. 73 pages, Rupee one.

This is a straightforward discussion of the relation of exercise to health written from the point of view of *Yoga, Asana* (posture), *Mudra* (locked posture) and *Bandha* (fixed posture). The author, in his school of physical exercises, makes use of but fifteen of the many well known *asanas*. He is interested in the physical side of *yoga* only, and explains that *asanas* with *pranayama* (regulation of the breaths) serve to put off old age and death. The exercises prescribed by *yoga* contribute to health through the elimination of poisons and the proper stimulation of the seminal glands. The preservation of vital energies, through these same means, prevents decay. Various postures are described and are shown in photographs. This little book is of interest in that it shows frankly and clearly just what the *yoga* has to offer on the physical side. The author promises a fuller treatment of his subject shortly.

विद्याप्रकाश प्रेस चङ्गड़मुहल्ला, अनारकली लाहौर में
श्रीमती सुशीला देवी के अधिकार में छपा ।



A Yogic Physical Culture Class with the Director Pt. Prakash Dev in the back ground.